गांधी-साहित्य—३

गीता-माता



श्रीमद्भगवद्गीताका तात्पर्य, हिन्दी-
टीका, मूल संस्कृत पाठ, सरल
और भक्ति प्रधान श्लोकोंका
संग्रह, पदार्थ-कोष तथा
गीता संबंधी लेख



महात्मा गांधी



१९५०
सस्ता साहित्य मण्डल • नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

पहली बार : जनवरी १९५०
मूल्य
चार रुपये

मुद्रक
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद



प्रकाशक—
मार्तण्ड उपाध्याय, मन्त्री
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

आठवीं बार : १९४९
मूल्य
आठ आना

मुद्रक—
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

गीता-बोध

[श्रीमद्भगवद्गीताका तात्पर्य]

अनुवादक

श्री 'आनंदवर्धन'

१९४९

सस्ता साहित्य मंडल

नई दिल्ली

गीता-माता

गीता शास्त्रोका दोहन है। मैंने कही पढा था कि सारे उपनिषदोंका निचोड़ उसके ७०० श्लोकोमे आ जाता है। इसलिए मैंने निश्चय किया कि कुछ न हो सके तो भी गीताका ज्ञान प्राप्त कर लू। आज गीता मेरे लिए केवल बाइबिल नही है, केवल कुरान नही है, मेरे लिए वह माता हो गई है। मुझे जन्म देनेवाली माता तो चली गई, पर सकटके समय गीतामाता के पास जाना मै सीख गया हू। मैंने देखा है कि जो कोई इस माताकी शरण जाता है, उसे ज्ञानामृतसे वह तृप्त करती है।

कुछ लोग कहते है कि गीता तो महा गूढ ग्रथ है। स्व० लोकमान्य तिलकने अनेक ग्रथोका मनन करके पडितकी दृष्टिसे उसका अभ्यास किया और उसके गूढ अर्थोको व प्रकाशमे लाये। उसपर एक महाभाष्यकी रचना भी की। तिलक महाराजके लिए यह गूढ ग्रथ था; पर हमारे जैसे साधारण मनुष्यके लिए वह गूढ नही है। सारी गीताका वाचन आपको कठिन मालूम हो तो आप केवल पहले तीन अध्याय पढ ले। गीताका सब सार इन तीन अध्यायोमे आ जाता है। बाकीके अध्यायोंमें वही बात अधिक विस्तारसे और अनेक दृष्टियोसे सिद्ध की गई है। यह भी किसीको कठिन मालूम हो तो इन तीन अध्यायोमेसे कुछ ऐसे श्लोक छांटे जा सकते है, जिनमे गीताका निचोड़ आ जाता है। तीन जगहोंपर तो गीतामे यह भी आता है कि सब धर्मोको छोड़कर तू केवल मेरी ही शरण ले। इससे अधिक सरल और सादा उपदेश और क्या हो सकता है? जो मनुष्य गीतामेंसे अपने लिए आश्वासन प्राप्त करना चाहे तो उसे उसमेंसे वह पूरा-पूरा मिल जाता है। जो मनुष्य गीताका भक्त होता है, उसके लिए निराशाकी कोई जगह नही है, वह हमेशा आनदमें रहता है।

—मो. क. गांधी

विषय-सूची

गी ता - मा ता

गी ता - बो ध

[श्रीमद्भगवद्गीताका तात्पर्य]

भूमिका

. . .जिस पुस्तकका हम नित्य थोड़ा-थोड़ा करके पारायण और मनन करते है, जिसे अपने लिए हमने आध्यात्मिक दीपस्तभरूप बना रक्खा है, मैने उसे जैसा समझा है, उसपर अपने विचार देनेकी इच्छा है। यह खयाल पहले एक पत्र पाकर हुआ था। लेकिन गत सप्ताह भाई के पत्रने मुझे इसके लिए तैयार कर दिया। वह लिखते है कि वह 'अनासक्तियोग' पढते हैं, लेकिन समझनेमे बहुत कठिनाई पडती है। सबकी समझमें आने योग्य भाषामें अर्थ करनेका प्रयत्न करते हुए भी, शब्दशः अनुवाद देनेमे समझनेकी कठिनाई तो अवश्य रहेगी। विषय ही जहा कठिन हो वहा सरल भाषा क्या कर सकती है? इसलिए अब विषयको ही सरल रीतिसे रखनेका प्रयत्न करना चाहता हू। जिस वस्तुका हम उठते-बैठते उपयोग करना चाहते है, जिसकी सहायतासे अपनी सारी आतरिक उलझने सुलझानेका प्रयत्न करते है, उस ग्रथको जितनी रीतियोसे, जैसे भी समझा जा सके वैसे समझने और बारबार उसका मनन करनेसे अतमे हम तन्मय हो सकते है। मै तो अपनी सारी कठिनाइयोंमे गीता-माताके पास दौडता हू और अबतक आश्वासन पाता आया हू। दूसरोंको भी, जो उसमेंसे आश्वासन पानेके इच्छुक है, शायद, जिस रीतिसे मै उसे रोज-रोज समझता जाता हू, वह रीति जानकर कुछ अधिक मदद मिले। उस रीतिको जानकर उनको कुछ नया प्रकाश पाना भी असंभव नहीं है।

यरवदा जेल —मो० क० गांधी
४-११-'३०

प्रास्ताविक

गीता महाभारतका एक नन्हा-सा विभाग है। महाभारत ऐतिहासिक ग्रंथ माना जाता है, पर हमारे मतसे महाभारत और रामायण ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं हैं, बल्कि धर्मग्रंथ हैं। या उसे ऐतिहासिक ही कहना चाहें तो वह आत्माका इतिहास है और वह हजारो वर्ष पहले क्या हुआ यह नहीं बताता, बल्कि प्रत्येक मनुष्य-देहमें क्या जारी है, इसकी वह एक तस्वीर है। महाभारत और रामायण दोनोंमें देव और असुरके—राम और रावणके बीच नित्य चलनेवाली लड़ाईका वर्णन है। ऐसे वर्णनमें गीता कृष्ण-अर्जुनके बीचका सवाद है। उस सवादका वर्णन अध धृतराष्ट्रसे सजय करता है। गीताके मानी हैं गाई गई। इसमें 'उपनिषद्' अध्याहार है। अत पूरा अर्थ हुआ, गाया गया उपनिषद्। उपनिषद् अर्थात् ज्ञान-बोध। यानी गीताका अर्थ हुआ श्रीकृष्णद्वारा अर्जुनको दिया हुआ बोध। हमें यह समझकर गीता पढ़नी चाहिए कि हमारी देहमें अंतर्यामी श्रीकृष्ण भगवान आज विराजमान हैं और जब जिज्ञासु अर्जुनरूप होकर धर्म-सकटमें अंतर्यामी भगवानसे पूछेगा, उसकी शरण लेगा, तो उस समय वह हमें शरण देनेको तैयार मिलेंगे। हम ही सोये हैं, अंतर्यामी तो सदा जाग्रत है। वह बैठा राह देखता है कि हममें कब जिज्ञासा उत्पन्न हो। पर हमें सवाल भी पूछना नहीं आता, सवाल पूछनेकी मनमें भी नहीं उठती। इस कारण गीता-सरीखी पुस्तकका नित्य ध्यान धरते हैं, उसका भजन करते-करते अपनेमें धर्म-जिज्ञासा उत्पन्न करनेकी इच्छा करते हैं, सवाल पूछना सीखना चाहते हैं और जब-जब मुसीबतमें पड़ते हैं तब-तब अपनी मुसीबत दूर करनेके लिए हम गीताकी शरण जाते

हैं और उससे आश्वासन लेते हैं। इसी दृष्टिसे गीता पढ़नी है। वह हमारी सद्गुरुरूप है, मातारूप है और हमें विश्वास रखना चाहिए कि उसकी गोदमें सिर रखकर हम सही सलामत पार हो जायेंगे। गीताके द्वारा अपनी सारी धार्मिक गुत्थियां सुलझा लेंगे। इस भांति नित्य गीताका मनन करनेवालोंको उसमेंसे नित्य नये अर्थ मिलेंगे। ऐसी एक भी धर्मकी उलझन नहीं है कि जिसे गीता न सुलझा सकती हो। हमारी अल्प श्रद्धाके कारण हमें उसका पढ़ना-समझना न आये तो वह दूसरी बात है। पर हम अपनी श्रद्धा नित्य-नित्य बढ़ाते जाने और अपनेको सावधान रखनेके लिए गीताका पारायण करते हैं। इस भांति गीताका मनन करते हुए जो कुछ अर्थ मुझे उसमेंसे मिला है और आज भी मिलता जाता है, उसका सार आश्रमवासियोंकी सहायताके लिए यहां दे रहा हूं।

यरवदा जेल —मो० क० गांधी

११-११-'३०

गीता-बोध

पहला अध्याय

मंगलप्रभात

११-११-३०

पांडव और कौरवोंके अपनी सेनासहित युद्धके मैदान कुरुक्षेत्रमें एकत्र होनेपर दुर्योधन द्रोणाचार्यके पास जाकर दोनों दलोंके मुख्य-मुख्य योद्धाओंके बारेमें चर्चा करता है। युद्धकी तैयारी होनेपर दोनों ओरके शंख बजते हैं और अर्जुनके सारथी श्रीकृष्ण भगवान उसका रथ दोनों सेनाओंके बीचमें लाकर खड़ा करते हैं। अर्जुन घबड़ाता है और श्रीकृष्णसे कहता है कि मैं इन लोगोंसे कैसे लड़ूं? दूसरे हों तो मैं तुरंत भिड़ सकता हूं। लेकिन ये तो अपने स्वजन ठहरे। सब चचेरे भाई-बंधु हैं। हम एक साथ पले हैं। कौरव और पांडव कोई दो नहीं हैं। द्रोण केवल कौरवोंके ही आचार्य नहीं हैं, हमें भी उन्हींने सब विद्याएं सिखाई हैं। भीष्म तो हम सभीके पुरखा हैं। उनके साथ

लड़ाई कैसी ? माना कि कौरव आततायी हैं, उन्होंने बहुत दुष्ट कर्म किये हैं; अन्याय किये हैं, पांडवोंकी जगह-जायदाद छीन ली है, द्रौपदी जैसी महासतीका अपमान किया है। यह सब उनके दोष अवश्य हैं। पर मैं उन्हें मारकर कहां रहूंगा ? ये तो मूढ़ हैं। मैं इन-जैसा कैसे बनूं ? मुझे तो कुछ समझ है, सारा-सारका विवेक है। मुझे यह जानना चाहिए कि अपनोंके साथ लड़नेमें पाप है। चाहे उन्होंने हमारा हिस्सा हजम कर लिया हो, चाहे वे हमें मार ही डालें, तब भी हम उनपर हाथ कैसे उठावें ? हे कृष्ण ! मैं तो इन सगे-संबंधियोंसे नहीं लड़ूंगा।

इतना कहते-कहते अर्जुनकी आंखोंके सामने अंधेरा छा गया और वह अपने रथमें गिर पड़ा।

यह पहले अध्यायका प्रसंग है। इसका नाम 'अर्जुन-विषाद-योग' है। विषादके मानी दुःखके होते हैं। जैसा दुःख अर्जुनको हुआ वैसा हम सबको होना चाहिए। धर्म-वेदना तथा धर्म-जिज्ञासाके बिना ज्ञान नहीं मिलता। जिसके मनमें अच्छे और बुरेका भेद जाननेकी इच्छातक नहीं होती, उसके सामने धर्म-चर्चा कैसी ? कुरुक्षेत्रका युद्ध तो निमित्तमात्र है, सच्चा कुरुक्षेत्र हमारा शरीर है। यही कुरुक्षेत्र है और

धर्मक्षेत्र भी। यदि इसे हम ईश्वरका निवास-स्थान समझें और बनावें तो यह धर्मक्षेत्र है। इस क्षेत्रमें कुछ-न-कुछ लड़ाई तो नित्य चलती ही रहती है और ऐसी अधिकांश लड़ाइयां 'मेरा'-'तेरा' को लेकर होती हैं। अपने-परायेके भेदभावसे पैदा होती हैं। इसी-लिए आगे चलकर भगवान अर्जुनसे कहेंगे कि 'राग', 'द्वेष' मारे अधर्मकी जड़ है। जिसे 'अपना' माना उसमें राग पैदा हुआ, जिसे 'पराया' जाना, उसमें द्वेष—वैरभाव आ गया। इसलिए 'मेरे'-'तेरे' का भेद भूलना चाहिए, या यों कहिये कि राग-द्वेषको तजना चाहिए। गीता और सभी धर्म-ग्रंथ पुकार-पुकारकर यही कहते है। पर कहना एक बात है और उसके अनुसार करना दूसरी बात। हमें गीता इसके अनुसार करनेकी भी शिक्षा देती है। कैसे, सो आगे समझनेकी कोशिश की जायगी।

दूसरा अध्याय

सोमप्रभात

१७-११-३०

अर्जुनको जब कुछ चेत हुआ तो भगवानने उसे

उलाहना दिया और कहा कि यह मोह तुझे कहांसे आ गया ? तेरे-जैसे वीर पुरुषको यह शोभा नहीं देता। पर अर्जुनका मोह यों टलनेवाला नही था। वह लड़नेसे इनकार करके बोला, "इन सगे-संबंधियो और गुरुजनोंको मारकर, मुझे राजपाट तो दरकिनार, स्वर्गका सुख भी नही चाहिए। मैं कर्तव्यविमूढ़ हो गया हूं। इस स्थितिमें धर्म क्या है, यह मुझे नही सूझता। मैं आपकी शरण हूं, मुझे धर्म बतलाइये।"

इस भांति अर्जुनको बहुत व्याकुल और जिज्ञासु देखकर भगवानको दया आई। वह उसे समझाने लगे—तू व्यर्थ दुःखी होता है और बेसमझे-बूझे ज्ञानकी बातें करता है। जान पड़ता है कि तू देह और देहमें रहनेवाले आत्माका भेद ही भूल गया है। देह मरती है, आत्मा नही मरती। देह तो जन्मसे ही नाशवान है, देहमें जैसे जवानी और बुढापा आता है वैसे ही उसका नाश भी होता है। देहका नाश होनेपर देही-का नाश कभी नहीं होता है। देहका जन्म है, आत्माका जन्म नही है। वह तो अजन्मा है। उसे बढ़-घट नही है। वह तो सदैव था, आज है और आगे भी रहने-वाला है। फिर तू काहेका शोक करता है ? तेरा शोक तेरे मोहका कारण है। इन कौरव आदिको

तू अपना मानता है, इसलिए तुझे ममता हो गई है। पर तुझे समझना चाहिए कि जिस देहसे तुझे ममता है वह तो नाशवान ही है। उसमें रहनेवाले जीवका विचार करनेपर तो तत्काल तेरी समझमें आजायगा कि उसका नाश तो कोई कर ही नहीं सकता। उसे न अग्नि जला सकती है, न वह पानीमें डूब सकता है, न वायु उसे सुखा सकती है। इसके सिवा, तू अपने धर्मको तो सोच! तू तो क्षत्रिय है। तेरे पीछे यह सेना इकट्ठी हुई है। अब अगर तू कायर बन जाय तो तू जो चाहता है उससे उलटा नतीजा होगा और तेरी हँसी होगी। आजतक तेरी गिनती बहादुरोंमें हुई है। अब यदि तू अधबीचमें लड़ाई छोड़ देगा तो लोग कहेंगे कि अर्जुन कायर होकर भाग गया। यदि भागनेमें धर्म होता तो लोकनिंदाकी कोई परवा न थी। पर यहां तो यदि तू भागे तो अधर्म होगा और लोकनिंदा उचित समझी जायगी, यह दोहरा दोष होगा।

यह तो मैंने तेरे सामने बुद्धिकी दलील रखी, आत्मा और देहका भेद बताया और तेरे कुलधर्मका तुझे भान कराया। पर अब तुझे मैं कर्मयोगकी बात समझाता हूं। इस योगपर अमल करनेवालेको कभी नुकसान नहीं होता। इसमें तर्ककी बात नहीं है,

आचरणकी है, करके अनुभव पानेकी बात है। और यह तो प्रसिद्ध अनुभव है कि हजारों मन तर्ककी अपेक्षा तोलाभर आचरणकी कीमत अधिक है। इस आचरण-में भी यदि अच्छे-बुरे परिमाण का तर्क आ घुसे तो वह दूषित हो जाता है। परिणामके विचारसे ही बुद्धि मलिन हो जाती है। वेदवादी लोग कर्मकांडमें पड़कर अनेक प्रकारके फल पानेकी इच्छासे अनेक क्रियाएं आरंभ कर बैठते हैं। एकसे फल न मिलनेपर दूसरीके पीछे दौड़ते हैं। फिर कोई तीसरी बता देता है तो उसके पीछे हैरान होते हैं, और ऐसा करनेमें उनकी मति भ्रममें पड़ जाती है। वास्तवमें मनुष्यका धर्म फलका विचार छोड़कर कर्तव्य-कर्म किये जानेका है। इस समय यह युद्ध तेरा कर्तव्य है, इसे पूरा करना तेरा धर्म है। लाभ-हानि, हार-जीत तेरे हाथमें नहीं हैं। तू गाड़ीके नीचे चलनेवाले कुत्तेकी भांति इसका बोझ क्यों ढोता है? हार-जीत, सरदी-गरमी, सुख-दुःख देहके साथ लगे ही हुए हैं, उन्हें मनुष्यको सहना चाहिए। जो भी नतीजा हो, उसके विषयमें निश्चिंत रहकर तथा समता रखकर मनुष्यको अपने कर्तव्यमें तन्मय रहना चाहिए। इसका नाम योग है और इसी-में कर्मकुशलता है। कार्यकी सिद्धि कार्यके करनेमें

छिपी है, उसके परिणाममें नहीं। तू स्वस्थ हो, फलका अभिमान छोड़ और कर्तव्यका पालन कर।

यह सुनकर अर्जुन पूछता है: यह तो मेरे बूतेके बाहर जान पड़ता है। हार-जीतका विचार छोड़ना, परिणामका विचार ही न करना, ऐसी समता, ऐसी स्थिरबुद्धि कैसे आ सकती है? मुझे समझाइये कि ऐसी स्थिर बुद्धिवाले कैसे होते हैं, उन्हें कैसे पहचाना जा सकता है?

तब भगवानने जवाब दिया

हे अर्जुन! जिस मनुष्यने अपनी कामना-मात्रका त्याग किया है और जो अपने अंतरमेंसे ही संतोष प्राप्त करता है, वह स्थिरचित्त, स्थितप्रज्ञ, स्थिर-बुद्धि या समाधिस्थ कहलाता है। ऐसा मनुष्य न दुःखसे दुःखी होता है, न सुखसे फूल उठता है। सुख-दुःखादि पांच इंद्रियोंके विषय हैं। इसलिए ऐसा बुद्धिमान मनुष्य कछुएकी भांति अपनी इंद्रियोंको समेट लेता है, पर कछुआ तो जब किसी दुश्मनको देखता है तब अपने अंगोंको ढालके नीचे समेटता है; लेकिन मनुष्यकी इंद्रियोंपर तो विषय नित्य चढ़ाई करनेको खड़े ही हैं, अतः उसे तो हमेशा इंद्रियोंको समेटे रखना और स्वयं ढालरूप होकर विषयोंके मुकाबलेमें लड़ना है। यह

असली युद्ध है। कोई तो विषयोंसे बचनेको देह-दमन करता है, उपवास करता है। यह ठीक है कि उपवास-कालमें इंद्रियां विषयोंकी ओर नहीं दौड़ती, पर अकेले उपवाससे रस नहीं सूख जाता। उपवास छोड़नेपर यह तो और बढ़ भी जाता है। रसको दूर करनेके लिए तो ईश्वरका प्रसाद चाहिए। इंद्रिया तो ऐसी बलवान हैं कि वे मनुष्यको उसके सावधान न रहनेपर जबरदस्ती घसीट ले जाती है। इसलिए मनुष्यको इंद्रियोंको हमेशा अपने वशमें रखना चाहिए। पर यह हो तब सकता है जब वह ईश्वरका ध्यान धरे, अंतर्मुख हो, हृदयमें रहनेवाले अंतर्यामीको पहचाने और उसकी भक्ति करे। इस प्रकार जो मनुष्य मुझमें परायण रहकर अपनी इंद्रियोंको वशमें रखता है, वह स्थिरबुद्धि योगी कहलाता है। इससे विपरीत करनेवालेके हाल भी मुझसे सुन। जिसकी इंद्रियां स्वच्छंदरूपसे बरतती है वह नित्य विषयोंका ध्यान धरता है। तब उसमें उसका मन फंस जाता है। इसके सिवा उसे और कुछ सूझता ही नहीं। ऐसी आसक्तिमेंसे काम पैदा होता है। बादको उसकी पूर्ति न होनेपर उसे क्रोध आता है। क्रोधातुर तो बावला-सा हो ही जाता है, आपेमें नहीं रह जाता।

अतः स्मृतिभ्रंशके कारण जो-सो बकता और करता है। ऐसे व्यक्तिका अंतमें नाशके सिवा और क्या होगा ? जिसकी इंद्रियां यों भटकती फिरती हैं उसकी हालत पतवाररहित नावकी-सी हो जाती है। चाहे जो हवा नावको जिधर-तिधर घसीट ले जाती है और अंतमें किसी चट्टानसे टकराकर नाव चूर हो जाती है। जिसकी इंद्रियां भटका करती हैं उसके ये हाल होते हैं। अतः मनुष्यको कामनाओंको छोड़ना और इंद्रियोंपर काबू रखना चाहिए। इससे इंद्रियां न करने योग्य कार्य नहीं करेंगी, आंखें सीधी रहेंगी, पवित्र वस्तुको ही देखेंगी, कान भगवद्-भजन सुनेंगे, या दुःखीकी आवाज सुनेंगे। हाथ-पांव सेवा-कार्यमें रुके रहेंगे और ये सब इंद्रिया मनुष्यके कर्तव्य-कार्यमें ही लगी रहेंगी और उसमेंसे उन्हें ईश्वरकी प्रसादी मिलेगी। वह प्रसादी मिली कि सारे दुःख गये समझो। सूर्यके तेजसे जैसे बर्फ पिघल जाती है वैसे ईश्वर-प्रसादीके तेजसे दुःखमात्र भाग जाते हैं और ऐसे मनुष्यको स्थिरबुद्धि कहते हैं। पर जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है, उसे अच्छी भावना कहांसे आवेगी ? जिसे अच्छी भावना नही उसे शांति कहां ? जहां शांति नहीं वहां सुख कहां ? स्थिरबुद्धि मनुष्यको

जहां दीपककी भांति साफ दिखाई देता है वहां अस्थिर मनवाले दुनियाकी गड़बड़में पड़े रहते हैं और देख ही नहीं सकते। और ऐसी गड़बडवालोंको जो स्पष्ट लगता है वह समाधिस्थ योगीको स्पष्टरूपसे मलिन लगता है और वह उधर नजरतक नहीं डालता। ऐसे योगीकी तो ऐसी स्थिति होती है कि नदी-नालों-का पानी जैसे समुद्रमें समा जाता है वैसे विषयमात्र इस समुद्ररूप योगीमें समा जाते हैं। और ऐसा मनुष्य समुद्रकी भांति हमेशा शांत रहता है। इससे जो मनुष्य सब कामनाएं तजकर, निरहंकार होकर, ममता छोडकर, तटस्थरूपसे बरतता है, वह शांति पाता है। यह ईश्वर-प्राप्तिकी स्थिति है और ऐसी स्थिति जिसकी मृत्युतक टिकती है वह मोक्ष पाता है।

तीसरा अध्याय

आश्रमप्रभात
२४-११-३०

स्थितप्रज्ञके लक्षण सुनकर अर्जुनको ऐसा लगा कि मनुष्यको शांत होकर बैठ रहना चाहिए। उसके लक्षणोंमें कर्मका तो नामतक भी उसने नहीं सुना।

इसलिए भगवानसे पूछा—"आपके वचनोंसे तो लगता है कि कर्मसे ज्ञान बढ़कर है। इससे मेरी बुद्धि भ्रमित हो रही है। यदि ज्ञान अच्छा हो तो फिर मुझे घोर कर्ममें क्यों उतार रहे हैं? मुझे साफ कहिये कि मेरा भला किसमें है?"

तब भगवानने उत्तर दिया.

"हे पापरहित अर्जुन! आरंभसे ही इस जगतमें दो मार्ग चलते आये हैं: एकमें ज्ञानकी प्रधानता है और दूसरेमें कर्मकी। पर तू स्वयं देख ले कि कर्मके बिना मनुष्य अकर्मी नहीं हो सकता, बिना कर्मके ज्ञान आता ही नहीं। सब छोड़कर बैठ जानेवाला मनुष्य सिद्ध पुरुष नहीं कहला सकता।

तू देखता है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ-न-कुछ तो करता ही है। उसका स्वभाव ही उससे कुछ करावेगा। जगतका यह नियम होनेपर भी जो मनुष्य हाथ-पांव ढीले करके बैठा रहता है और मनमें तरह-तरहके मनसूबे करता रहता है, उसे मूर्ख कहेंगे और वह मिथ्याचारी भी गिना जायगा। क्या इससे यह अच्छा नहीं है कि इंद्रियोंको वशमें रखकर, राग-द्वेष छोड़कर, शोर-गुलके बिना, आसक्तिके बिना अर्थात् अनासक्तभावसे, मनुष्य हाथ-पांवोंसे कुछ कर्म करे,

कर्मयोगका आचरण करे ? नियत कर्म—तेरे हिस्सेमें आया हुआ सेवा-कार्य——तू इंद्रियोंको वशमें रखकर करता रह । आलसीकी भांति बैठे रहनेसे यह कहीं अच्छा है । आलसी होकर बैठ रहनेवालेके शरीरका अंतमें पतन हो जाता है । पर कर्म करते हुए इतना याद रखना चाहिए कि यज्ञ-कार्यके सिवा सारे कर्म लोगोंको बंधनमे रखते है । यज्ञके मानी है, अपने लिए नही, बल्कि दूसरेके लिए, परोपकारके लिए, किया हुआ श्रम अर्थात् सक्षेपमे 'सेवा' । और जहा सेवाके निमित्त ही सेवा की जायगी वहा आसक्ति, राग-द्वेष नही होगा । ऐसा यज्ञ, ऐसी सेवा तू करता रह । ब्रह्माने जगत उपजानेके साथ-ही-साथ यज्ञ भी उपजाया, मानो हमारे कानमे यह मत्र फूका कि पृथ्वीपर जाओ, एक दूसरेकी सेवा करो और फूलो-फलो, जीवमात्रको देवतारूप जानो, इन देवोंकी सेवा करके तुम उन्हें प्रसन्न रखो, वे तुम्हें प्रसन्न रखेंगे । प्रसन्न हुए देव तुम्हें बिना मांगे मनोवांछित फल देंगे । इसलिए यह समझना चाहिए कि लोक-सेवा किये बिना, उनका हिस्सा उन्हें पहले दिये बिना, जो खाता है वह चोर है और जो लोगोंका, जीवमात्रका, भाग उन्हें पहुंचानेके बाद खाता है या कुछ भोगता

है उसे वह भोगनेका अधिकार है अर्थात् वह पाप-मुक्त हो जाता है। इससे उलटा, जो अपने लिए ही कमाता है——मजदूरी करता है——वह पापी है और पापका अन्न खाता है। सृष्टिका नियम ही यह है कि अन्नसे जीवोंका निर्वाह होता है। अन्न वर्षासे पैदा होता है और वर्षा यज्ञसे अर्थात् जीवमात्र-की मेहनतसे उत्पन्न होती है। जहां जीव नहीं हैं वहां वर्षा नहीं पाई जाती, जहां जीव हैं वहां वर्षा अवश्य है। जीवमात्र श्रमजीवी हैं। कोई पड़े-पड़े खा नहीं सकता। और मूढ़ जीवोंके लिए जब यह सत्य है तो मनुष्यके लिए यह कितने अधिक अंशमें लागू होना चाहिए? इससे भगवानने कहा, कर्मको ब्रह्माने पैदा किया। ब्रह्माकी उत्पत्ति अक्षर-ब्रह्मसे हुई, इसलिए यह समझना चाहिए कि यज्ञ-मात्रमें——सेवामात्रमें——अक्षरब्रह्म, परमेश्वर विराजता है। ऐसी इस प्रणालीका जो मनुष्य अनुसरण नहीं करता वह पापी है और व्यर्थ जीता है।

मंगलप्रभात

यह कह सकते हैं कि जो मनुष्य आंतरिक शांति भोगता है और संतुष्ट रहता है, उसे कोई कर्तव्य नहीं है, उसे कर्म करनेसे कोई फायदा नहीं, न करनेसे

हानि नही है। किसीके सबंधमें कोई स्वार्थ उसे न होनेपर भी यज्ञकार्यको वह छोड़ नही सकता। इससे तू तो कर्तव्य-कर्म नित्य करता रह, पर उसमें राग-द्वेष न रख, उसमे आसक्ति न रख। जो अनासक्तिपूर्वक कर्मका आचरण करता है वह ईश्वर-साक्षात्कार करता है। फिर जनक-जैसे नि:स्पृही राजा भी कर्म करते-करते सिद्धिको प्राप्त हुए, क्योकि वे लोकहितके लिए कर्म करते थे। तो तू कैसे इससे विपरीत बर्ताव कर सकता है? नियम ही यह है कि जैसा अच्छे और बड़े माने जानेवाले मनुष्य आचरण करते है उसका अनुकरण साधारण लोग करते है। मुझे देख, मुझे काम करके क्या स्वार्थ साधना था? पर मैं चौबीसो घंटा बिना थके कर्म करता ही रहता हूं और इससे लोग भी उसके अनुसार अल्पाधिक प्रमाणमे बरतते है। पर यदि मै आलस्य कर जाऊं तो जगतका क्या हो? तू समझ सकता है कि सूर्य, चंद्र, तारे इत्यादि स्थिर हो जायं तो जगतका नाश हो जाय। और इन सबको गति देनेवाला, नियममें रखनेवाला, तो मैं ही ठहरा। किंतु लोगोंमें और मुझमें इतना फरक जरूर है कि मुझे आसक्ति नहीं है, लोग आसक्त है, वे स्वार्थमें पडे भागते रहते है।

यदि तुझ-जैसा बुद्धिमान कर्म छोड़े तो लोग भी वही करेंगे और बुद्धिभ्रष्ट हो जायंगे। तुझे तो आसक्ति-रहित होकर कर्तव्य करना चाहिए, जिससे लोग कर्म-भ्रष्ट न हों और धीरे-धीरे अनासक्त होना सीखे। मनुष्य अपनेमें मौजूद स्वाभाविक गुणोंके वश होकर काम तो करता ही रहेगा। जो मूर्ख होता है वही मानता है कि 'मैं करता हूं'। सांस लेना यह जीवमात्रकी प्रकृति है, स्वभाव है। आंखपर किसी मक्खी आदिके बैठते ही तुरंत मनुष्य स्वभावतः ही पलकें हिलाता है। उस समय नहीं कहता कि मैं सांस लेता हूं, मैं पलक हिलाता हूं। इस तरह जितने कर्म किये जाय सब स्वाभाविक रीतिके गुणके अनुसार क्यों न किये जायं? उनके लिए अहंकार क्या? और यों ममत्वरहित सहज कर्म करनेका सुवर्ण मार्ग है, सब कर्म मुझे अर्पण करना और ममत्व हटाकर मेरे निमित्त करना। ऐसा करते-करते जब मनुष्यमेंसे, अहंकार-वृत्तिका, स्वार्थका नाश हो जाता है तब उसके सारे कर्म स्वाभाविक और निर्दोष हो जाते हैं। वह बहुत जजालमेंसे छूट जाता है। उसके लिए फिर कर्म-बंधन जैसा कुछ नहीं है और जहां स्वभावके अनुसार कर्म हो, वहां बलात्कारसे न करनेका दावा करनेमें ही अहंकार

समाया हुआ है। ऐसा बलात्कार करनेवाला बाहरसे चाहे कर्म न करता जान पड़े, पर भीतर-भीतर तो उसका मन प्रपंच रचता ही रहता है। बाहरी कर्मकी अपेक्षा यह बुरा है, अधिक बंधन-कारक है।

तो वास्तवमें तो इंद्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें राग-द्वेष विद्यमान ही है। कानोंको यह सुनना रुचता है, वह सुनना नहीं; नाकको गुलाबके फूलकी सुगंधि भाती है, मल वगैरहकी दुर्गन्धि नहीं। सभी इंद्रियोंके संबंधमें यही बात है। इसलिए मनुष्यको इन राग-द्वेषरूपी दो ठगोंसे बचना चाहिए। और इन्हें मार भगाना हो तो कर्मोंकी शृङ्खलामें न पड़े। आज यह किया, कल दूसरा काम हाथमें लिया, परसों तीसरा, यों भटकता न फिरे। बल्कि अपने हिस्सेमें जो सेवा आ जाय उसे ईश्वरप्रीत्यर्थ करनेको तैयार रहे। तब यह भावना उत्पन्न होगी कि जो हम करते हैं वह ईश्वर ही कराता है। यह ज्ञान उत्पन्न होगा और अहंभाव चला जायगा। इसे स्वधर्म कहते हैं। स्वधर्मसे चिपटे रहना चाहिए, क्योंकि अपने लिए तो वही अच्छा है। देखनेमें परधर्म अच्छा दिखाई दे तो भी उसे भयानक समझना चाहिए। स्वधर्मपर चलते हुए मृत्यु होनेमें मोक्ष है।

भगवानके राग-द्वेष रहित होकर किये जानेवाले कर्मको यज्ञरूप बतलानेपर अर्जुनने पूछा, "मनुष्य किसकी प्रेरणासे पापकर्म करता है? अक्सर तो ऐसा लगता है कि पापकर्मकी ओर कोई उसे जबर्दस्ती ढकेल ले जाता है।"

भगवान बोले, "मनुष्यको पापकर्मकी ओर ढकेल ले जानेवाला काम है और क्रोध है। दोनों सगे भाईकी भांति हैं, कामकी पूर्तिके पहले ही क्रोध आ धमकता है। काम-क्रोधवाला रजोगुणी कहलाता है। मनुष्यके महान शत्रु यही हैं। इनसे नित्य लड़ना है। जैसे मैल चढ़नेसे दर्पण धुधला हो जाता है, या अग्नि धुंएके कारण ठीक नहीं जल पाती और गर्भ झिल्लीमें पडे रहनेतक घुटता रहता है, उसी प्रकार काम-क्रोध ज्ञानीके ज्ञानको प्रज्वलित नहीं होने देते, फीका कर देते हैं, या दबा देते हैं। काम अग्निके समान विकराल है और इंद्रिय, मन, बुद्धि, सबपर अपना काबू करके मनुष्यको पछाड़ देता है। इसलिए तू इंद्रियोंसे पहले निपट, फिर मनको जीत तो बुद्धि तेरे अधीन रहेगी; क्योंकि इंद्रियां, मन और बुद्धि यद्यपि क्रमशः एक दूसरेसे बढ़-चढ़कर हैं तथापि आत्मा उन सबसे बहुत बढ़ा-चढ़ा है।

मनुष्यको आत्माकी, अपनी शक्तिका पता नही है, इसीलिए वह मानता है कि इंद्रियां वशमें नही रहती, मन वशमें नही रहता या बुद्धि काम नही करती। आत्माकी शक्तिका विश्वास होते ही बाकी सब आसान हो जाता है। इंद्रियोंको, मन और बुद्धिको ठिकाने रखनेवालेका काम, क्रोध या उनकी असंख्य सेना कुछ नहीं कर सकती।"

इस अध्यायको मैंने गीता समझनेकी कुंजी कहा है। एक वाक्यमें उसका सार यह जान पड़ता है कि जीवन सेवाके लिए है, भोगके लिए नही है। अत हमें जीवनको यज्ञमय बना डालना उचित है। पर इतना जान लेने भरसे वैसा हो जाना संभव नही हो जाता। जानकर आचरण करनेपर हम उत्तरोत्तर शुद्ध होते जायंगे। पर सच्ची सेवा क्या है, यह जाननेको इंद्रियदमन आवश्यक है। इस प्रकार उत्तरोत्तर हम सत्यरूपी परमात्माके निकट होते जाते हैं। युग-युगमें हमें सत्यकी अधिक झांकी होती है। स्वार्थ-दृष्टिसे होनेवाला सेवा-कार्य यज्ञ नही रह जाता। अत अनासक्तिकी बड़ी आवश्यकता है। इतना जानने-पर हमें इधर-उधरके वाद-विवादमें नहीं उलझना पडता। भगवानने अर्जुनको क्या सचमुच ही स्वजनों-

को मारनेकी शिक्षा दी ? क्या उसमें धर्म था ? ऐसे प्रश्न जाते रहते हैं। अनासक्ति आनेपर यों ही हमारे हाथमें किसीको मारनेको छुरी हो तो वह भी छूट जाती है। पर अनासक्तिका ढोंग करनेसे वह नही आती। हमारे प्रयत्नपर वह आज आ सकती है अथवा संभव है, हजारो वर्षतक प्रयत्न करते रहनेपर भी न आवे। इसका भी फिकर छोड़ देना चाहिए। प्रयत्नमें ही सफलता है। यह हमें सूक्ष्मतासे जाचते रहना चाहिए कि प्रयत्न वास्तवमें हो रहा है या नही। इसमें आत्माको धोखा नही देना चाहिए और इतना ध्यान रखना तो सभीके लिए संभव है।

चौथा अध्याय

सोमप्रभात
१-१२-३०

भगवानने अर्जुनसे कहा कि मैंने जो निष्काम कर्मयोग तुझे बतलाया है वह बहुत प्राचीन कालसे चला आता है, यह नया नहीं है। तू प्रिय भक्त है इसलिए, और इस समय धर्मसंकटमें है इसलिए, उसमेंसे मुक्त करनेके लिए, मैंने तेरे सामने इसे रखा है।

जब-जब धर्मकी निंदा होती है और अधर्म फैलता है तब-तब मैं अवतार लेता हूं और भक्तोंकी रक्षा करता हूं, पापीका संहार करता हूं। मेरी इस मायाको जो जाननेवाला है वह विश्वास रखता है कि अधर्मका लोप अवश्य होगा, साधु पुरुषका रक्षक ईश्वर है। ऐसे मनुष्य धर्मका त्याग नही करते और अंतमें मुझे पाते हैं; क्योंकि वे मेरा ध्यान धरनेवाले, मेरा आश्रय लेनेवाले होनेके कारण काम-क्रोधादिसे मुक्त रहते हैं और तप तथा ज्ञानसे शुद्ध हुए रहते हैं। मनुष्य जैसा करता है वैसा फल पाता है। मेरे नियमोंसे बाहर कोई रह नही सकता। गुण-कर्म-भेदमे मैंने चार वर्ण पैदा किये है। फिर भी मुझे उनका कर्ता मत समझ; क्योकि मुझे इस कर्ममेंसे किसी फलकी आकांक्षा नहीं है, न इसका पाप-पुण्य मुझे होता है। यह ईश्वरी माया समझने योग्य है। जगतमें जितनी प्रवृत्तिया है, सब ईश्वरी नियमोके अधीन होती है, फिर भी ईश्वर उनसे अलिप्त रहता है, इसलिए वह उनका कर्ता है और अकर्ता भी। यों अलिप्त रहकर, अछूते रहकर, फलेच्छासे रहित होकर जैसे ईश्वर चलता है वैसे मनुष्य भी निष्काम रहकर चले तो अवश्य मोक्ष पा जाय। ऐसा मनुष्य कर्ममे

अकर्म देखता है और ऐसे मनुष्यको न करने योग्य कर्मका भी तुरंत पता चल जाता है। कामनासे संबंधित कर्म, जो कामनाके बिना हो ही नहीं सकते वे सब, न करने योग्य कर्म कहलाते हैं—उदाहरणके लिए, चोरी, व्यभिचार इत्यादि। ऐसे कर्म कोई अलिप्त रहकर नही कर सकता। इसलिए जो कामना और संकल्प छोड़कर कर्तव्य-कर्म करता है उसके बारेमे कहा जाता है कि उसने अपने ज्ञानरूपी अग्निद्वारा अपने कर्मोंको जला डाला है। यो कर्म-फलका संग छोड़नेवाला मनुष्य सदा संतुष्ट रहता है, सदा स्वतंत्र होता है। उसका मन ठिकाने होता है, वह किसी संग्रहमे नही पडता और जैसे आरोग्यवान पुरुषकी शारीरिक क्रियाएं अपने-आप चलती रहती हैं उसी प्रकार ऐसे मनुष्यकी प्रवृत्तियां अपने आप चला करती है। उनके अपने चलानेका उसे अभिमान नही होता, भान तक नहीं होता। वह स्वयं निमित्तमात्र रहता है—सफलता मिली तो भी 'वाह-वाह,' न मिली तो भी। सफलतासे वह फूल नहीं उठता, विफलतासे घबराता नहीं। उसके सब कर्म यज्ञरूप, सेवाके लिए होते हैं। वह सारी क्रियाओंमें ईश्वरको ही देखता है और अंतमें उसीको पाता है।

यज्ञ तो अनेक प्रकारके कहे गये है। उन सबके मूलमे शुद्धि और सेवा होती है। इद्रियदमन एक प्रकारका यज्ञ है; किसीको दान देना दूसरी प्रकारका। प्राणायामादि भी शुद्धिके लिए आरभ किये जानेवाले यज्ञ है। इनका ज्ञान किसी ज्ञाता गुरुसे प्राप्त किया जा सकता है। वह मिलाप, विनय, लगन और सेवामे ही संभव है। यदि सब लोग विना समझे-बूझे यज्ञके नामपर अनेक प्रवृत्तिया करने लग जाय तो अज्ञानके निमित्त होनेके कारण, भलेके बदले बुरा नतीजा भी हो सकता है। इसलिए हरेक कामके ज्ञानपूर्वक होनेकी पूरी आवश्यकता है।

यहा ज्ञानसे मतलब अक्षर-ज्ञान नही है। इस ज्ञानमें शकाकी कोई गुजायश ही नही रहती। उसका श्रद्धासे आरंभ होता है और अंतमें उसका अनुभव आता है। ऐसे ज्ञानसे मनुष्य सब जीवोंको अपनेमे देखता है और अपनेको ईश्वरमे देखता है, यहा तक कि यह सब प्रत्यक्षकी भांति उसे ईश्वरमय लगता है। ऐसा ज्ञान पापी-से-पापीको भी तार देता है। यह ज्ञान कर्मबंधनमेंसे मनुष्यको मुक्त करता है, अर्थात् कर्मका फल उसे स्पर्श नही करता। इसके समान पवित्र इस जगतमे दूसरा कुछ नहीं है। इस-

लिए तू श्रद्धा रखकर, ईश्वरपरायण होकर, इंद्रियोंको वशमें रखकर ऐसा ज्ञान पानेका प्रयत्न कर, उससे तुझे परम शांति मिलेगी।

तीसरा, चौथा, और पांचवा अध्याय, तीनों एक साथ मनन करने योग्य हैं। उनमेंसे अनासक्तियोग क्या है इसका अनुमान हो जाता है। इस अनासक्ति—निष्कामतासे मिलनेका उपाय भी उनमें थोडे-बहुत अंशमें बतलाया गया है। इन तीनों अध्यायोंको यथार्थ रूपमें समझ लेनेपर आगेके अध्यायोंमें कम कठिनाई पड़ेगी। आगेके अध्याय हमें अनासक्ति-प्राप्तिके साधन-की अनेक रीतियां बतलाते हैं। हमें इस दृष्टिसे गीताका अध्ययन करना चाहिए, इससे अपनी नित्य पैदा होनेवाली समस्याओंको हम गीताद्वारा बिना परिश्रमके हल कर सकेंगे। यह नित्यके अभ्याससे संभव होनेवाली वस्तु है। सबको आजमा देखनी चाहिए। क्रोध आया कि तुरंत उससे संबंधित श्लोकका स्मरण करके उसे शांत करना चाहिए। किसीका द्वेष हो, अधीरता आवे, आहारैषणा आवे, किसी कामको करने या न करनेका संकट आवे तो ऐसे सब प्रश्नोंका निपटारा, श्रद्धा हो और नित्य मनन हो तो गीता-मातासे कराया जा सकता है। इसके

लिए नित्यका यह पारायण है और तदर्थ यह प्रयत्न है ।

यज्ञ—१

मंगलप्रभात
२१-१०-३०

हम यज्ञ शब्दका व्यवहार बारंबार करते हैं। हमने नित्यका महायज्ञ भी रचा है। इसलिए यज्ञ शब्दका विचार कर लेना जरूरी है। इस लोकमें या परलोकमें कुछ भी बदला लिये या चाहे विना, परार्थ-के लिए किये हुए किसी भी कर्मको यज्ञ कहेंगे। कर्म कायिक हो या मानसिक, चाहे वाचिक, कर्म का विशाल-से-विशाल अर्थ लेना चाहिए। 'परार्थ-के लिए' का मतलब केवल मनुष्य-वर्ग नहीं, बल्कि जीवनमात्र लेना चाहिए और अहिंसाकी दृष्टिसे भी, मनुष्यजातिकी सेवाके लिए भी, दूसरे जीवोंका होमना या उनका नाश करना यज्ञकी गिनतीमें नहीं आ सकता। वेदादिमें अश्व, गाय इत्यादिको होमनेकी जो बात आती है उसे हमने गलत माना है। वहां पशुहिंसाका अर्थ लें तो सत्य और अहिंसाकी तराजूपर ऐसे होम नहीं चढ़ सकते, इतनेसे हमने संतोष मान

लिया है। जो वचन धर्मके नामसे प्रसिद्ध हैं उनका ऐतिहासिक अर्थ करनेमें हम नहीं फंसते और वैसे अर्थोंके अन्वेषणकी अपनी अयोग्यता हम स्वीकार करते हैं। उस योग्यताकी प्राप्तिका प्रयत्न भी हम नहीं करते, क्योंकि ऐतिहासिक अर्थसे जीवहिंसा संगत भी ठहरे तो भी अहिंसाको सर्वोपरि धर्म माननेके कारण हमारे लिए उस अर्थको रुचनेवाला आचार त्याज्य है।

उक्त व्याख्याके अनुसार विचारनेपर हम देख सकते हैं कि जिस कर्ममें अधिक-से-अधिक जीवोंका, अधिक-से-अधिक क्षेत्रमे कल्याण हो और जो कर्म अधिक-से-अधिक मनुष्य अधिक-से-अधिक सरलतासे कर सकें, और जिसमें अधिक-से-अधिक सेवा होती हो, वह महायज्ञ है या अच्छा यज्ञ है। अतः किसीकी भी सेवाके निमित्त अन्य किसीका अकल्याण चाहना या करना यज्ञ-कार्य नही है और यज्ञके अलावा किया हुआ कार्य बंधनरूप है यह हमें भगवद्गीता और अनुभव भी सिखाता है।

ऐसे यज्ञके बिना यह जग क्षणभर भी नहीं टिक सकता, इसीलिए गीताकारने ज्ञानकी कुछ झलक दूसरे अध्यायमें दिखाकर तीसरे अध्यायमें उसकी

प्राप्तिके साधनमें प्रवेश कराया है और साफ शब्दों-में कहा है कि हम यज्ञको जन्मसे ही साथ लाये हैं। यहांतक कि हमें यह शरीर केवल परमार्थके लिए मिला है और इसलिए यज्ञ किये बिना जो खाता है है वह चोरीका खाता है, ऐसी सख्त बात गीताकारने कह डाली। जो शुद्ध जीवन बिताना चाहता है, उसके सब काम यज्ञरूप होते हैं। हमारे यज्ञसहित जन्मनेका मतलब है कि हम हरदमके ऋणी या देनदार हैं। इसलिए हम जगके सदाके गुलाम हैं। और जैसे स्वामी गुलामको सेवाके बदलेमें खाना-कपड़ा आदि देता है वैसे हमें जगतका स्वामी हमसे गुलामी लेनेके लिए जो अन्न-वस्त्रादि देता है वह कृतज्ञतापूर्वक लेना चाहिए। यह न समझना चाहिए कि जो मिलता है उतनेका भी हमें हक है, न मिलनेपर मालिकको दोष न दें। यह देह उसकी है, जी चाहे इसे रखे, या न रखे। यह स्थिति दुःखद नहीं है, न दयनीय है, यदि हम अपना स्थान समझ लें तो यह स्वाभाविक है और इसलिए सुखद और चाहने योग्य है। ऐसे परम सुखके अनुभवके लिए अचल श्रद्धा तो अवश्य चाहिए। अपने लिए कोई चिंता न करना, सब परमेश्वरको सौंप देना, ऐसा आदेश मैंने तो सब धर्मोंमें पाया है।

पर इस वचनसे किसीको डरना नही चाहिए। मनको स्वच्छ रखकर सेवाका आरंभ करनेवालेको उसकी आवश्यकता दिन-प्रतिदिन स्पष्ट होती जाती है और वैसे ही उसकी श्रद्धा बढ़ती जाती है। जो स्वार्थ छोड़नेको तैयार ही नहीं है, अपनी जन्मकी स्थितिको पहचाननेको ही तैयार नही, उसके लिए तो सेवाके मब मार्ग मुश्किल हैं। उसकी सेवामें तो स्वार्थकी गंध आती ही रहेगी। पर ऐसे स्वार्थी जगतमें कम ही मिलेंगे। कुछ-न-कुछ निःस्वार्थ सेवा हम सब जाने-अनजाने करते ही रहते हैं। यही चीज विचार-पूर्वक करने लगनेसे हमारी पारमार्थिक सेवाकी वृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहेगी। उसमें हमारा सच्चा सुख है और जगतका कल्याण है।

यज्ञ—२

मंगलप्रभात
२८-१०-३०

यज्ञके विषयमें पिछले सप्ताह लिखकर भी इच्छा पूरी नहीं हुई। जिस चीजको जन्मके साथ लेकर हमने इस संसारमें प्रवेश किया है उसके बारेमें कुछ अधिक विचार करना व्यर्थ न होगा। यज्ञ नित्य-कर्तव्य है,

चौबीसों घंटे आचरणमें लानेकी वस्तु है, इस विचारसे और यज्ञका अर्थ सेवा समझकर 'परोपकाराय सतां विभूतय.' वचन कहा गया है । निष्काम सेवा परोपकार नही है, बल्कि अपने निजके ऊपर उपकार है । जैसे कर्ज चुकाना परोपकार नही, बल्कि अपनी सेवा है, अपने ऊपर उपकार है, अपने ऊपरसे भार उतारना है, अपने धर्मको बचाना है। फिर कोई संतकी ही पूजी 'परोपकारार्थं'—अधिक सुदर भाषामे कहिये तो —'सेवार्थं' हो सो नही है, बल्कि मनुष्यमात्रकी पूजी सेवार्थं है। और यह होनेपर सारे जीवनमे भोगका खातमा हो जाता है, जीवन त्यागमय हो जाता है । या यों कहें कि मनुष्यका त्याग ही उसका भोग है । पशु और मनुष्यके जीवनमे यह भेद है । जीवनका यह अर्थ जीवनको शुष्क बना देता है, इससे कलाका नाश हो जाता है, अनेक लोग यह आरोप करके उक्त विचारको सदोष समझते हैं । पर मेरे खयालमे ऐसा कहना त्यागका अनर्थ करना है । त्यागके मानी संसार-से भागकर जंगलमें जा बसना नही है, बल्कि जीवनकी प्रवृत्ति मात्रमें त्यागका होना है । गृहस्थ-जीवन त्यागी और भोगी दोनों हो सकता है । मोचीका जूते सीना किसानका खेती करना, व्यापारीका व्यापार करना

और नाईका हजामत बनाना त्याग भावनासे हो सकता है या उसमें भोगकी लालसा हो सकती है। जो यज्ञार्थ व्यापार करता है वह करोड़ोंके व्यापारमें भी लोकसेवा-का ही खयाल रखेगा, किसीको धोखा नहीं देगा, अकरणीय साहस नहीं करेगा, करोड़ोंकी सम्पति रखते हुए भी सादगीसे रहेगा, करोड़ों कमाते हुए भी किसीकी हानि नहीं करेगा। किसीकी हानि होती होगी तो करोड़ोंसे हाथ धो देगा। कोई इस खयालसे न हँसे कि ऐसा व्यापारी मेरी कल्पनामें ही बसता है। संसारके सौभाग्यसे ऐसे व्यापारी पश्चिम और पूर्व दोनोंमे हैं। हों चाहे अंगुलियोंपर ही गिनने भरको, पर एक भी जीवित उदाहरण रहनेपर उसे फिर कल्पना-की वस्तु नही कह सकते। ऐसे दरजीको हमने वढ-वाणमें ही देखा है। ऐसे एक नाईको मैं जानता हूं और ऐसे बुनकरको हम लोगोंमेंसे[1] कौन नहीं जानता। देखने-ढूंढनेपर हम सब धंधोंमें केवल यज्ञार्थ अपना धंधा करने और तदर्थ जीवन बितानेवाले आदमी पा सकते हैं। यह अवश्य है कि ऐसे याज्ञिक अपने धंधेसे अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं। पर वे

---

[1] यानी आश्रमवासियोंमेंसे

धंधा आजीविकाके निमित्त नहीं करते, आजीविका उनके लिए उस धंधेका गौण फल है। मोतीलाल पहले भी दर्जीका धंधा करता था और ज्ञान होनेके बाद भी दर्जी बना रहा। भावना बदल जानेसे उसका धंधा यज्ञरूप बन गया, उसमें पवित्रता आ गई और पेशेमें दूसरेके सुखका विचार दाखिल हो गया। उसी समय उसके जीवनमें कलाका प्रवेश हो गया। यज्ञमय जीवन कलाकी पराकाष्ठा है, सच्चा रस उसीमें है, क्योंकि उसमेंसे रसके नित्य नये झरने प्रकट होते हैं। मनुष्य उन्हें पीकर अघाता नहीं है, न वे झरने कभी सूखते हैं। यज्ञ यदि भाररूप जान पड़े तो यज्ञ नहीं है, जो अखरे वह त्याग नहीं है। भोगका अंत नाश है, त्यागका अंत अमरता। रस स्वतंत्र वस्तु नहीं है, रस तो हमारी वृत्तिमें मौजूद है। एकको नाटकके पर्दोंमें मजा आता है, अन्यको आकाशमें नित्य नये-नये प्रकट होनेवाले दृश्योंमें। रस परिशीलनका विषय है। जो रसरूपमें बचपनमें सिखाया जाता है, जिसे रसके नामसे जनतामें प्रवेश कराया जाता है वह रस माना जाता है। हम ऐसे उदाहरण पा सकते हैं कि जिनमें एक प्रजाको रसमय लगनेवाली चीज दूसरी प्रजाको रसहीन लगती है।

यज्ञ करनेवाले अनेक सेवक मानते हैं कि हम निष्काम भावसे सेवा करते हैं, अतः लोगोंसे आवश्यकताभरको, और अनावश्यक भी, लेनेका हमें परवाना मिल गया है। जहां किसी सेवकके मनमें यह विचार आया कि उसकी सेवकाई गई, सरदारी आई। सेवामें अपनी सुविधाके विचारकी गुंजाइश ही नहीं होती है। सेवककी सुविधा स्वामी—ईश्वर देखे, देनी होगी तो वह देगा। यह खयाल रखते हुए सेवकको चाहिए कि जो कुछ आ जाय सबको न अपना बैठे। आवश्यकताभरको ही ले, बाकीका त्याग करे। अपनी सुविधाकी रक्षा न होनेपर भी शांत रहे, रोष न करे, मनमें भी खिन्नता न लावे। याज्ञिकका बदला, सेवककी मजदूरी, यज्ञ—सेवा ही है। उसीमें उसका संतोष है।

सेवा-कार्यमें बेगार भी नहीं काटी जाती। उसे अंतके लिए नहीं छोड़ा जाता। अपना काम तो संवारे; लेकिन पराया, बिना पैसेके करना है, इस खयालसे जैसा-तैसा या जब चाहे तब करनेमें भी हर्ज न समझनेवाला, यज्ञका ककहरा भी नहीं जानता। सेवामें तो सोलहों सिगार भरने पड़ते हैं, अपनी सारी कला उसमें खर्च कर देनी पड़ती है। पहले यह,

फिर अपनी सेवा। मतलब यह कि शुद्ध यज्ञ करनेवालेके लिए अपना कुछ नही है। उसने सब 'कृष्णार्पण' कर दिया है।

यज्ञ—३

(व्यक्तिगत पत्रोमेंसे)

१३-११-३०

चर्खे और फ्रेंचके विषयमें तुमने जो लिखा है उसमें भी सिद्धांत दृष्टिसे त्रुटि पाता हूं। चर्खेको सर्वार्पण करनेपर उस समयको दूसरे काममें नहीं लगाया जा सकता। कोई बात करने आ जाय तो विवेकके खयालसे कर सकते हैं; पर बातोंके बजाय कुछ सिखा ही जाय तो उसमें क्या बुराई है, यह न्याय यहां नही लग सकता। बातमेंसे तो जब चाहे छुट्टी पाई जा सकती है। बात करनेवाला भी बहुत देरतक बैठकर बातें नहीं करेगा। पर शिक्षक बन जानेपर तो वह पूरा समय देनेको मजबूर हो जाता है। यह सब तबके लिए है जब कि चर्खेको यज्ञरूपमें चलाते हों। अपने विषयमें मैं इस सत्यका प्रत्यक्ष अनुभव करता हूं। चर्खा चलाते समय जब अन्य विचारोंमें पड़ता हूं तब गतिपर, नंबरपर, समा-

नतापर उसका असर पड़ता है। कल्पना करो कि रोमे रोलां या बिथोवन पियानोपर बैठे हैं। उसपर वे ऐसे तन्मय हो जाते हैं कि बात नहीं कर सकते, न मनमें अन्य विचार कर सकते हैं। कला और कलाकार पृथक् नहीं होते। यदि यह पियानोके लिए सत्य हो तो फिर चर्खायज्ञके लिए कितना अधिक सत्य होना चाहिए ? यह विचार जाने दो कि यह आचरण आज ही संभव नहीं है। अपने विचारक्षेत्र-को बावन तोला पाव रत्ती शुद्ध रख सकें तो तदनुसार आचरण किसी दिन हो ही जायगा। यह न समझो कि इसमें गुजरे हुओंकी आलोचना है। मैं खुद बहुत अधूरा हूं, मुझे आलोचना करनेका हक भी कहां है ? जितना जानता हूं उसपर मैं खुद कहां पूरी तरह चलता हूं ? चलता होता तो कबका चर्खा सात लाख गांवोंमें गूंज जाता। आज भी जो जानता हूं उसके अनुसार सौ फीसदी चल सकूं तो मेरे यहां बैठे भी चर्खा हवाकी तरह फैले। पर यदि मालवीयजी भागवत पुराणकी चर्चासे थकें तो मैं चर्खा-संगीतकी बातोंसे थकूं। चर्खा-पुराण तो कैसे कहूं ? पुराण तो भविष्यकी पीढ़ी रचेगी, बशर्तेकि हम कुछ रचने लायक कर जायंगे। आज तो हम इसका टूटा-फूटा

संगीत रच रहे हैं। अंतमें उसमें कैसा सुर निकलता है यह हमारी तपश्चर्या और हमारे समर्पणपर निर्भर रहेगा।

....मुझे आदर्श तो यह लगता है कि यज्ञके समय मौन हो। उस समय जो विचार हो वह चर्खे, या कहो खादीसंबंधी अथवा रामनामका हो। रामनामको विस्तृत अर्थमें लेना चाहिए। वास्तव में तो रामनाम जाने-अनजाने हमेशा ही होना चाहिए, जैसे संगीतमें तंबूरा। पर हाथ जो काम करते हो उसमें हम एक-ध्यान न हों तो रामनामका इच्छापूर्वक रटन होना चाहिए। चर्खा चलाते हुए हम बातें करें, कुछ सुनें या और कुछ करें तो यह क्रिया यज्ञ तो नहीं होगी। यदि यह यज्ञ कर्तव्य है तो उतने समयके लिए उसमें लीन हो जाना चाहिए। जिसका सारा जीवन यज्ञरूप है और जो अनासक्त है वह एक समयमें एक ही काम करेगा। इतना जानते हुए भी (अल्पाधिक प्रमाणमें) मैं ही पहला पापी ठहरता हूं; क्योंकि कह सकते हैं कि मैंने किसी दिन चुपचाप एकांतमें बैठकर अर्थात् मौन धरकर नहीं काता। मौनवारके दिन कातते-कातते डाक सुनता या किसीकी कोई बात सुननी होती तो वह सुनता। यह कुटेव

यहां भी नहीं गई। इसलिए कोई ताज्जुब नहीं कि कातनेमें बहुत नियमित होते हुए भी मैं सुस्त रह गया और घंटेमें मुश्किलसे २०० तारतक अब पहुंचा हूं! और भी अनेक दोष अपनेमें पाता हूं, जैसे तार टूटना, माल बनाना न जानना, चमरखका अल्पज्ञान, रुईकी किस्म न पहचानना, समानता वगैरह पूरी तरहसे न निकाल सकना, तारकी परख न कर सकना इत्यादि। क्या यह सब किसी याज्ञिकको शोभा देता है? फिर खादीकी गति धीमी रह गई तो इसमें क्या आश्चर्य है? यदि दरिद्रनारायण है और उसके होनेमें कोई शक नहीं है, और यदि उसकी प्रसादी खादी है, और यह कहनेवाला, जाननेवाला जो कुछ कहो वह मैं हूं, फिर भी मेरा अमल कितना ढीला-ढाला है? इसलिए इस विषयमें किसी औरको दोषी ठहरानेका जी नहीं चाहता है। मैं तो सिर्फ तुम्हें अपने दोषका, दुःखका और उसमेंसे उत्पन्न होनेवाले खयालका और ज्ञानका दर्शन कराना चाहता हूं। यद्यपि काकाके साथ यदा-कदा ऐसी बातें हुई हैं, तथापि इतनी स्पष्टतासे तो यही पहले-पहल तुमसे कह रहा हूं। और यह स्पष्टता भी आई तुम्हारे उस फ्रेंचको चरखेके साथ जोड़नेके कारण। तुमने

जो किया उसमें मैं तुम्हारा तनिक भी दोष नहीं पाता। मैं देख रहा हूं कि चर्खेका कैसा कच्चा 'मंत्रा' हूं मैं। मंत्रको तो जाना, पर उसकी पूरी विधि आचारमें नहीं उतारी, इसलिए मंत्र अपनी पूरी शक्ति नहीं प्रकट कर सका। चर्खेकी भांति ही इस बातको सारे जीवनपर घटाकर देखो तो कल्पनामें तो तुम्हें जीवनकी अद्‌भुत शांतिका अनुभव होगा और सफलता-का भी। 'योगः कर्मसु कौशलम्'का तात्पर्य यह है। इस बातको ध्यानमें रखकर जितना हो सके उतना ही करनेको हाथमें लें और संतोष मानें। मेरा दृढ विश्वास है कि इससे हम अपनेको और समाजको अधिक-से-अधिक आगे बढ़ानेमें अपना कर्तव्य करते हैं। जबतक इसका पूरा-पूरा अमल न हो ले तबतक तो यह कोरा पांडित्य ही कहा जायगा। दिन-दिन इस दिशामें बढ़ तो रहा हूं। बाहर निकलनेपर क्या होगा वह भगवान जाने। तुम इसमेंसे बन सके तो इतना तो अमलमें ला सकते हो कि यज्ञके निमित्त जितने तार तय कर लो उतने तो शास्त्रीय रीतिसे कातो। बाकी तो चाहे जिस दशामें हिंदुस्तानकी संपत्ति बढानेके इरादेसे कातते रहो। अभी लिखते जानेकी इच्छा होती है। पर अब बस करता हूं।

•

पांचवां अध्याय

अर्जुन कहता है, "आप ज्ञानको विशेष बतलाते हैं। इससे मैं समझता हूं कि कर्म करनेकी आवश्यकता नही है, संन्यास ही अच्छा है। पर फिर आप कर्मकी भी स्तुति करते है तब यह लगता है कि योग ही अच्छा है। इन दोनोंमें अधिक अच्छा क्या है, यह मुझको निश्चयपूर्वक कहिये। तभी मुझे कुछ शांति मिल सकती है।"

यह सुनकर भगवान बोले, "संन्यास अर्थात् ज्ञान और कर्मयोग अर्थात् निष्काम कर्म ये दोनों अच्छे हैं; पर यदि मुझे चुनाव ही करना है तो मैं कहता हूं कि योग अर्थात् अनासक्तिपूर्वक कर्म अधिक अच्छा है। जो मनुष्य किसी वस्तु या मनुष्यका न द्वेष करता है, न कोई इच्छा रखता है और सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी इत्यादि द्वंद्वोंसे परे रहता है, वह संन्यासी ही है। फिर वह कर्म करता हो या न करता हो। ऐसा मनुष्य सहजमें बंधनमुक्त हो जाता है। अज्ञानी ज्ञान और योगमें भेद करता है, ज्ञानी नहीं। दोनोंका परिणाम एक ही होता है, अर्थात् दोनोंसे वही स्थान मिलता है। इसलिए सच्चा

जाननेवाला वही है जो दोनोंको एक ही समझता है; क्योंकि शुद्ध ज्ञानवालेकी संकल्पभरसे कार्यसिद्धि होती है, अर्थात् बाहरी कर्म करनेकी उसे जरूरत नहीं रहती। जब जनकपुरी जल रही थी तब दूसरोंका धर्म था कि जाकर आग बुझायें। जनकके संकल्पसे ही उनका आग बुझानेका कर्तव्य पूरा हो रहा था, क्योंकि उनके सेवक उनके अधीन थे। यदि वह घड़ाभर पानी लेकर दौड़ते तो कुल चौपट कर देते। दूसरे लोग उनकी ओर ताकते रहते और अपना कर्तव्य बिसर जाते। और विशेष भलमंसी दिखाते तो हक्के-बक्के होकर जनककी रक्षा करने दौड़ते। पर सब झटपट जनक नहीं बन सकते। जनककी स्थिति बड़ी दुर्लभ है। करोड़ोंमेंसे किसीको अनेक जन्मों की सेवासे वह प्राप्त हो सकती है। यह भी नही है कि इसकी प्राप्तिपर कोई विशेष शांति हो। उत्तरोत्तर निष्काम कर्म करते मनुष्यका संकल्पबल बढ़ता जाता है और बाहरी कर्म कम होते जाते हैं। कहा जा सकता है कि वास्तवमें देखनेपर उसे इसका पता भी नही चलता। इसके लिए उसका प्रयत्न भी नहीं होता। वह तो सेवा-कार्यमें ही डूबा रहता है। उससे उसकी सेवा-शक्ति इतनी अधिक बढ़ जाती

है कि उसे सेवासे कोई थकान आती नहीं जान पड़ती। इससे अंतमें उसके संकल्प में ही सेवा आ जाती है, वैसे ही जैसे बहुत जोरसे गति करती हुई वस्तु स्थिर-सी लगती है। ऐसा मनुष्य कुछ करता नहीं है, यह कहना प्रत्यक्षरूपसे अयुक्त है। पर ऐसी स्थिति साधारणत: कल्पनाकी ही वस्तु है, अनुभवमें नहीं आती। इसलिए मैंने कर्मयोगको विशेष कहा है। करोड़ों निष्काम कर्ममेंसे ही संन्यासका फल प्राप्त करते हैं। वे संन्यासी होने जायं तो इधर या उधर, कहींके न रहेंगे। संन्यासी होने गये तो मिथ्याचारी हो जानेकी पूरी संभावना है, और कर्मसे तो गये ही, मतलब सब खोया। पर जो मनुष्य अनासक्ति सहित कर्म करता हुआ शुद्धता प्राप्त करता है, जिसने अपने मनको जीता है, जिसने अपनी इंद्रियोंको वशमें रखा है, जिसने सब जीवोंके साथ अपनी एकता साधी है और सबको अपने समान ही मानता है, वह कर्म करते हुए भी उससे अलग रहता है अर्थात् बंधनमें नहीं पड़ता। ऐसे मनुष्यके बोलने, चालने आदिकी क्रियाएं करते हुए भी ऐसा लगता है कि इन क्रियाओंको इंद्रियां अपने धर्मानुसार कर रही हैं। स्वयं वह कुछ नहीं करता। शरीरसे आरोग्यवान मनुष्यकी क्रियाएं

स्वाभाविक होती हैं । उसके जठर आदि अपने आप काम करते हैं, उसकी ओर उसे खयाल नहीं दौड़ाना पड़ता, वैसे ही जिसकी आत्मा आरोग्यवान है उसके लिए कहा जा सकता है कि वह शरीरमें रहते हुए भी स्वयं अलिप्त है, कुछ नहीं करता । इसलिए मनुष्यको चाहिए कि सब कर्म ब्रह्मार्पण करे, ब्रह्मके ही निमित्त करे । तब वह करते हुए भी पाप-पुण्यका पुज नहीं रचता । पानीमें कमलकी भांति कोरा-का-कोरा ही रहेगा । इसलिए जिसने अनासक्तिका अभ्यास कर लिया है वह योगी कायासे, मनसे, बुद्धिसे कार्य करते हुए भी, संगरहित होकर, अहंकार तजकर बरतता है, जिससे शुद्ध हो जाता है और शांति पाता है । दूसरा रोगी, जो परिणाममें फंसा हुआ है, कैदीकी भांति अपनी कामनाओंमें बंधा रहता है । इस नौ दरवाजेवाले देहरूपी नगरमें सब कर्मोंका मनसे त्याग करके स्वयं कुछ न करता-कराता हुआ योगी सुखपूर्वक रहता है । संस्कारवान संशुद्ध आत्मा न पाप करता है, न पुण्य । जिसने कर्ममें आसक्ति नहीं रखी, अहंभाव नष्ट कर दिया, फलका त्याग किया, वह जड़की भांति बरतता है, निमित्तमात्र बना रहता है । भला उसे पाप-पुण्य कैसे छू सकते

है ? विपरीत इसके जो अज्ञानमें फंसा है वह हिसाब लगाता है, इतना पुण्य किया, इतना पाप किया और इससे वह नित्य नीचेको गिरता जाता है और अंतमें उसके पल्ले पाप ही रह जाता है। ज्ञानसे अपने अज्ञानका नित्य नाश करते जानेवालेके कर्ममें नित्य निर्मलता बढ़ती जाती है, संसारकी दृष्टिमें उसके कर्मोंमें पूर्णता और पुण्यता होती है। उसके सब कर्म स्वाभाविक जान पड़ते हैं। वह समदर्शी होता है। उसकी नजरोंमें विद्या और विनयवाला ब्रह्मज्ञाता ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, विवेकहीन—पशुसे भी गयाबीता—मनुष्य सब समान हैं। मतलब, कि सबकी वह समान भावसे सेवा करेगा—यह नहीं कि किसीको बड़ा मानकर उसका मान करेगा और दूसरेको तुच्छ समझकर उसका तिरस्कार करेगा। अनासक्त मनुष्य अपनेको सबका देनदार मानेगा, सबको उनका लहना चुकावेगा और पूरा न्याय करेगा। उसने जीते-जी जगतको जीत लिया है, वह ब्रह्ममय है। अपना प्रिय करनेवालेपर वह रीझता नहीं, गाली देनेवालेपर खीझता नहीं। आसक्तिवान सुखको बाहर ढूंढ़ता है, अनासक्त निरंतर भीतरसे शांति पाता है, क्योंकि उसने बाहरसे जीवको समेट लिया

है। इंद्रियजन्य सारे भोग दुःखके कारण हैं। मनुष्यको काम-क्रोधसे उत्पन्न उपद्रव सहन करने चाहिएं। अनासक्त योगी सब प्राणियोंके हितमें ही लगा रहता है। वह शंकाओंसे पीड़ित नहीं होता। ऐसा योगी बाहरी जगतसे निराला रहता है, प्राणायामादिके प्रयोगोंसे अंतर्मुखताका यत्न करता रहता है और इच्छा, भय, क्रोध आदिसे पृथक रहता है। वह मुझे ही सबका महेश्वर, मित्ररूप, यज्ञादिके भोक्ताकी भांति जानता है और शांति प्राप्त करता है।

छठा अध्याय

मंगलप्रभात
१६-१२-३०

श्रीभगवान कहते हैं—कर्म-फल त्यागकर कर्तव्य-कर्म करनेवाला मनुष्य संन्यासी कहलाता है और योगी भी कहलाता है। जो क्रियामात्रका त्याग कर बैठता है वह आलसी है। असली बात तो है मनके घोड़े दौड़ाना छोड़नेकी। जो योग अर्थात् समत्वको साधना चाहता है उसकी कर्म बिना गुजर ही नही।

जिसे समत्व प्राप्त हो गया है वह शांत दिखाई देता है। तात्पर्य, उसके विचारमात्रमें कर्मका बल आ गया रहता है। जब मनुष्य इंद्रियके विषयोंमें या कर्ममें आसक्त न हो और मनकी सारी तरंगोंको छोड़ दे तब कहना चाहिए कि उसने योग साधा है, वह योगारूढ़ हुआ है।

आत्माका उद्धार आत्मासे ही होता है। तब कह सकते हैं कि आत्मा स्वयं ही अपना शत्रु बनता है और मित्र बनता है। जिसने मनको जीता है उसका आत्मा मित्र है, जिसने नहीं जीता है उसका आत्मा शत्रु है। मनको जीतनेवालेकी पहचान है कि उसके लिए सरदी-गरमी, सुख-दुःख, मान-अपमान सब एक समान होते हैं। योगी उसका नाम है जिसे ज्ञान है, अनुभव है, जो अविचल है, जिसने इंद्रियोंपर विजय पाई है और जिसके लिए सोना, मिट्टी या पत्थर समान है। वह शत्रु-मित्र, साधु-असाधु इत्यादिके प्रति समभाव रखता है। ऐसी स्थितिको पहुंचनेके लिए मन स्थिर करना, वासनाएं त्यागना और एकांतमें बैठकर परमात्माका ध्यान करना चाहिए। केवल आसन आदि ही बस नहीं हैं। समत्व-प्राप्तिके इच्छुकोंको ब्रह्मचर्यादि महाव्रतोंका भली प्रकार पालन

करना चाहिए। यों आसनबद्ध हुए यम-नियमोंका पालन करनेवाले मनुष्यको अपना मन परमात्मामें स्थिर करनेसे परम शांति प्राप्ति होती है।

यह समत्व ठूस-ठूसकर खानेवाला तो नहीं पा सकता, पर कोरे उपवाससे भी नहीं मिलता, न बहुत सोनेवालेको मिलता है; वैसे ही बहुत जागनेसे भी हाथ नहीं आता। समत्व-प्राप्तिके इच्छुकको तो सबमें —खानेमें, पीनेमें, सोने-जागनेमें भी मर्यादाकी रक्षा करनी चाहिए। एक दिन खूब खाया और दूसरे दिन उपवास, एक दिन खूब सोये और दूसरे दिन जागरण, एक दिन खूब काम करना और दूसरे दिन अलसाना, यह योगकी निशानी नहीं है। योगी तो सदैव स्थिर-चित्त होता है और कामना मात्रका वह अनायास त्याग किये रहता है। ऐसे योगी की स्थिति निर्वात स्थानमें दीपककी भांति स्थिर रहती है। उसे जगके खेल अथवा अपने मनमें उठनेवाले विचारोंकी लहरें डावांडोल नहीं कर सकती। धीरे-धीरे किंतु दृढ़ता-पूर्वक प्रयत्न करनेसे यह योग सध सकता है। मन चंचल है इससे इधर-उधर दौड़ता है, उसे धीरे-धीरे स्थिर करना चाहिए। उसके स्थिर होनेसे ही शांति मिलती है। या मनकी स्थिरताके लिए निरंतर आत्म-

चिंतन आवश्यक है। ऐसा मनुष्य सब जीवोंको अपनेमें और अपनेको सबमें देखता है; क्योंकि वह मुझे सबमें और सबको मुझमें देखता है। जो मुझमें लीन है, मुझे सर्वत्र देखता है, वह स्वयं नहीं रह गया है; इसलिए चाहे जो करता हुआ भी मुझीमें पिरोया हुआ रहता है। उसके हाथसे कभी कुछ अकरणीय नहीं हो सकता।

अर्जुनको यह योग कठिन लगा। वह बोला, "यह आत्म-स्थिरता कैसे प्राप्त हो ? मन तो बंदरके समान है। मनका रोकना हवा रोकनेके समान है। ऐसा मन कब और कैसे वशमें आता है ?"

भगवानने उत्तर दिया, "तेरा कहना सच है। पर राग-द्वेषको जीतने और प्रयत्न करनेसे कठिनको आसान किया जा सकता है। 'निस्संदेह' मनको जीते बिना योगका साधन नहीं बन सकता।

तब फिर अर्जुन पूछता है, "मान लीजिए कि मनुष्यमें श्रद्धा है, पर उसका प्रयत्न मंद होनेसे वह सफल नहीं होता। ऐसे मनुष्यकी क्या गति होती है ? वह बिखरे बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता ?"

भगवान बोले, "ऐसे श्रद्धालुका नाश तो होता

ही नहीं। कल्याण-मार्गीकी अवगति नही होती। ऐसा मनुष्य मरनेपर कर्मानुसार पुण्यलोकमें बसनेके बाद पृथ्वीपर लौट आता है और पवित्र घरमें जन्म लेता है। ऐसा जन्म लोकोंमें दुर्लभ है। ऐसे घरमें उसके पूर्व संस्कार उदय होते हैं। अब प्रयत्नमें तेजी आती है और अंतमें उसे सिद्धि मिलती है। यों प्रयत्न करते-करते कोई जल्दी और कोई अनेक जन्मोंके बाद अपनी श्रद्धा और प्रयत्नके बलके अनुसार समत्वको पाता है। तप, ज्ञान, कर्मकांडसंबंधी कर्म —इन सबसे समत्व विशेष है, क्योंकि तपादिका अंतिम परिणाम भी समता ही होना चाहिए। इसलिए तू समत्व लाभ कर और योगी हो। अपना सर्वस्व मुझे अर्पण कर और श्रद्धापूर्वक मेरी ही आराधना करनेवालोंको श्रेष्ठ समझ।"

इस अध्यायमें प्राणायाम-आसन आदिकी स्तुति है। पर स्मरण रखे कि भगवानने उसीके साथ ब्रह्मचर्यका अर्थात् ब्रह्म-प्राप्तिके यम-नियमादि पालनकी आवश्यकता बतलाई है। यह समझ लेना आवश्यक है कि आसनादि अकेली क्रियासे कभी समत्व नहीं प्राप्त हो सकता। यदि उस हेतुसे वे क्रियाएं हों तो आसन-प्राणायामादि मनको स्थिर करनेमें,

एकाग्र करनेमें थोड़ी-सी मदद करते हैं, अन्यथा उन्हें अन्य शारीरिक व्यायामोंकी श्रेणीमें समझकर उतनी ही—शरीरसुधारभर ही—कीमत माननी चाहिए। शारीरिक व्यायामरूपमें प्राणायामादिका बहुत उपयोग है। व्यायामोंमें यह व्यायाम सात्विक है। शारीरिक दृष्टिसे इसका साधन उचित है। पर उससे सिद्धियां पाने और चमत्कार देखनेको ये क्रियाएं करनेमें मैंने लाभके बजाय हानि होते देखी है। यह अध्याय तीसरे, चौथे और पांचवें अध्यायका उपसंहार-रूप समझना चाहिए। यह प्रयत्नशीलको आश्वासन देता है। हमें समता प्राप्त करनेका प्रयत्न हारकर कभी नहीं छोड़ना चाहिए।

सातवां अध्याय

मंगलप्रभात

२३-१२-३०

भगवान बोले, "हे पार्थ ! अब मैं तुम्हें बतलाऊंगा कि मुझमें चित्त पिरोकर और मेरा आश्रय लेकर कर्मयोगका आचरण करता हुआ मनुष्य निश्चयपूर्वक मुझे संपूर्ण रीतिसे कैसे पहचान सकता है। इस अनुभव-

युक्त ज्ञानके बाद फिर और कुछ जाननेको बाकी नही रहेगा । हजारोंमें कोई-कोई ही उसकी प्राप्तिका प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवालोंमें कोई ही सफल होता है ।

पृथ्वी, जल, आकाश, तेज और वायु तथा मन, बुद्धि और अहंकारवाली आठ प्रकारकी एक मेरी प्रकृति है । इसे 'अपरा' प्रकृति और दूसरेको 'परा' प्रकृति कहते हैं, जो जीवरूप है । इन दो प्रकृतियोंसे अर्थात् देह और जीवके संबंधसे सारा जगत है । जैसे मालाके आधारपर उसके मणिये रहते हैं वैसे जगत मेरे आधार-पर विद्यमान हैं। तात्पर्य,——जलमें रस मैं हूं, सूर्य-चंद्रका तेज मैं हूं, वेदोंका ॐकार मैं हूं, आकाशका शब्द मैं हूं, पुरुषोंका पराक्रम मैं हूं, मिट्टीमें सुगंध मैं हूं, अग्निका तेज मैं हूं, प्राणीमात्रका जीवन मैं हूं, तपस्वीका तप मैं हूं, बुद्धिमानकी बुद्धि मैं हूं, बलवानका शुद्धबल मैं हूं, जीवमात्रमें विद्यमान धर्मकी अविरोधी कामना मैं हूं, संक्षेपमें सत्त्व, रजस् और तमस्से उत्पन्न होने वाले सब भावोंको मुझसे उत्पन्न हुआ जान; उनकी स्थिति मेरे आधारपर ही है । मेरी त्रिगुणी मायाके कारण इन तीन भावों या गुणोंमें रचे-पचे लोग मुझ अविनाशीको पहचान नहीं सकते । उसे तर जाना

कठिन है। पर मेरी शरण लेनेवाले इस माया को अर्थात् तीन गुणोंको लांघ सकते हैं।

पर ऐसे मूढ़ लोग मेरी शरण कैसे ले सकते हैं कि जिनके आचार-विचारका कोई ठिकाना नहीं है? वे तो मायामें पड़े अंधकारमें ही चक्कर काटा करते हैं और ज्ञानसे वंचित रहते हैं; पर श्रेष्ठ आचारवाले मुझे भजते हैं। इनमें कोई अपना दुःख दूर करनेको मुझे भजता है, कोई मुझे पहचाननेकी इच्छासे भजता है और कोई कर्तव्य समझकर ज्ञानपूर्वक मुझे भजता है। मुझे भजनेका अर्थ है मेरे जगतकी सेवा करना। उसमें कोई दुःखके मारे, कोई कुछ लाभ-प्राप्तिकी इच्छासे, कोई इस खयालसे कि चलो देखा जाय क्या होता है और कोई समझ-बूझकर इसलिए कि उसके बिना उनसे रहा ही नहीं जाता, सेवापरायण रहते हैं। ये अंतिम मेरे ज्ञानी भक्त हैं, और मैं कहूंगा कि मुझे ये सबसे अधिक प्यारे हैं। या यह समझो कि वे मुझे अधिक-से-अधिक पहचानते हैं और मेरे निकट-से-निकट हैं। अनेक जन्मोंके बाद ही मनुष्य ऐसा ज्ञान पाता है और उसे पानेपर इस जगतमें मुझ वासुदेवके सिवा और कुछ नहीं देखता। पर कामनावाले मनुष्य तो भिन्न-भिन्न देवताओंको भजते हैं और जिसकी जैसी

भक्ति उसको वैसा फल देनेवाला तो मैं ही हूं। उन ओछी समझवालोंको मिलनेवाला फल भी वैसा ही ओछा होता है और उतनेसे ही उनको संतोष भी रहता है। वे अपनी कमअक्लीसे मानते हैं कि मुझे वे इंद्रियों-द्वारा पहचान सकते हैं। वे नहीं समझते कि मेरा अविनाशी और अनुपम स्वरूप इंद्रियोंसे परे है तथा हाथ, कान, नाक, आंख, इत्यादिद्वारा पहचाना नही जा सकता। इसे मेरी योगमाया समझ कि इस प्रकार सारी चीजोंका विधाता होनेपर भी अज्ञानी लोग मुझे पहचान नही सकते। रागद्वेषके द्वारा सुख-दु:ख होते ही रहते हैं और उसके कारण जगत मोहग्रस्त रहता है; पर जो उसमेंसे छूट गये हैं और जिनके आचार-विचार निर्मल हो गये हैं वे तो अपने व्रतमें निश्चल रहकर निरंतर मुझे ही भजते हैं। वे पूर्ण ब्रह्मरूपसे सब प्राणियोंमें भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले जीवरूपमें रहे हुए मुझे और मेरे कर्मको जानते हैं। यों जो मुझे अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञरूपसे पहचानते हैं और इससे जिन्होंने समत्व प्राप्त किया है, वे मृत्युके अनंतर जन्म-मरणके बंधनसे मुक्त हो जाते हैं; क्योंकि इतना जान लेनेपर उनका मन अन्यत्र नही भटकता और सारे जगत-

को ईश्वरमय देखते हुए वे ईश्वरमें ही समा जाते हैं।"

आठवां अध्याय

सोमप्रभात
२९-१२-३०

अर्जुन पूछता है, "आपने पूर्णब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञका नाम लिया, पर इन सबोंका अर्थ मैंने समझा नहीं। फिर आप कहते हैं कि आपको अधिभूतरूपसे जानकर समत्वको प्राप्त हुए लोग मृत्युके समय पहचानते हैं। यह सब मुझे समझाइये।"

भगवानने उत्तर दिया, "जो सर्वोत्तम नाशरहित स्वरूप है वह पूर्णब्रह्म है और जो प्राणीमात्रमे कर्ता भोक्तारूपसे देह धारण किये हुए है वह अध्यात्म है। प्राणीमात्रकी उत्पत्ति जिस क्रिया से होती है उसका नाम कर्म है। अतः यह भी कह सकते हैं कि जिस क्रियासे उत्पत्तिमात्र होती है वह कर्म है। मेरा नाशवान देहस्वरूप अधिभूत है और यज्ञद्वारा शुद्ध हुआ अध्यात्मस्वरूप अधियज्ञ है। यों देहरूपमें,

मूर्छित जीवरूपमें, शुद्ध जीवरूपमें और पूर्ण ब्रह्मरूपमें सर्वत्र मैं ही हूं और ऐसा जो मैं हूं उसका मृत्युके समयमें जो ध्यान धरता है, अपनेको बिसार देता है, किसी प्रकारकी चिंता नही करता, इच्छा नही करता वह निस्संदेह मेरे स्वरूपको प्राप्त करता है। मनुष्य जिस स्वरूपका नित्य ध्यान धरता है, अंतकालमें भी उसीका ध्यान रहे तो उस स्वरूपको वह पाता है। और इसीलिए तू नित्य मेरा ही स्मरण रख। मुझमें ही मन-बुद्धि पिरो रख। तब मुझे ही पावेगा। तू इस प्रकार चित्तके स्थिर न हो पानेकी बात कहेगा। मेरा कहना है कि नित्यके अभ्याससे, नित्यके प्रयत्नसे इस प्रकार मनुष्य एकध्यान अवश्य हो जाता है; क्योंकि मैं तुझसे कह चुका हूं कि मूलकी दृष्टिसे विचारनेपर तो देहधारी भी मेरा ही स्वरूप है। इसलिए मनुष्यको पहलेसे ही तैयारी करनी चाहिए कि मृत्युके समय मन चलायमान न हो, भक्तिमें लीन रहे, प्राणको स्थिर रखे और सर्वज्ञ पुरातन, नियंता, सूक्ष्म होते हुए भी सबके पालनकी शक्ति रखनेवाले, चिंतनद्वारा तत्काल न पहचाने जा सकनेवाले, सूर्यके समान अंधकार-अज्ञान मिटानेवाले परमात्माका ही स्मरण करे।

इस परम पदको वेद अक्षरब्रह्म नामसे पहचानते हैं, राग-द्वेषादि त्यागी मुनि उसे पाते हैं और उस पदकी प्राप्तिके सब इच्छुक ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। तात्पर्य, काया, वाचा और मनको अंकुशमें रखते हैं, विषयमात्रका तीनों प्रकारसे त्याग करते हैं। इंद्रियोंको समेट लेकर ॐका उच्चारण करते, मेरा ही चिंतन करते-करते देह छोड़नेवाले स्त्री-पुरुष परम पद पाते हैं। ऐसोंका चित्त कही अन्यत्र नही भटकता और यों मुझे पाकर यह दुःख-निवासरूपी जन्म फिर नहीं लेना पड़ता। इस जन्म-मरणके चक्कर-मे छूटनेका उपाय मेरी प्राप्ति ही है।

अपने सौ वर्षके जीवनकालसे मनुष्य कालका अनुमान लगाता है और उतने समयमें हजारों जाल फैलाता है; पर काल तो अनंत है। हजारों युगोंको ब्रह्माके एक दिनके बराबर समझ। इसमें मनुष्यके एक दिनकी या सौ वर्षकी क्या बिसात है? इस तनिकसे समयको लेकर इतनी व्यर्थकी दौड़-धूप क्यों? जिस अनंत कालके चक्रमें मनुष्यका जीवन क्षणमात्रके समान है उसमें तो ईश्वरका ध्यान ही शोभा देता है, क्षणिक भोगोंके पीछे दौड़ना नही। ब्रह्माके रात-दिनमें उत्पत्ति और नाश चलता ही रहता है और चलता रहेगा।

उत्पत्ति-लय करनेवाला ब्रह्मा भी मेरा ही भाव है। वह अव्यक्त है, इंद्रियोंसे नहीं जाना जा सकता। इससे भी परे मेरा अन्य अव्यक्त स्वरूप है जिसका कुछ वर्णन मैंने तुझसे किया है। उसे पानेवाला जन्म-मरणसे छूट जाता है; क्योंकि इस स्वरूपके लिए रात-दिनवाला द्वंद्व नही है, यह केवल शांत अचल स्वरूप है। इसके दर्शन अनन्य भक्तिसे ही होते हैं। इसीके आधारपर सारा जगत है और वह स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है।

कहते हैं कि उत्तरायणके शुक्लपक्षके दिनोंमें मरनेवाला उपर्युक्त प्रकारसे स्मरण करता हुआ मुझे पाता है और दक्षिणायनमें, कृष्णपक्षकी रात्रिमें मृत्यु पानेवालेके पुनर्जन्मके चक्कर बाकी रह जाते हैं। इसका अर्थ यों किया जा सकता है कि उत्तरायण और शुक्लपक्ष यह निष्काम सेवा मार्ग है और दक्षिणायन और कृष्णपक्ष स्वार्थमार्ग है। सेवा-मार्ग अर्थात् ज्ञानमार्ग, स्वार्थमार्ग अर्थात् अज्ञानमार्ग। ज्ञानमार्गसे चलनेवालेको मोक्ष है और अज्ञानमार्गसे चलनेवालेको बंधन। इन दोनों मार्गोंको जान लेनेपर कौन मोहमें रहकर अज्ञानमार्गको पसंद करेगा? इतना जाननेपर मनुष्यमात्रको सब पुण्य-फल छोड़कर, अनासक्त रह-

कर, कर्तव्यमें परायण रहकर मैंने जो कहा है वह उत्तम स्थान पानेका ही प्रयत्न करना चाहिए।

नवां अध्याय

सोमप्रभात

५-१-३१

गत अध्यायके अंतिम श्लोकमें योगीका उच्च स्थान बतला देनेपर भगवानके लिए अब भक्तिकी महिमा बतलाना ही बाकी रह जाता है; क्योंकि गीताका योगी शुष्क ज्ञानी नहीं है, न बाह्याचारी भक्त ही। गीताका योगी ज्ञान और भक्तिमय अनासक्त कर्म करनेवाला है। अतः भगवान कहते हैं— तुझमें द्वेष नहीं है, इससे तुझे मैं गुह्य ज्ञान कहता हूं कि जिसे पाकर तेरा कल्याण होगा। यह ज्ञान सर्वोपरि है, पवित्र है और आचारमें अनायास लाया जा सकने योग्य है। जिसे इसमें श्रद्धा नहीं होती वह मुझे नही पा सकता। मेरे स्वरूपको मनुष्यप्राणी इंद्रियोंद्वारा नहीं पहचान सकते तथापि इस जगतमें वह व्यापक है। जगत उसके आधारपर स्थित है। वह जगतके आधारपर नहीं है। फिर यों भी कहा

जाता है कि ये प्राणी मुझमें नहीं हैं और मैं उनमें नहीं हूं । यद्यपि मैं उनकी उत्पत्तिका कारण हूं और उनका पोषणकर्ता हूं । वे मुझमें नहीं हैं और मैं उनमें नहीं हूं, क्योंकि वे अज्ञानमें रहनेके कारण मुझे जानते नही हैं, उनमें भक्ति नहीं है । तू समझ कि यह मेरा चमत्कार है ।

पर मैं प्राणियोंमें नहीं हूं ऐसा जान पडता है, तथापि वायुकी भांति मैं सर्वत्र फैला हुआ हूं । और सारे जीव युगका अंत होनेपर लय हो जाते है और आरंभ होनेपर फिर जन्मते हैं । इन कर्मोंका कर्ता होनेपर भी वह मुझे बंधनकारक नहीं है; क्योंकि उनमें मुझे आसक्ति नहीं है, उनमें मैं उदासीन हूं । वे कर्म होते रहते है; क्योंकि यह मेरी प्रकृति है, मेरा स्वभाव है । पर ऐसा जो मै हूं उसे लोग पहचानते नहीं हैं, इसलिए वे नास्तिक बने रहते हैं । मेरे अस्तित्व-से ही इनकार करते हैं । ऐसे लोग झूठे हवाई महल बनाते रहते हैं। उनके कर्म भी व्यर्थ होते हैं और वे अज्ञानसे भरपूर होनेके कारण आसुरी वृत्तिवाले होते हैं। पर दैवी वृत्तिवाले, अविनाशी और सिरजन-हार जानकर, मुझे भजते हैं । वे दृढ़-निश्चयी होते हैं, नित्य-प्रयत्नवान रहते हैं, मेरा भजन-कीर्तन करते

और मेरा ध्यान धरते हैं। इसके सिवा कितने ही मुझे एक ही माननेवाले हैं। कितने ही मुझे बहुरूप मानते हैं। मेरे अनंतगुण होनेके कारण बहुरूपसे माननेवाले भिन्न गुणोंको भिन्न रूपसे देखते हैं। पर इन सबको तू भक्त जान।

यज्ञका संकल्प मैं, यज्ञ मैं, पितरोंका आधार मैं, यज्ञकी वनस्पति मैं, मंत्र मैं, आहुति मैं, हविष्य मैं, अग्नि मैं और जगतका पिता मैं, माता मैं, जगतको धारण करनेवाला मैं, पितामह मैं, जानने योग्य भी मैं, ॐकार मंत्र मैं, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद मैं, गति मैं, पोषण मैं, प्रभु मैं, साक्षी मैं, आश्रय मैं, कल्याण चाहनेवाला भी मैं, उत्पत्ति और नाश मैं, सर्दी-गर्मी मैं, सत् और असत् भी मैं हूं।

वेदमें वर्णित क्रियाएं फल-प्राप्तिके लिए होती हैं। अतः उन्हें करनेवाले स्वर्ग चाहे पावें; पर जन्म-मरणके चक्करसे नहीं छूटते। पर जो एक ही भावसे मेरा चिंतन करते रहते हैं और मुझे ही भजते हैं, उनका सारा भार मैं उठाता हूं। उनकी आवश्यकताएं मैं पूरी करता हूं और उनकी मैं ही संभाल करता हूं। अन्य कुछ, दूसरे देवताओंमें श्रद्धा रखकर उन्हें भजते हैं, इसमें अज्ञान है तथापि अंतमें तो वे भी मुझे ही

भजनेवाले माने जायंगे; क्योंकि यज्ञमात्रका मैं ही स्वामी हूं। पर मेरी इस व्यापकताको न जानकर वे अंतिम स्थितिको पहुंच नहीं सकते। देवताओंको पूजनेवाले देवलोक, पितरोंको पूजनेवाले पितृलोक, भूतप्रेतादिको पूजनेवाले उनका लोक और ज्ञानपूर्वक मुझे भजनेवाले मुझे पाते हैं। जो मुझे एक पत्तातक भक्तिपूर्वक अर्पण करते हैं उन प्रयत्नशील मनुष्योंकी भक्तिको मैं स्वीकार करता हूं। इसलिए जो कुछ तू करे वह सब मुझे अर्पण करके ही करना। तब शुभ-अशुभ फलका उत्तरदायित्व तेरा नहीं रहेगा। जब तूने फलमात्रका त्याग कर दिया तब तेरे लिए जन्म-मरणके चक्कर नही रह गये। मुझे सब प्राणी समान हैं। एक प्रिय और दूसरा अप्रिय हो, यह नहीं है। पर जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे तो मुझमें हैं और मैं उनमें हूं। इसमें पक्षपात नही है; बल्कि यह उन्होंने अपनी भक्तिका फल पाया है। इस भक्तिका चमत्कार ऐसा है कि जो एक भावसे मुझे भजते हैं वह दुराचारी हों तो भी साधु बन जाते हैं। सूर्यके सामने जैसे अंधेरा नही ठहरता वैसे मेरे पास आते ही मनुष्यके दुराचारोंका नाश हो जाता है। इसलिए तू निश्चय समझ ले कि मेरी

भक्ति करनेवाले कभी नाशको प्राप्त ही नहीं होते। वे तो धर्मात्मा होते हैं और शांति भोगते हैं। इस भक्तिकी महिमा ऐसी है कि जो पापयोनिमें जन्मे माने जाते हैं वे, और निरक्षर स्त्रियां, वैश्य और शूद्र, जो मेरा आश्रय लेते हैं वे, मझे पाते ही है, तब पुण्यकर्म करनेवाले ब्राह्मण-क्षत्रियोंका तो कहना ही क्या रहा ? जो भक्ति करता है उसे उसका फल मिलता है। इसलिए तू जब असार संसारमें आ गया है तो मुझे भजकर उसे तर जा। अपना मन मुझमे पिरो दे, मेरा ही भक्त रह, अपने यज्ञ भी मेरे लिए कर, अपने नमस्कार भी मुझे ही पहुंचा और इस भांति मुझमें तू परायण होगा और अपनी आत्माको मुझमें होमकर शून्यवत् हो जायगा तो तू मुझे ही पावेगा।

मंगलप्रभात

टिप्पणी—इसमेंसे हम पाते है कि भक्तिका तात्पर्य है ईश्वरमें आसक्ति। अनासक्तिके अभ्यासका भी यह सरल-से-सरल उपाय है। इससे अध्यायके आरंभमें प्रतिज्ञा की है कि भक्ति राजयोग है और सरलमार्ग है। हृदयमें जो बैठ जाय वह सरल है, जो न बैठे वह विकट है। इसीसे उसे 'सिरका सौदा' भी माना गया है। पर यह ऐसा है कि देखनेवाले

जलते है। अदर पड़े हुए महासुख मानते है। कवि लिखता है कि उबलते तेलकी कड़ाहीमे सुधन्वा हँसता था और बाहर खड़े हुए कापते थे। कथा है कि नद अत्यजकी जब अग्निपरीक्षा हुई तब वह अग्निमे नाचता था। इन सबकी सचाईकी ऐतिहासिकताकी खोजकी जरूरत नहीं है। जो किसी भी चीजमे लीन होता है उसकी ऐसी ही स्थिति होती है। वह अपनपेको भूल जाता है; पर प्रभुको छोडकर दूसरेमें लीन कौन होगा ?

'शक्कर गन्नेका स्वाद छोड कडुवे नीमको मन घोल रे.
'सूरज-चादका तेज तज, जुगनूमे मन मन जोड़ रे।'

अत नवा अध्याय बतलाता है कि प्रभुमे आसक्ति अर्थात् भक्ति बिना फलमे अनासक्ति असभव है। अंतिम श्लोक सारे अध्यायका निचोड है और हमारी भाषामे उसका अर्थ है—"तू मुझमे समा जा।"

दसवां अध्याय

सोमप्रभात
१२-१-३१

भगवान कहते है—दोबारा भक्तोके हितके लिए

कहना हूं सो सुन। देव और महर्षिगण तक मेरी उत्पत्ति नहीं जानते हैं, क्योंकि मेरे लिए उत्पन्नता ही नही है। मैं उनकी और अन्य सबकी उत्पत्तिका कारण हूं। जो ज्ञानी मुझे अजन्मा और अनादिरूप-में पहचानते है वे सब पापोंसे मुक्त हो जाते है; क्योंकि परमेश्वरको इस रूपमें जानने और अपने को उसकी प्रजा अथवा उसके अंशकी भांति पहचाननेपर मनुष्य-की पापवृत्ति नही रह सकती। पापवृत्तिका मूल ही निज संबंधी अज्ञान है।

जैसे प्राणी मुझमे पैदा हुए है, वैसे उनके भिन्न-भिन्न भाव भी, जैसे क्षमा, सत्य, सुख, दुःख, जन्म-मृत्यु, भय-अभय आदि भी मुझसे उत्पन्न हुए हैं। यह सब मेरी विभूति है। जो यह जान लेते है उनमें सहज ही समता उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि वे अहंताको छोड़ देते हैं। उनका चित्त मुझमे ही पिरोया हुआ रहता है, वे मुझे अपना सब कुछ अर्पण करते है, परस्पर मेरे विषयमें ही वार्तालाप करते हैं, मेरा ही कीर्तन करते हं और संतोष तथा आनंदसे रहते हैं। इस प्रकार जो मुझे प्रेमपूर्वक भजते है और मुझमें ही जिनका मन रहता है उन्हें मै ज्ञान देता हूं और उसके द्वारा वे मुझे पाते है।

तब अर्जुनने स्तुति की—आप ही परब्रह्म हैं, परमधाम हैं, पवित्र हैं, ऋषि आदि आपको आदिदेव, अजन्मा, ईश्वररूपसे भजते है ऐसा आप ही कहते हैं हे स्वामी, हे पिता ! आपका स्वरूप कोई जानता नही है, आपही अपनेको जानते है। अब मुझसे अपनी विभूतियाँ और साथ ही यह कहिये कि आपका चिंतन करते हुए मै आपको कैसे पहचान सकता हूं।

भगवानने जबाब दिया—मेरी विभूतियां अनंत हैं, उनमेंसे थोड़ी खास-खास तुमसे कह देता हूं। सब प्राणियोंके हृदयमें रहा हुआ मै हूं। मैं ही उनकी उत्पत्ति, उनका मध्य और उनका अंत हूं। आदित्यो-में विष्णु मैं, उज्ज्वल वस्तुओंमे प्रकाश देनेवाला सूर्य मै, वायुओंमे मरीचि मैं, नक्षत्रोंमें चंद्र मैं, वेदोंमें साम-वेद मै, देवोंमें इंद्र मै, इंद्रियोंमें मन मैं, प्राणियोंमें चेतन-शक्ति मै, रुद्रोंमें शंकर मै, यक्ष-राक्षसोमें कुबेर मैं, दैत्योंमे प्रह्लाद मैं, पशुओंमें सिंह मै, पक्षियोमें गरुड मै और छल करनेवालोंमें द्यूत (जुवा) भी मुझे ही जान। इस जगतमे जो कुछ होता है वह मेरी मरजी बिना हो ही नहीं सकता। अच्छा और बुरा भी मैं ही होने देता हूं तभी होता है। यह जानकर मनुष्यको अभिमान छोड़ना चाहिए और बुरे से बचना चाहिए,

क्योंकि भले-बुरेका फल देनेवाला भी मैं हूं। तू इतना जान कि यह सारा जगत मेरी विभूतिके एक अंश-मात्रसे स्थित है।

ग्यारहवां अध्याय

सोमप्रभात
१२-१-३१

अर्जुनने विनय की, "भगवन्! आपने मुझे आत्माके विषयमें जो वचन कहे उससे मेरा मोह दूर हो गया है। आप ही सब हैं, आप ही कर्ता हैं, आप ही संहर्ता हैं, आप नाशरहित हैं। यदि संभव हो तो अपने ईश्वरीरूपका दर्शन मुझे कराइये।"

भगवान बोले, "मेरे रूप हजारों हैं और अनेक रंगवाले हैं। उसमें आदित्य, वसु, रुद्र इत्यादि समाये हुए हैं। मुझमें सारा जगत—चर और अचर—समाया हुआ है। यह रूप तू अपने चर्म-चक्षुओंसे नहीं देख सकता। अतः मैं तुझे दिव्य-चक्षु देता हूं, उनके द्वारा तू देख।"

संजयने धृतराष्ट्रसे कहा, "हे राजन्! भगवानने अर्जुनको यह कहकर अपना जो अद्भुत रूप दिखाया

उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। हम लोग नित्य एक सूर्य देखते हैं, पर खयाल कीजिए कि ऐसे हजारों सूर्य नित्य उगें तो उनका तेज जैसा होगा उससे भी अधिक यह तेज चकाचौंध पैदा करनेवाला था। इसके आभूषण और वस्त्र भी ऐसे ही दिव्य थे। उसके दर्शन करके अर्जुनके रोएं खड़े हो गए, उसका सिर चकराने लगा और कांपते-कांपते वह स्तुति करने लगा—

हे देव! आपकी इस विशाल देहमें मैं तो सब कुछ और सब किसीको देखता हूं। ब्रह्मा उसमें हैं, महादेव उसमें हैं, उसमें ऋषि हैं, सर्प हैं, आपके हाथ-मुंहका गिनना कठिन है। आपका आदि नहीं है, अंत नहीं है, मध्य नहीं है। आपका रूप मानो तेजका सुमेरु है। देखते आंखें चौंधिया जाती हैं, सुलगते हुए अंगारोंकी भांति आप झलक रहे हैं और तप रहे हैं। आप ही जगतके आधार हैं, आप ही पुराण-पुरुष हैं, आप ही धर्मके रक्षक हैं। जहां देखता हूं वहां आपके अवयव दिखाई दे रहे हैं। सूर्य-चंद्र तो आपकी आंखों-सरीखे जान पड़ते हैं। आपने ही इस पृथ्वी और आकाशको व्याप्त कर रखा है। आपका तेज सारे जगतको तपा रहा है। यह जगत थरथरा

रहा है। देव, ऋषि, सिद्ध इत्यादि सब हाथ जोड़कर कांपते हुए आपकी स्तुति कर रहे हैं। यह विराटरूप और यह तेज देखकर मैं तो व्याकुल हो गया हूं, शांति और धैर्य छूटा जा रहा है। हे देव! प्रसन्न होइये। आपकी दाढ़ें विकराल हैं, आपके मुंहमें, जैसे दीपकपर पतंगे गिरते हैं, वैसे इन लोगोंको गिरते देख रहा हूं और आप उनको चूर कर रहे हैं। यह उग्र रूप आप कौन हैं? आपकी प्रवृत्तिको मै समझ नही पा रहा हू।

भगवान बोले—लोकोंका नाश करनेवाला मैं काल हूं। तू चाहे लड़ या न लड़, इन सबका नाश समझ। तू तो निमित्तमात्र है।

अर्जुन बोला—हे देव! हे जगन्निवास! आप अक्षर हैं, सत् हैं, असत् हैं और उससे जो परे है वह भी आप ही हैं। आप आदिदेव हैं, आप पुराणपुरुष हैं, आप इस जगतके आश्रय हैं। आप ही जाने योग्य हैं। वायु, यम, अग्नि, प्रजापति भी आप ही हैं। आपको हजारों नमस्कार पहुंचे। अब अपना मूल रूप धारण कीजिए।

इसपर भगवानने कहा—तेरे ऊपर प्रसन्न होकर मैंने तुझे अपना विश्वरूप दिखाया है। वेदाभ्याससे,

यज्ञसे, अन्य शास्त्रोंके अभ्याससे, दानसे, तपसे भी यह रूप नहीं देखा जा सकता, जो तूने आज देखा है। इसे देखकर तू परेशान मत हो। भय त्यागकर शांत हो और मेरा परिचित रूप देख। मेरे यह दर्शन देवोंको भी दुर्लभ हैं। यह दर्शन केवल शुद्ध भक्तिसे ही हो सकते हैं। जो अपने सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्तिमात्रको छोडता है और प्राणीमात्रके विषयमें प्रेममय रहता है वही मुझे पाता है।

टिप्पणी---दसवेंकी भांति इस अध्यायको भी मैंने जान-बूझकर संक्षिप्त किया है। यह अध्याय काव्यमय है। इसलिए या तो मूलमें अथवा अनुवाद-रूपमें जैसा है वैसा ही बारंबार पढने योग्य है। इससे भक्तिका रस उत्पन्न होनेकी संभावना है। वह रस पैदा हुआ है या नहीं यह जाननेकी कसौटी अंतिम श्लोक है। सर्वार्पण बिना और सर्वव्यापक प्रेमके बिना भक्ति नहीं है। ईश्वरके कालरूपका मनन करनेसे और उसके मुखमें सृष्टिमात्रको समा जाना है---प्रतिक्षण कालका यह काम चलता ही रहता है---इसका भान आ जानेसे सर्वार्पण और जीवमात्रके साथ ऐक्य अनायास हो जाता है। चाहे बिनचाहे

इस मुखमें हम अकल्पित क्षणमें पड़नेवाले हैं। वहां छोटे-बड़ेका, नीच-ऊंचका, स्त्री-पुरुषका, मनुष्य-मनुष्येतरका भेद नहीं रहता है। सब कालेश्वरके एक कौर हैं यह जानकर हम क्यों दीन, शून्यवत् न बनें, क्यों सबके साथ मैत्री न करें ? ऐसा करनेवालेको वह काल-स्वरूप भयंकर नही, बल्कि शांतिस्थल लगेगा।

बारहवां अध्याय

मंगलप्रभात
४-११-३०

आज तो बारहवे अध्यायका सार देना चाहता हूं।[1] यह भक्तियोग है। विवाहके अवसरपर दंपतीको पांच यज्ञोंमें इसे भी एक यज्ञरूपसे कंठ करके मनन करनेको हम कहते हैं। भक्तिके बिना ज्ञान तथा कर्म शुष्क हैं और उनके बंधनरूप हो जानेकी संभावना है। इसलिए भक्ति-भावसे गीताका यह मनन आरंभ करना चाहिए।

---

[1] गांधीजीने यह अध्याय सबसे पहले लिखकर भेजा था। पर अध्याय-क्रमके लिए यह यथास्थान दिया गया है।—संपादक

अर्जुनने भगवानसे पूछा—साकार और निराकार-को पूजनेवाले भक्तोंमे अधिक श्रेष्ठ कौन है ?

भगवानने उत्तर दिया—जो मेरे साकार रूपका श्रद्धापूर्वक मनन करते है, उसमे लीन होते है, वे श्रद्धालु मेरे भक्त है। पर जो निराकार तत्त्वको भजते है और उसे भजनेके लिए समस्त इंद्रियोका संयम करते हैं, सब जीवोंके प्रति समभाव रखते हैं, उनकी सेवा करते है, किसीको ऊंच-नीच नही गिनते वे भी मुझे पाते है। इसलिए यह नही कह सकते कि दोनोंमें अमुक श्रेष्ठ है, पर निराकारकी भक्ति शरीरधारीद्वारा संपूर्ण रूपमे होना अशक्य माना जाता है, निराकार निर्गुण है, अत मनुष्यकी कल्पनासे परे है। अत. सब देहधारी जाने-अनजाने साकारके ही भक्त है। इसलिए तू तो मेरे साकार विश्वरूपमे ही अपना मन पिरो। सब उसे सौप दे। पर यह न कर सकता हो तो चित्तके विकारोंको रोकने-का अभ्यास कर, यानी यम-नियम आदिका पालन करके प्राणायाम, आसन आदिकी मदद लेकर मनको वशमें कर। ऐसा भी न कर सकता हो तो जो कुछ करता है सो मेरे ही लिए करता है इस धारणासे अपने सब काम कर, तो तेरा मोह, तेरी ममता क्षीण होती जायगी

और त्यों-त्यों तू निर्मल—शुद्ध होता जायगा और तुझमें भक्तिरस आ जायगा। यह भी न हो सकता हो तो कर्ममात्रके फलका त्याग करके यानी फलकी इच्छा छोड दे। तेरे हिस्से जो काम आ पड़े उसे करता रह। फलका मालिक मनुष्य हो ही नही सकता। बहुतेरे अंगोंके एकत्र होनेपर तब फल उपजता है, अतः तू केवल निमित्तमात्र हो जा। जो चार रीतिया मैंने बताई हैं उनमे किसीको कमोबेश मत मानना। इनमें जो तुझे अनुकूल हो उससे तू भक्तिका रस ले ले। ऐसा लगता है कि ऊपर जो यम-नियम प्राणायाम, आसन आदिका मार्ग बता आये हैं उनकी अपेक्षा श्रवण-मनन आदि ज्ञानमार्ग सरल है। उसकी अपेक्षा उपासना रूप ध्यान सरल है और ध्यानकी अपेक्षा कर्मफल-त्याग सरल है। सबके लिए एक ही वस्तु समानभावसे सरल नहीं होती और किसी-किसीको सभी मार्ग लेने पड़ते हैं। वे एक दूसरेके साथ मिले-जुले तो हैं ही। चाहे जिस मार्गसे हो तुझे तो भक्त होना है। जिस मार्गसे भक्ति सधे उस मार्गसे उसे साध। मैं तुझे भक्तके लक्षण बतलाता हूं—भक्त किसीका द्वेष न करे, किसीके प्रति बैर-भाव न रखे, जीवमात्रसे मैत्री रखे, जीवमात्रके प्रति

करुणाका अभ्यास करे, ऐसा करनेके लिए ममता छोड़े, अपना मिटाकर शून्यवत् हो जाय, दुःख-सुखको समान माने। कोई दोष करे तो उसे क्षमा करे, (यह जानकर कि स्वयं अपने दोषोंके लिए संसारसे क्षमाका भूखा है) संतोषी रहे, अपने शुभ निश्चयोंसे कभी विचलित न हो। मन-बुद्धिसहित सर्वस्व मेरे अर्पण करे। उससे लोगोंको उद्वेग नहीं होना चाहिए, न लोग उससे डरें, वह स्वयं लोगोंसे न दुःख माने, न डरे। मेरा भक्त हर्ष, शोक, भय आदिसे मुक्त होता है। उसे किसी प्रकार-की इच्छा नहीं होती, वह पवित्र होता है, कुशल होता है, वह बड़े-बड़े आरंभोंको त्यागे हुए होता है, निश्चयमें दृढ़ होते हुए भी शुभ और अशुभ परिणाम, दोनोंका वह त्याग करता है, अर्थात् उसके बारेमें निश्चिंत रहता है। उसके लिए शत्रु कौन और मित्र कौन ? उसे मान क्या, अपमान क्या ? वह तो मौन धारण करके जो मिल जाय उससे संतोष रखकर एकाकीकी भांति विच-रता हुआ सब स्थितियोंमें स्थिर होकर रहता है। इस भांति श्रद्धालु होकर चलनेवाला मेरा भक्त है।

टिप्पणी—

प्रश्न—'भक्त आरंभ न करे' का क्या मतलब है, कोई दृष्टांत देकर समझाइयेगा ?

उत्तर—'भक्त आरंभ न करे' इसका मतलब यह है कि किसी भी व्यवसायके मनसूबे न गांठे। जैसे एक व्यापारी, आज कपड़ेका व्यापार करता है तो कल उसमें लकड़ीका और शामिल करनेका उद्यम करने लगा, अथवा कपड़ेकी एक दूकान है तो कल पांच और दूकानें खोल बैठा, इसका नाम आरंभ है। भक्त उसमें न पड़े। यह नियम सेवाकार्य के बारे में भी लागू होता है। आज खादीकी मारफत सेवा करता है तो कल गायकी मारफत, परसों खेतीकी मारफत और चौथे दिन डाक्टरीकी मारफत। इस प्रकार सेवक भी फुदकता न फिरे। उसके हिस्सेमें जो आ जाय उसे पूरी तरह करके मुक्त हो। जहां 'मैं' गया वहां 'मुझे' क्या करनेको रह जाता है?

"सूतरने तांतणे मने हरजीए बांधी,
जेम ताणे तेम तेमनी रे
मने लागी कटारी प्रेमनी रे।"[1]

भक्तके सब आरंभ भगवान रचता है। उसे सब कर्मप्रवाह प्राप्त होते हैं, इससे वह 'संतुष्टो येन

---

[1]मुझे भगवानने सूतके धागेसे बांध लिया है। ज्यों तानते हैं, मैं उनकी होती जाती हूं। मुझे तो प्रेम-कटारी लगी है।

केनचित्' रहे। सर्वारंभत्यागका भी यही अर्थ है। सर्वारंभ अर्थात् सारी प्रवृत्ति या काम नहीं, बल्कि उन्हें करनेके विचार, मनसूबे गांठना। उनका त्याग करनेके मानी उनका आरंभ न करना, मनसूबे गांठनेकी आदत हो तो उसे छोड़ देना। 'इदमद्य मया लब्ध-मिमं प्राप्स्ये मनोरथम्' यह आरंभ त्यागका उलटा है। मेरे खयालमें तुम जो जानना चाहते हो सब इसमें आ जाता है। कुछ बाकी रह गया हो तो पूछना।

तेरहवां अध्याय

सोमप्रभात
२६-१-३२

श्रीभगवान बोले—इस शरीरका दूसरा नाम क्षेत्र है और उसके जाननेवालेको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। सब शरीरोंमें मौजूद जो मैं (भगवान) हूं, उसे क्षेत्रज्ञ समझ, और वास्तविक ज्ञान वह है कि जिससे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भेद जाना जाय। पंच महाभूत—पृथ्वी, पानी, आकाश, तेज और वायु, अहंता, बुद्धि, प्रकृति, दस इंद्रियां—पांच ज्ञानेंद्रियां और पांच कर्में-द्रियां—एक मन, पांच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख,

संघात अर्थात् शरीर जिससे बना हुआ है उसकी एक होकर रहनेकी शक्ति, चेतन शक्ति, शरीरके परमाणुओं- में एक दूसरेसे चिपटे रहनेका गुण, यह सब मिलकर विकारोंवाला क्षेत्र बना। इस शरीरको और उसके विकारोंको जानना चाहिए; क्योंकि उनको त्यागना है। इस त्यागके लिए ज्ञान चाहिए। यह ज्ञान अर्थात् मानीपनेका त्याग, दंभका त्याग, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, शुद्धता, स्थिरता, विषयोंपर अंकुश, विषयोंमें वैराग्य, अहंकारका त्याग, जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और उसके सिलसिलेमें रहे हुए रोगसमूह दुःख- समूह और नित्य होनेवाले दोषोंका पूरा भान, स्त्री, पुत्र, घर, द्वार, सगेसंबंधी इत्यादिमेंसे मनको खींच लेना और ममता छोड़ना, अपने मनोनुकूल कुछ हो या मनके प्रतिकूल—उसमें समता रखना, ईश्वरकी अनन्य भक्ति, एकांतसेवन, लोगोंमें मिलकर भोग भोगनेकी ओर अरुचि, आत्माके विषयमें ज्ञानकी प्यास और अंतमें आत्मदर्शन। इससे विपरीतका नाम अज्ञान है। इस ज्ञानके साधनसे जो जाननेकी चीज है—ज्ञेय है और जिसे जाननेसे मोक्ष मिलती है उसके विषयमें थोड़ा सुन। यह ज्ञेय अनादि परब्रह्म है। अनादि है—अर्थात् उसे जन्म नहीं है—जब कुछ

नहीं था तब भी वह परब्रह्म तो था। वह सत् नहीं है और असत् भी नहीं है। उससे भी परे है। अन्य दृष्टिसे उसे सत् कह सकते हैं, क्योंकि वह नित्य है। तथापि उसकी नित्यताको भी मनुष्य नहीं पहचान सकता, इससे उसे सत्से भी परे कहा, उससे कुछ भी सूना नहीं है। उसे हजारों हाथ-पांवोंवाला कह सकते हैं और इस प्रकार उसे हाथ-पैर आदि हैं यह जान पड़ते हुए भी वह इंद्रियरहित है, उसे इंद्रियोंकी आवश्यकता नहीं है, उनसे वह अलिप्त है। इंद्रियां तो आज हैं और कल नहीं हैं। परब्रह्म तो नित्य है ही। और यद्यपि वह सबमें व्याप्त है और सबको धारण किये हुए है, इससे गुणोंका भोक्ता कहा जा सकता है, तथापि जो उसे नहीं पहचानते उनके हिसाबसे तो वह बाहर ही है। प्राणियोंके अंदर तो वह है ही, क्योंकि सर्वव्यापक है। वैसे ही वह गति करता है और स्थिर भी है। सूक्ष्म है, इसलिए वह ऐसा भी है कि न जान पड़े। दूर भी है और नजदीक भी है। नाम-रूपका नाश है तथापि वह तो है ही, इस प्रकार अविभक्त है; पर असंख्य प्राणियोंमें है यह भी कहते हैं, इससे वह विभक्तरूपसे भी भासित होता है। वह उत्पन्न करता है, पालता है और वही मारता

है। तेजोंका तेज है, अंधकारसे परे है, ज्ञानका किनारा उसमें आगया है। इन सबमें मौजूद परब्रह्म यही जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय है। ज्ञानमात्रकी प्राप्ति केवल उसकी प्राप्तिके लिए ही है।

प्रभु और उसकी माया दोनों अनादिसे चलते आये हैं। मायामेंसे विकार पैदा होते हैं, और उनसे अनेक प्रकारके कर्म पैदा होते हैं। मायाके कारण जीव सुख-दुःख, पाप-पुण्यका भोगनेवाला बनता है। यह जानकर जो अलिप्त रहकर कर्तव्य-कर्म करता है वह कर्म करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता; क्योंकि वह सर्वत्र ईश्वरको ही देखता है और उसकी प्रेरणाके बिना एक पत्ता तक नहीं हिल सकता, यह जानकर वह अपने बारेमें अहंताको नहीं मानता है, अपनेको शरीरसे अलग देखता है और समझता है कि जैसे आकाश सर्वत्र होते हुए भी निर्लिप्त ही रहता है, वैसे जीव शरीरमें रहते हुए भी ज्ञानद्वारा निर्लिप्त रह सकता है।

चौदहवां अध्याय

मौनवार
२५-१-३२

श्रीभगवान बोले—जिस उत्तम ज्ञानको पाकर ऋषि-मुनियोंने परम सिद्धि पाई है वह मैं तुझसे फिर कहता हूं। उस ज्ञानके पाने और उसके अनुसार धर्मका आचरण करनेसे लोग जन्म-मरणके चक्करसे बच जाते हैं। हे अर्जुन, यह समझ कि मैं जीवमात्रका माता-पिता हूं। प्रकृति-जन्य तीन गुण—सत्त्व, रजस् और तमस्—देहीको बांधनेवाले हैं। इन गुणोंको उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भी कह सकते हैं। इनमें सत्त्वगुण निर्मल और निर्दोष है, प्रकाश देनेवाला है और इससे उसका संग सुखद होता है। रजस् रागसे, तृष्णासे पैदा होता है और वह मनुष्यको गड़-बड़में डालता है। तमस्का मूल अज्ञान है, मोह है और इससे मनुष्य प्रमादी और आलसी बनता है। अतः संक्षेपमें कहा जाय तो सत्त्वमेंसे सुख, रजस्मेंसे तृष्णादि और तमस्मेंसे आलस्य पैदा होता है। रजस् और तमस्को दबाकर सत्त्व जय प्राप्त करता है और सत्त्व और रजस्को दबाकर तमस् जय पाता है।

देहके सब कामोंमें जब ज्ञानका अनुभव देखनेमें आवे तब यह जानना कि अब सत्त्वगुण प्रधान रूपसे काम कर रहा है। जब लोभ, गड़बड़, अशांति, प्रतिद्वंद्विता दिखाई दे तब रजस्की वृद्धि जानो और जब अज्ञान, आलस्य, मोहका अनुभव हो तब समझो कि तमस्का राज्य है। जिसके जीवनमें सत्त्वगुण प्रधान होता है वह मृत्युके अंतमें ज्ञानमय निर्दोष लोकमें जन्म पाता है, रजस् प्रधान जो होता है वह धांधली (गड़बड़) लोकमें जाता है और तमस्प्रधान मूढ़ योनिमें जन्मता है। सात्त्विक कर्मका फल निर्मल, राजसका दुःखमय और तामसका अज्ञानमय होता है। सात्त्विक लोककी उच्चगति, राजसकी मध्यम और तामसकी अधोगति होती है। मनुष्य जब गुणोंके सिवा दूसरेको कर्ता नहीं समझता और गुणोंसे परे जो मैं हूं उसे जानता है तब वह मेरे भावको पाता है। देहमें विद्यमान इन तीन गुणोंको जो देही पार कर जाता है वह जन्म, जरा और मृत्युके दुःखोंसे छूटकर अमृतमय मोक्षको प्राप्त होता है।

अर्जुन पूछता है—गुणातीतकी ऐसी सुंदर गति होती है तो बतलाइए कि इसके लक्षण कैसे हैं, इसका आचरण कैसा है और तीनों गुणोंको किस प्रकार पार किया जाय ?

भगवान उत्तर देते हैं—जो मनुष्य अपनेपर जो आ पड़े, फिर भले ही प्रकाश हो या प्रवृत्ति हो, या मोह हो, ज्ञान हो, गड़बड़ हो या अज्ञान, उसका अतिशय दुःख या सुख न माने या इच्छा न करे; जो गुणोंके बारेमें तटस्थ रहकर विचलित नहीं होता, गुण अपने गुणानुसार बरतते हैं यह समझकर जो स्थिर रहता है, जो सुख-दुःखको सम मानता है, जिसे लोहा, पत्थर या सोना समान है, जिसे प्रिय-अप्रियकी बात नहीं है, जिसपर अपनी स्तुति या निंदा कोई प्रभाव नहीं डाल सकती, जिसे मान-अपमान समान है, जो शत्रु-मित्रके प्रति समभाव रखता है, जिसने सब आरंभोंका त्याग किया है वह गुणातीत कहलाता है। मेरे बताये इन लक्षणोंसे भड़कनेकी जरूरत नहीं है, न आलसी होकर सिरपर हाथ रखकर बैठ जानेकी। मैंने तो सिद्धकी दशा बतलाई है। उसे पहुंचनेका मार्ग यह है—व्यभिचाररहित भक्तियोगके द्वारा मेरी सेवा कर। (तीसरे अध्यायसे लगाकर) तुझे बताया है कि कर्म बिना, प्रवृत्ति बिना कोई सांसतक नहीं ले सकता, अतः कर्म तो देहीमात्रको लगे हुए हैं। जो गुणोंको पार कर जाना चाहता है, वह साधक सब कर्म मुझे अर्पण करे और फलकी इच्छातक भी न करे। ऐसा

करनेमें उसके कर्म उसे विघ्नरूप नहीं होंगे; क्योंकि ब्रह्म मैं हूं, मोक्ष मैं हूं, सनातन धर्म मैं हूं, अनंत सुख मैं हूं, जो कहो वह मैं हूं। मनुष्य शून्यवत् हो जाय तो मुझे ही सर्वत्र देखे। इसे गुणातीत कहेंगे।

पंद्रहवां अध्याय

रातको
३१-१-३२

श्रीभगवान बोले—इस संसारको दो तरहसे देखा जा सकता है—एक इस तरह जिसकी जड़ ऊपर है, जिसकी शाखा नीचे है और जिसके वेदरूपी पत्ते हैं; ऐसे पीपलके रूपमें जो संसारको देखता है वह वेदको जाननेवाला ज्ञानी है। दूसरी रीति यह है : संसार-रूपी वृक्षकी शाखाएं ऊपर-नीचे फैली हुई हैं। उसके तीन गुणोंसे बढ़े हुए विषयरूपी अंकुर हैं और वे विषय जीवको मनुष्य-लोकमें कर्मके बंधनमें डालते हैं। इस वृक्षका स्वरूप नहीं जाना जा सकता, उसका आरंभ नहीं है, न अंत है, न कोई ठिकाना।

वह दूसरे प्रकारका संसार-वृक्ष है। उसने यद्यपि जड़ गहरी पकड़ी है, तथापि उसे असहकाररूपी

शस्त्रसे काटना चाहिए कि जिससे आत्माको वह लोक प्राप्त हो सके जहांसे उसे वापस चक्कर न करना पड़े। ऐसा करनेके लिए वह निरंतर उस आदि पुरुषको भजे कि जिसकी मायासे यह पुरानी प्रवृत्ति पसरी हुई है। जिन्होंने मान-मोहको छोड़ दिया है, जिन्होंने संग-दोषको जीत लिया, जो आत्मामें लीन हैं, जो विषयोंसे अलग हो गये हैं, जिन्हें सुख-दुःख समान है, वह ज्ञानी उस अव्यय पदको पाते हैं।

इस जगह सूर्यको या चंद्रको या अग्निको तेज पहुंचानेकी जरूरत नहीं पड़ती। जहां जानेके बाद लौटना नहीं रह जाता, वह मेरा परम धाम है।

जीवलोकमें मेरा सनातन अंश जीवरूपमें प्रकृतिमें विद्यमान मनसहित छः इंद्रियोंको आकर्षित करता है। जब जीव देह धारण करता है और तजता है तब, जैसे वायु अपने स्थलसे गंधोंको साथ लिये चलता है, यह जीव भी इंद्रियोंको साथ लिये हुए विचरता है। कान, आंख, त्वचा, जीभ और नाक तथा मन इतनोंका सहारा लेकर जीव विषयोंका सेवन करता है। गति करते हुए, स्थिर रहते हुए या भोग भोगते हुए गुणोंवाले इस जीवको मोहमें पड़े हुए अज्ञानी पहचानते नहीं, ज्ञानी पहचानते हैं। यत्न करनेवाले

योगी अपनेमें विद्यमान इस जीवको पहचानते हैं; पर जिसने समभावरूपी योगको नहीं साधा है वह यत्न करता हुआ भी उसे पहचानता नहीं है।

सूर्यका जो तेज जगतको प्रकाशित करता है, जो चंद्रमामें है, जो अग्निमें है, उन सारे तेजोंको मेरा तेज जान। अपनी शक्तिद्वारा शरीरमें प्रवेश करके मैं जीवोंको धारण करता हूं। रस उत्पन्न करनेवाला सोम बनकर ओषधिमात्रका पोषण करता हूं। प्राणियों-की देहमें रह करके जठराग्नि बनकर प्राण, अपान वायुको समान करके, चार प्रकारका अन्न पचाता हूं। सबके हृदयके भीतर विद्यमान हूं। मेरेद्वारा ही स्मृति है, ज्ञान है, उसका अभाव है, सब वेदोंके द्वारा जानने योग्य जो है वह मैं हूं। वेदांत भी मैं हूं, वेदको जाननेवाला भी मैं हूं।

इस लोकमें कहा जाता है कि दो पुरुष हैं—क्षर और अक्षर अथवा नाशवान और नाशरहित। इनमें जीव क्षर कहलाते हैं, उनमें स्थिर हुआ मैं अक्षर हूं, और उससे भी परे जो उत्तम पुरुष है वह परमात्मा कहलाता है। वह अव्यय ईश्वर तीनों लोकमें प्रवेश करके उसका पालन करता है वह भी मैं हूं, इससे

मैं क्षर और अक्षरसे भी उत्तम हूं, और लोकमें, वेदमें पुरुषोत्तमरूपसे प्रसिद्ध हूं। इस प्रकार जो ज्ञानी मुझे पुरुषोत्तमरूपसे पहचानता है वह सब जानता है और मुझे सब भावोंद्वारा भजता है।

हे निष्पाप अर्जुन, यह अति गुह्य शास्त्र मैंने तुझे कहा है। इसे जानकर मनुष्य बुद्धिमान बनता है और अपने ध्येयको पहुंचता है।

सोलहवां अध्याय

यरवदा मंदिर
७-२-३२

श्रीभगवान कहते हैं—अब मैं तुझे धर्मवृत्ति और अधर्मवृत्तिका भेद बतलाता हूं। धर्मवृत्तिके बारेमें तो मैं पहले बहुत कह गया हूं, तो भी उसके लक्षण कह जाता हूं। जिसमें धर्मवृत्ति होती है उसमें निर्भयता, अंतःकरणकी शुद्धि, ज्ञान, समता, इंद्रिय-दमन, दान, यज्ञ, शास्त्रोंका अभ्यास, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, किसीकी चुगली न खाना अर्थात् अपैशुनता, भूतमात्रके प्रति दया, अलोलुपता, कोमलता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धीरज,

अंतर और बाहरकी स्वच्छता, अद्रोह और निरभिमानता होती है।

अधर्म वृत्तिवालेमें दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान देखनेमें आता है।

धर्मवृत्ति मनुष्यको मोक्षकी ओर ले जाती है। अधर्मवृत्ति बंधनमें डालती है। हे अर्जुन, तू तो धर्मवृत्ति लेकर ही जन्मा है।

अधर्मवृत्तिका थोड़ा विस्तार कह देता हूं कि जिससे उसका त्याग सहजमें लोग कर सकें।

अधर्मवृत्तिवाला प्रवृत्ति और निवृत्तिका भेद नहीं जानता है, उसे शुद्ध-अशुद्धका या सत्यासत्यका भान नहीं होता तो फिर उसके बर्तावका तो ठिकाना ही कहांसे होगा? उसके मन जगत झूठा, निराधार है, जगतका कोई नियंता नहीं है, स्त्री-पुरुषका संबंध ही उसका जगत है, अतः इसमें विषय-भोगके सिवा दूसरा विचार नहीं मिलता।

ऐसी वृत्तिवालोंके कार्य भयानक होते हैं, उनकी मति मंद होती है, ऐसे लोग अपने दुष्ट विचारोंको पकड़े रहते हैं और जगतके नाशके लिए ही उनकी सब प्रवृत्तियां होती हैं। उनकी कामनाओंका अंत ही नहीं आता। वे दंभ, मान, मदमें मूले रहते हैं।

उनकी चिंताका भी पार नहीं होता। उन्हें नित्य नये भोग चाहिए। सैकड़ों आशाओंके महल चुनते रहते हैं और अपनी कामनाके पोषणके लिए द्रव्य एकत्र करनेमें न्याय-अन्यायका भेद बिलकुल छोड़ देते हैं।

'आज यह पाया और कल वह और प्राप्त करूंगा, इस शत्रुको आज मारा फिर दूसरेको मारूंगा, मैं बलवान हूं, मेरे पास ऋद्धि-सिद्धि है, मेरे समान दूसरा कौन है, कीर्ति-प्राप्तिके लिए यज्ञ करूंगा, दान दूंगा और चैनकी बंशी बजाऊंगा', यों मन-ही-मन मानता हुआ वह खुश होता रहता है और अंतमें मोह-जालमें फंसकर नरक-वास पाता है।

ये आसुरी वृत्तिवाले प्राणी अपने घंमडमें भूले रहकर परनिंदा करते हुए सर्वव्यापक ईश्वरका द्वेष करते हैं और इससे वह बारंबार आसुरी योनिमें जन्मते हैं।

नरकके, आत्माको नाश करनेवाले, ये तीन दरवाजे हैं—काम, क्रोध और लोभ। सबको इन तीनोंका त्याग करना चाहिए, उनका त्याग करनेवाले कल्याण-मार्गके पथिक होते हैं और वे परम गतिको पाते हैं।

जो अनादि सिद्धांतरूपी शास्त्रोंका त्याग करके

स्वेच्छासे भोगमें पड़े रहते हैं, वे न सुख पाते हैं और न कल्याणमार्गमें रहकर शांति पाते हैं। इससे कार्य—अकार्यका निर्णय करनेमें अनुभवियोंसे अचल सिद्धांत जान लेने चाहिए और उनका अनुसरण करके आचार-विचारका निश्चय करना चाहिए।

सत्रहवां अध्याय

यरवदा मंदिर
१४-२-३२

अर्जुन पूछता है—जो शिष्टाचार छोड़कर भी श्रद्धापूर्वक सेवा करते हैं, उनकी गति कैसी होती है ?

भगवान उत्तर देते हैं—श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्विकी राजसी, और तामसी। श्रद्धाके अनुसार मनुष्य होता है।

सात्विक मनुष्य ईश्वरको, राजस यक्ष-राक्षसोंको और तामस भूत-प्रेतोंको भजता है।

पर किसीकी श्रद्धा कैसी है यह एकाएक नहीं जाना जा सकता। उसका आहार कैसा है, उसका तप कैसा है, यज्ञ कैसा है, दान कैसा है, जानना चाहिए और उन सबके भी तीन-तीन प्रकार हैं

जो तुझे बतलाता हूं।

जिस आहारसे आयु, निर्मलता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढ़ती है वह आहार सात्विक कहलाता है। जो तीखा, खट्टा, चरपरा और गरम होता है वह राजस है। उससे दुःख और रोग उत्पन्न होते हैं। जो रींधा हुआ आहार बासी हो बदबू करता हो, जूठा हो और अन्य प्रकारसे अपवित्र हो, उसे तामस जानना।

जिस यज्ञके करनेमें फलकी इच्छा नहीं है, जो कर्तव्यरूपसे तन्मयतासे होता है वह सात्विक माना जाता है। जिसमें फलकी आशा है और दंभ भी है उसे राजस यज्ञ जानना। जिसमें कोई विधि नहीं है, न कुछ उपज है, न कोई मंत्र है, न कोई त्याग है वह यज्ञ तामस है।

जिसमें संतोंकी पूजा है, पवित्रता है, ब्रह्मचर्य है, अहिंसा है, वह शारीरिक तप है। सत्य, प्रिय, हितकर वचन और धर्म-ग्रंथका अभ्यास वाचिक तप है, मनकी प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, संयम, शुद्ध भावना, यह मानसिक तप कहलाता है। ऐसा शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप जो समभावसे फलेच्छाका त्याग करके किया जाता है वह सात्विक तप कहलाता है।

जो तप मानकी आशासे, दंभपूर्वक किया जाता है उसे राजस जानना और जो तप पीड़ित होकर और दुराग्रहसे या दूसरेके नाशके लिए किया जाय, जिसमें शरीरस्थ आत्माको क्लेश हो, वह तप तामस है।

कर्तव्य-बुद्धिसे दिया गया, बिना फलेच्छाके देश, काल, पात्र देखकर दिया गया दान सात्विक है। जिसमें बदलेकी आशा है और जिसे देते हुए संकोच है वह दान राजस है और देश-कालादिका विचार किये बिना, तिरस्कृत भावसे या मान बिना दिया हुआ दान तामस है।

वेदोंने ब्रह्मका वर्णन ॐ तत्सत्‌रूपसे किया है, अतः श्रद्धालुको चाहिए कि यज्ञ, दान, तप आदि क्रिया इसका उच्चारण करके करे। ॐ अर्थात् एकाक्षरी ब्रह्म। तत् अर्थात् वह। सत् अर्थात् सत्य, कल्याणरूप। मतलब कि ईश्वर एक है, वही है, वही सत्य है, वही कल्याण करनेवाला है। ऐसी भावना रखकर और ईश्वरार्पणबुद्धिसे जो यज्ञादि करते हैं उनकी श्रद्धा सात्विक है और वह शिष्टाचार-को न जानने के कारणसे अथवा जानते हुए भी, ईश्वरा-र्पणबुद्धिसे उससे कुछ भिन्न करते हैं, तथापि वह दोष-रहित है।

पर जो क्रिया ईश्वरार्पणबुद्धिके बिना होती है वह बिना श्रद्धाकी मानी जाती है। वह असत् है।

अठारहवां अध्याय

यरवदा मंदिर
२१-२-३२

पिछले सोलह अध्यायोंके मननके बाद भी अर्जुनके मनमें शंका बनी रह जाती है; क्योंकि गीताका संन्यास उसे प्रचलित संन्याससे भिन्न लगता है। उसे लगता है, त्याग और संन्यास दो अलग-अलग चीजें हैं क्या।

इस शंकाका निवारण करते हुए भगवान इस अंतिम अध्यायमें गीता-शिक्षणका सार दे देते हैं।

कितने ही कर्मोंमें कामना भरी होती है; अनेक प्रकारकी इच्छाओंकी पूर्तिके लिए मनुष्य अनेक उद्यम रचता है। यह काम्य कर्म है। अन्य आवश्यक और स्वाभाविक कर्म हैं, जैसे सांस लेना, देहकी रक्षाभरको खाना, पीना, पहनना, ओढ़ना, सोना इत्यादि। और तीसरा कर्म पारमार्थिक है। इनमेंसे काम्य कर्मका

त्याग गीताका संन्यास है और कर्ममात्रके फलका त्याग गीता-मान्य त्याग है।

कह सकते हैं कि कर्ममात्रमें कुछ दोष तो अवश्य हैं ही, तथापि यज्ञार्थ अर्थात् परोपकारार्थ कर्मका त्याग विहित नहीं है। यज्ञमें दान और तप आ जाते हैं; पर परमार्थमें भी आसक्ति, मोह नहीं होना चाहिए, अन्यथा उसमें बुराईके घुस आनेकी संभावना है।

मोहवश नियत कर्मका त्याग तामस त्याग है। देहके कष्टके खयालसे किया हुआ त्याग राजस है; पर सेवा-कार्य करनेकी भावनासे, बिना फलकी इच्छाका त्याग सच्चा सात्त्विक त्याग है। अतः यहां कर्ममात्रका त्याग नहीं है, बल्कि कर्तव्यकर्मके फलका त्याग है और दूसरे अर्थात् काम्य कर्मका त्याग तो है ही । ऐसे त्यागीको शंकाएं नहीं उठतीं। उसकी भावना शुद्ध होती है और वह सुविधा-असुविधाका विचार नहीं करता।

जो कर्म-फलका त्याग नहीं करते हैं उन्हें तो अच्छे-बुरे फल भोगने ही पड़ते हैं। इससे वे बंधनमें पड़े रहते हैं। फल-त्यागी बंधनमुक्त हो जाता है।

और कर्मके विषयमें मोह क्या? अपने कर्तापनका

अभिमान मिथ्या है। कर्ममात्रकी सिद्धिमें पांच कारण होते हैं—स्थान, कर्ता, साधन, क्रियाएं और यह सब होनेपर भी अंतिम दैव है।

यह समझकर मनुष्यको अभिमानका त्याग करना चाहिए। अहंता छोड़कर कुछ भी करनेवालेके बारेमें कहा जा सकता है कि वह करते हुए भी नहीं करता है; क्योंकि उसे वह कर्म बंधन-कर्ता नहीं होता। ऐसे निरभिमान, शून्यवत् बने हुए मनुष्यके विषयमें कह सकते हैं कि वह मारते हुए भी नहीं मारता है। इसके मानी यह नहीं होते कि कोई मनुष्य शून्यवत् होते हुए भी हिंसा करता है और अलिप्त रहता है निरभिमानीको हिंसा करनेका प्रयोजन ही क्या है।

कर्मकी प्रेरणामें तीन वस्तुएं होती हैं—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञान। और उसे तीन अंग होते हैं—इंद्रियां, क्रिया और कर्ता। जो करना है वह ज्ञेय है। जो उसकी रीति है वह ज्ञान है और जाननेवाला जो है वह परिज्ञाता है। इस प्रकार प्रेरणा होनेके बाद कर्म होता है। उसमें इंद्रियां कारण होती हैं, जो करनेको है वह क्रिया और उसका करनेवाला जो है वह कर्ता है। इस प्रकार विचारमेंसे आचार होता है। जिसके द्वारा हम प्राणीमात्रमें एक ही भाव

देखें, अर्थात् सब कुछ भिन्न-भिन्न लगते हुए भी गह-राईमें उतरनेपर एक ही भासित हों तो वह सात्त्विक ज्ञान है।

इससे उलटा, जो भिन्न दिखाई देता है, वह भिन्न ही भासित हो तो वह राजस ज्ञान है।

और जहां कुछ पता ही नहीं लगता और सब बिना कारणके गड़बड़ लगता है वह तामस ज्ञान है।

ज्ञानके विभागकी भांति कर्मके भी विभाग हैं। जहां फलेच्छा नहीं है, राग-द्वेष नहीं है, वह कर्म सात्त्विक है। जहां भोगकी इच्छा है, जहां मैं करता हूं, यह अभिमान है और इससे जहां हो-हल्ला है वह राजस कर्म है। जहां परिणामकी, हानिकी या हिंसाकी, शक्तिकी परवाह नहीं है और जो मोहके वश होकर होता है वह तामस कर्म है।

कर्मकी भांति कर्ता भी तीन तरहके समझने चाहिएं। सात्त्विक कर्ता वह है जिसे राग नहीं है, अहंकार नहीं है, तथापि जिसमें दृढ़ता है, साहस है, और जिसे अच्छे-बुरे फलसे हर्ष-शोक नहीं है। राजस कर्तामें राग होता है, लोभ होता है, हिंसा होती है, हर्ष-शोक तो जरूर होता ही है, तो फिर कर्म-फलकी इच्छाका तो कहना ही क्या? और तामस कर्ता

अव्यवस्थित, दीर्घसूत्री, हठी, शठ, आलसी, संक्षेपमें कहा जाय तो, संस्काररहित होता है।

बुद्धि, धृति और सुखके भी भिन्न-भिन्न प्रकार जानने योग्य हैं।

सात्त्विक बुद्धि प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बंध-मोक्ष आदिका सही भेद करती और जानती है। राजसी बुद्धि यह भेद करने तो चलती है, पर गलत या विपरीत कर लेती है और तामसी बुद्धि तो धर्मको अधर्म मानती है। सब उलटा ही निहारती है।

धृति अर्थात् धारणा, कुछ भी ग्रहण करके उससे लगे रहनेकी शक्ति। यह शक्ति अल्पाधिक प्रमाणमें सबमें है। यदि यह न हो तो जगत एक क्षण भी न टिक सके। अब जिसमें मन, प्राण और इंद्रियोंकी क्रियाकी समता है समानता है और एक निष्ठा है, वहां धृति सात्त्विकी है और जिसके द्वारा मनुष्य धर्म, काम और अर्थको आसक्तिपूर्वक धारण करता है वह धृति राजसी है। जो धृति मनुष्यको निंदा, भय, शोक, निराशा, मद वगैरह नहीं छोड़ने देती, वह तामसी है।

सात्त्विक सुख वह है, जिसमें दुःखका अनुभव नहीं है, जिसमें आत्मा प्रसन्न रहता है, जो शुरूमें जहर-सा

लगनेपर भी परिणाममें, अमृतके समान ही है। विषयभोगमें जो शुरूमें मधुर लगता है, पर बादको जहरके समान हो जाता है, वह राजस सुख है और जिसमें केवल मूर्च्छा, आलस्य, निद्रा ही है वह तामस सुख है।

इस प्रकार सब वस्तुओंके तीन हिस्से किये जा सकते हैं। ब्राह्मणादि चार वर्ण भी इन तीन गुणोंके अल्पाधिक्यके कारण हुए हैं। ब्राह्मणके कर्ममें शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता होनी चाहिए। क्षत्रियोंमें शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धमें पीछे न हटना, दान, राज्य चलानेकी शक्ति होनी चाहिए। खेती, गो-रक्षा और व्यापार वैश्यका कर्म है और शूद्रका सेवा। इसका यह मतलब नहीं कि एकके गुण दूसरेमें नहीं होते, अथवा इन गुणोंको हासिल करनेका उसे हक नहीं है; पर उपर्युक्त भांतिके गुण या कर्मसे उस-उस वर्णकी पहचान हो सकती है। यदि हरएक वर्णके गुण-कर्म पहचाने जायं तो परस्पर द्वेष-भाव न हो, स्पर्द्धा न हो। ऊंच-नीचकी भावनाकी यहां कोई गुंजाइश नहीं है; बल्कि सब अपने स्वभावके अनुसार निष्काम भावसे अपने कर्म करते रहें तो उन कर्मोंको करते हुए वे मोक्षके

अधिकारी हो जाते हैं। इसीलिए कहा है कि परधर्म चाहे सरल लगता हो स्वधर्म चाहे खोखला लगता हो, तो भी स्वधर्म अच्छा है। स्वभावजन्य कर्ममें पाप न होनेकी संभावना है, क्योंकि उसीमें निष्कामताकी पाबंदी हो सकती है, दूसरा करनेकी इच्छामें ही कामना आ जाती है। बाकी तो जैसे अग्निमात्रमें धुंआ है वैसे कर्ममात्रमें दोष तो अवश्य है; पर सहजप्राप्त कर्म फलकी इच्छाके बिना होते हैं, इसलिए कर्मका दोष नहीं लगता।

जो इस प्रकार स्वधर्मका पालन करता हुआ शुद्ध हो गया है, जिसने मनको वशमें कर रखा है, जिसने पांच विषयोंको छोड़ दिया है, जिसने राग—द्वेषको जीत लिया है, जो एकांतसेवी अर्थात् अंतरध्यानी रह सकता है, जो अल्पाहार करके मन, वचन, कायाको अंकुशमें रखता है, ईश्वरका ध्यान जिसे बराबर बना रहता है, जिसने अहंकार, काम, क्रोध, परिग्रह इत्यादि तज दिये हैं, वह शांत योगी ब्रह्मभावको पाने योग्य है। ऐसा मनुष्य सबके प्रति समभाव रखता है और हर्ष-शोक नहीं करता, ऐसा भक्त ईश्वर-तत्त्वको यथार्थ जानता है और ईश्वरमें लीन हो जाता है। इस प्रकार जो भगवानका आश्रय लेता है वह

अमृत पद पाता है। इसलिए भगवान कहते हैं—"सब मुझे अर्पण कर, मुझमें परायण हो और विवेक-बुद्धिका आश्रय लेकर मुझमें चित्त पिरो दे। ऐसा करेगा तो सारी बिडंबनाओंसे छूट जायगा, पर जो अहंकार रखकर मेरी नहीं सुनेगा तो विनाशको प्राप्त होगा। सौ बातकी एक बात तो यह है कि सभी प्रपंचोंको त्यागकर मेरी ही शरण ले तो तू पापमुक्त हो जायगा। जो तपस्वी नहीं है, भक्त नहीं है, जिसे सुननेकी इच्छा नहीं है और जो मेरा द्वेष करता है उससे यह ज्ञान मत कहना; पर यह परमगुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तोंको देगा वह मेरी भक्ति करनेके कारण अवश्य मुझे पावेगा।"

अंतमें संजय धृतराष्ट्रसे कहता है—जहां योगेश्वर कृष्ण है, जहां धनुर्धारी पार्थ हैं, वहां श्री है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति है।

यहां कृष्णको योगेश्वर विशेषण दिया गया है। इससे उसका शाश्वत अर्थ, शुद्ध अनुभव ज्ञान किया गया है, और धनुर्धारी पार्थ कहकर यह बतलाया गया है कि जहां ऐसे अनुभवसिद्ध ज्ञानको अनुसरण करनेवाली क्रिया है, वहां परम नीतिकी अविरोधिनी मनोकामना सिद्ध होती है।

अनासक्तियोग

[श्रीमद्भगवद्गीताकी हिन्दी-टीका]

प्रस्तावना

(१)

जैसे स्वामी आनंद आदि मित्रोंके प्रेमके वश होकर मैंने सत्यके प्रयोगोंभरके लिए आत्मकथाका लिखना आरंभ किया था वैसे गीताका अनुवाद भी। स्वामी आनंदने असहयोगके जमानेमें मुझसे कहा था, "आप गीताका जो अर्थ करते हैं, वह अर्थ तभी समझमें आ सकता है जब आप एक बार समूची गीताका अनुवाद कर जायं और उसके ऊपर जो टीका करनी हो वह करें और हम वह संपूर्ण एक बार पढ़ जायं। फुटकर श्लोकोंमेंसे अहिंसादिका प्रतिपादन मुझे तो ठीक नहीं लगता है।" मुझे उनकी दलीलमें सार जान पड़ा। मैंने जवाब दिया, "अवकाश मिलनेपर यह करूंगा।" फिर मैं जेल गया। वहां तो गीताका अध्ययन कुछ अधिक गहराईसे करनेका मौका मिला। लोकमान्यका ज्ञानका भंडार पढ़ा। उन्होंने ही पहले मुझे मराठी, हिंदी और गुजराती अनुवाद प्रेमपूर्वक भेजे थे और सिफारिश की थी कि मराठी न पढ़ सकूं तो गुजराती अवश्य पढ़ूं। जेलके बाहर तो उसे न पढ़ पाया, पर जेलमें गुजराती अनुवाद पढ़ा। इसे पढ़नेके बाद गीताके संबंधमें अधिक पढ़नेकी इच्छा हुई और गीतासंबंधी अनेक ग्रंथ उलटे-पलटे।

मुझे गीताका प्रथम परिचय एडविन आर्नल्डके पद्य-अनुवादसे सन् १८८८-८९ में प्राप्त हुआ। उससे गीताका गुजराती अनुवाद पढ़नेकी तीव्र इच्छा हुई और जितने अनुवाद हाथ लगे उन्हें पढ़ गया; परंतु ऐसी पढ़ाई मुझे अपना अनुवाद जनताके सामने रखनेका बिलकुल अधिकार नहीं देती। इसके सिवा मेरा संस्कृत-ज्ञान अल्प है, गुजरातीका ज्ञान विद्वत्ताके

विचारसे कुछ नही है । तब मैंने अनुवाद करनेकी धृष्टता क्यों की ?

गीताको मैंने जिस प्रकार समझा है उस प्रकार उसका आचरण करनेका मेरा और मेरे साथ रहनेवाले कई साथियोंका बराबर प्रयत्न है। गीता हमारे लिए आध्यात्मिक निदान-ग्रंथ है। उसके अनुसार आचरणमें निष्फलता रोज आती है, पर वह निष्फलता हमारा प्रयत्न रहते हुए है; इस निष्फलतामें सफलताकी फूटती हुई किरणोंकी झलक दिखाई देती है । यह नन्हा-सा जन-समुदाय जिस अर्थको आचारमें परिणत करनेका प्रयत्न करता है वह इस अनुवादमें है ।

इसके सिवा स्त्रिया, वैश्य और शूद्र सरीखे जिन्हें अक्षरज्ञान थोड़ा ही है, जिन्हें मूल सस्कृतमें गीता समझनेका समय नहीं है, इच्छा नही है, परंतु जिन्हें गीतारूपी सहारेकी आवश्यकता है, उन्हींके लिए इस अनुवादकी कल्पना है ।[१] गुजराती भाषाका मेरा ज्ञान कम होनेपर भी उसके द्वारा गुजरातियोको मेरे पास जो कुछ पूजी हो वह दे जानेकी मुझे सदा भारी अभिलाषा रही है । मैं यह चाहता हूं अवश्य कि आज गदे साहित्यका जो प्रवाह जोरोंसे जारी है उस समयमें हिंदू-धर्ममें अद्वितीय माने जानेवाले इस ग्रंथका सरल अनुवाद गुजराती जनताको मिले और उसमेंसे वह उस प्रवाहका सामना करनेकी शक्ति प्राप्त करे ।

इस अभिलाषामें दूसरे गुजराती अनुवादोंकी अवहेलना नही है । उन सबका स्थान भले ही हो—पर उनके पीछे उनके अनुवादकोका आचाररूपी अनुभवका दावा हो, ऐसा मेरी जानकारीमें नहीं है । इस अनुवादके पीछे अड़तीस वर्षके आचारके प्रयत्नका दावा है । इसलिए मैं यह अवश्य चाहता हूं कि प्रत्येक गुजराती भाई और बहन, जिन्हे धर्मको आचरणमें लानेकी इच्छा है, इसे पढ़ें, विचारें और इसमेंसे शक्ति प्राप्त करें ।

---

[१] गांधीजीका अनुवाद गुजरातीमें है । यह उसीका हिंदी अनुवाद है ।

इस अनुवादमें मेरे साथियोंकी मेहनत मौजूद है। मेरा संस्कृतज्ञान बहुत अधूरा होनेके कारण शब्दार्थपर मुझे पूरा विश्वास नहीं हो सकता था, अतः इतनेभरके लिए इस अनुवादको विनोबा, काका कालेलकर, महादेव देसाई और किशोरलाल मशरूवालाने देख लिया है।

(२)

अब गीताके अर्थपर आता हूं।

सन् १८८८-८९ में जब गीताका प्रथम दर्शन हुआ तभी मुझे ऐसा लगा कि यह ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं है, वरन् इसमें भौतिक युद्धके वर्णनके बहाने प्रत्येक मनुष्यके हृदयके भीतर निरंतर होते रहनेवाले द्वंद्वयुद्धका ही वर्णन है; मानुषी योद्धाओंकी रचना हृदयगत युद्धको रोचक बनानेके लिए गढ़ी हुई कल्पना है। यह प्राथमिक स्फुरणा धर्मका और गीताका विशेष विचार करनेके बाद पक्की हो गई। महाभारत पढ़नेके बाद यह विचार और भी दृढ़ हो गया। महाभारत ग्रंथको मैं आधुनिक अर्थमें इतिहास नही मानता। इसके प्रबल प्रमाण आदिपर्वमें ही हैं। पात्रोंकी अमानुषी और अतिमानुषी उत्पत्तिका वर्णन करके व्यास भगवानने राजा-प्रजाके इतिहासको मिटा दिया है। उसमें वर्णित पात्र मूलमें ऐतिहासिक भले ही हों, परंतु महाभारतमें तो उनका उपयोग व्यास भगवानने केवल धर्मका दर्शन करानेके लिए ही किया है।

महाभारतकारने भौतिक युद्धकी आवश्यकता नहीं, उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। विजेतासे रुदन कराया है, पश्चाताप कराया है और दुःखके सिवा और कुछ नहीं रहने दिया।

इस महाग्रंथमें गीता शिरोमणिरूपसे विराजती है। उसका दूसरा अध्याय भौतिक युद्धव्यवहार सिखानेके बदले स्थितप्रज्ञके लक्षण सिखाता है। स्थित-प्रज्ञका ऐहिक युद्धके साथ कोई संबंध नहीं होता, यह बात उसके लक्षणोंमेंसे

ही मुझे प्रतीत हुई है। साधारण पारिवारिक झगड़ोंके औचित्य-अनौचित्यका निर्णय करनेके लिए गीता-जैसी पुस्तककी रचना संभव नही है।

गीताके कृष्ण मूर्तिमान् शुद्ध संपूर्ण ज्ञान है; परंतु काल्पनिक हैं। यहा कृष्ण नामके अवतारी पुरुषका निषेध नहीं है। केवल संपूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं, संपूर्णावतारका आरोपण पीछेसे हुआ है।

अवतारसे तात्पर्य है शरीरधारी पुरुषविशेष। जीवमात्र ईश्वरके अवतार है, परतु लौकिक भाषामें सबको हम अवतार नही कहते। जो पुरुष अपने युगमें सबसे श्रेष्ठ धर्मवान है, उसे भावी प्रजा अवताररूपसे पूजती है। इसमें मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता। इसमें न तो ईश्वरके बड़प्पनमें कमी आती है, न उसमें सत्यको आघात पहुंचता है। "आदम खुदा नही; लेकिन खुदाके नूरसे आदम जुदा नहीं।" जिसमे धर्म-जागृति अपने युगमे सबसे अधिक है वह विशेषावतार है। इस विचारश्रेणीसे कृष्णरूपी सपूर्णावतार आज हिंदूधर्ममें साम्राज्य भोग रहा है।

यह दृश्य मनुष्यकी अंतिम सदभिलाषाका सूचक है। मनुष्यको ईश्वररूप हुए बिना चैन नहीं पड़ता, शांति नही मिलती। ईश्वररूप होनेके प्रयत्नका नाम सच्चा और एकमात्र पुरुषार्थ है और यही आत्म-दर्शन है। यह आत्मदर्शन सब धर्मग्रथोंका विषय है, वैसे ही गीताका भी है। पर गीताकारने इस विषयका प्रतिपादन करनेके लिए गीता नही रची। वरन् आत्मार्थीको आत्मदर्शनका एक अद्वितीय उपाय बतलाना गीताका आशय है। जो चीज हिंदूधर्मग्रंथोमें छिट-फुट दिखाई देती है, उसे गीताने अनेक रूपों, अनेक शब्दोंमें, पुनरुक्तिका दोष स्वीकार करके भी, अच्छी तरह स्थापित किया है।

वह अद्वितीय उपाय है 'कर्मफलत्याग'।

इस मध्यबिंदुके चारों ओर गीताकी सारी सजावट है। भक्ति, ज्ञान इत्यादि उसके आसपास तारामंडलरूपमें सज गये हैं। जहां देह

है वहां कर्म तो है ही। उसमेंसे कोई मुक्त नहीं है, तथापि देहको प्रभुका मंदिर बनाकर उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, यह सब धर्मोंने प्रतिपादन किया है; परंतु कर्ममात्रमें कुछ दोष तो है ही, मुक्ति तो निर्दोषकी ही होती है। तब कर्मबंधनमेंसे अर्थात् दोषस्पर्शमेंसे कैसे छुटकारा हो? इसका जवाब गीताजीने निश्चयात्मक शब्दोंमें दिया है—"निष्काम कर्मसे, यज्ञार्थ कर्म करके, कर्मफलत्याग करके, सब कर्मोंको कृष्णार्पण करके, अर्थात् मन, वचन और कायाको ईश्वरमें होम करके।"

पर निष्कामता, कर्मफलत्याग कहनेभरसे नहीं हो जाता। यह केवल बुद्धि का प्रयोग नहीं है। यह हृदयमंथनसे ही उत्पन्न होता है। यह त्याग-शक्ति पैदा करनेके लिए ज्ञान चाहिए। एक प्रकारका ज्ञान तो बहुतेरे पंडित पाते हैं। वेदादि उन्हें कंठ होते हैं; परंतु उनमेंसे अधिकांश भोगादि-में लगे-लिपटे रहते हैं। ज्ञानका अतिरेक शुष्क पांडित्यके रूपमें न हो जाय, इस खयालसे गीताकारने ज्ञानके साथ भक्तिको मिलाया और उसे प्रथम स्थान दिया। बिना भक्तिका ज्ञान हानिकर है। इसलिए कहा गया, "भक्ति करो तो ज्ञान मिल ही जायगा।" पर भक्ति तो 'सिरका सौदा' है, इसलिए गीताकारने भक्तके लक्षण स्थितप्रज्ञके-से बतलाये हैं।

तात्पर्य, गीताकी भक्ति बाह्याचारिता नहीं है, अंधश्रद्धा नहीं है। गीतामें बताये उपचारका बाह्य चेष्टा या क्रियाके साथ कम-से-कम संबंध है। माला, तिलक, अर्घ्यादि साधन भले ही भक्त बरते, पर ये भक्तिके लक्षण नहीं हैं। जो किसीका द्वेष नहीं करता, जो करुणाका भंडार है और ममतारहित है, जो निरहंकार है, जिसे सुख-दुःख, शीत-उष्ण समान हैं, जो क्षमाशील है, जो सदा संतोषी है, जिसके निश्चय कभी बदलते नहीं, जिसने मन और बुद्धि ईश्वरको अर्पण कर दिये हैं, जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगोंका भय नहीं रखता, जो हर्ष-शोक-भयादिसे मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्यदक्ष होनेपर भी तटस्थ है, जो शुभाशुभका त्याग

करनेवाला है, जो शत्रु-मित्रपर समभाव रखनेवाला है, जिसे मान-अपमान समान है, जिसे स्तुतिसे खुशी नहीं होती और निंदासे ग्लानि नही होती, जो मौनधारी है, जिसे एकांत प्रिय है, जो स्थिरबुद्धि है, वह भक्त है। यह भक्ति आसक्त स्त्री-पुरुषोंमें संभव नहीं है।

इसमेंसे हम देखते हैं कि ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना ही आत्मदर्शन है। आत्मदर्शन उससे भिन्न वस्तु नहीं है। जैसे रुपयेके बदलेमें जहर खरीदा जा सकता है और अमृत भी लाया जा सकता है, वैसे ज्ञान या भक्तिके बदले बंधन भी लाया जा सके और मोक्ष भी, यह संभव नहीं है। यहां तो साधन और साध्य, बिलकुल एक नही तो लगभग एक ही वस्तु है, साधनकी पराकाष्ठा जो है वही मोक्ष है और गीताके मोक्षका अर्थ परमशांति है।

किंतु ऐसे ज्ञान और भक्तिको कर्मफलत्यागकी कसौटीपर चढ़ना ठहरा। लौकिक कल्पनामें शुष्क पंडित भी ज्ञानी मान लिया जाता है। उसे कुछ काम करनेको नही रहता। हाथसे लोटा तक उठाना भी उसके लिए कर्मबंधन है। यज्ञशून्य जहां ज्ञानी गिना जाय वहां लोटा उठाने-जैसी तुच्छ लौकिक क्रियाको स्थान ही कैसे मिल सकता है?

लौकिक कल्पनामें भक्तसे मतलब है बाह्याचारी,[1] माला लेकर जप करनेवाला। सेवाकर्म करते भी उसकी मालामें विक्षेप पड़ता है। इसलिए वह खाने-पीने आदि भोग भोगनेके समय ही मालाको हाथसे छोड़ता है, चक्की चलाने या रोगीकी सेवा-शुश्रूषा करनेके लिए कभी नहीं छोड़ता।

इन दोनों वर्गोंको गीताने साफतौरसे कह दिया, "कर्म बिना किसीने सिद्धि नहीं पाई। जनकादि भी कर्मद्वारा ज्ञानी हुए। यदि मैं भी

---

[1] जो बाह्याचारमें लीन रहता है और शुद्ध भावसे मानता है कि यही भक्ति है।

आलस्यरहित होकर कर्म न करता रहूं तो इन लोकोंका नाश हो जाय।" तो फिर लोगोंके लिए पूछना ही क्या रह जाता है ?

परंतु एक ओरसे कर्ममात्र बंधनरूप हैं, यह निर्विवाद है। दूसरी ओरसे देही इच्छा-अनिच्छासे भी कर्म करता रहता है। शारीरिक या मानसिक सभी चेष्टाएं कर्म हैं। तब कर्म करते हुए भी मनुष्य बंधनमुक्त कैसे रहे ? जहांतक मुझे मालूम है, इस समस्याको गीताने जिस तरह हल किया है वैसे दूसरे किसी भी धर्मग्रंथने नहीं किया है। गीताका कहना है, "फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो", "आशारहित होकर कर्म करो", "निष्काम होकर कर्म करो।" यह गीताकी वह ध्वनि है जो भुलाई नहीं जा सकती। जो कर्म छोड़ता है वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोड़ता है वह चढ़ता है। फलत्यागका यह अर्थ नहीं है कि परिणामके संबंधमें लापरवाही रहे। परिणाम और साधनका विचार और उसका ज्ञान अत्यावश्यक है। इतना होनेके बाद जो मनुष्य परिणामकी इच्छा किये बिना साधनमें तन्मय रहता है वह फलत्यागी है।

पर यहां फलत्यागका कोई यह अर्थ न करे कि त्यागीको फल मिलता नहीं। गीतामें ऐसे अर्थको कहीं स्थान नहीं है। फलत्यागसे मतलब है फलके संबंधमें आसक्तिका अभाव। वास्तवमें देखा जाय तो फलत्यागीको तो हजारगुना फल मिलता है। गीताके फलत्यागमें तो अपरिमित श्रद्धाकी परीक्षा है। जो मनुष्य परिणामका ध्यान करता रहता है वह बहुत बार कर्म—कर्तव्यभ्रष्ट हो जाता है। उसे अधीरता घेरती है, इससे वह क्रोधके वश हो जाता है और फिर वह न करने योग्य करने लग पड़ता है, एक कर्ममेंसे दूसरेमें और दूसरेमेंसे तीसरेमें पड़ता जाता है। परिणामकी चिंता करनेवालेकी स्थिति विषयांधकी-सी हो जाती है और अंतमें वह विषयीकी भांति सारासारका, नीति-अनीतिका विवेक छोड़ देता है और फल प्राप्त करनेके लिए हर किसी साधनसे काम लेता है और उसे धर्म मानता है।

फलासक्तिके ऐसे कटु परिणामोंमेंसे गीताकारने अनासक्तिका अर्थात् कर्मफलत्यागका सिद्धांत निकाला और संसारके सामने अत्यंत आकर्षक भाषामें रखा। साधारणतः तो यह माना जाता है कि धर्म और अर्थ विरोधी वस्तु है, "व्यापार इत्यादि लौकिक व्यवहारमें धर्म नही बचाया जा सकता, धर्मको जगह नहीं हो सकती, धर्मका उपयोग केवल मोक्षके लिए किया जा सकता है। धर्मकी जगह धर्म शोभा देता है और अर्थकी जगह अर्थ। बहुतोंसे ऐसा कहते हम सुनते हैं।" गीताकारने इस भ्रमको दूर किया है। उसने मोक्ष और व्यवहारके बीच ऐसा भेद नहीं रखा है, वरन् व्यवहारमें धर्मको उतारा है। जो धर्म व्यवहारमें न लाया जा सके वह धर्म नही है, मेरी समझसे यह बात गीतामें है। मतलब, गीताके मतानुसार जो कर्म ऐसे हैं कि आसक्तिके बिना हो ही न सकें वे सभी त्याज्य है। ऐसा सुवर्ण-नियम मनुष्यको अनेक धर्मसंकटोंमेंसे बचाता है। इस मतके अनुसार खून, झूठ, व्यभिचार इत्यादि कर्म अपने-आप त्याज्य हो जाते हैं। मानव-जीवन सरल बन जाता है और सरलतामेंसे शांति उत्पन्न होती है।

इस विचारश्रेणीके अनुसार मुझे ऐसा जान पड़ा है कि गीताकी शिक्षाको व्यवहारमें लानेवालेको अपने-आप सत्य और अहिंसाका पालन करना पड़ता है। फलासक्तिके बिना न तो मनुष्यको असत्य बोलनेका लालच होता है, न हिंसा करनेका। चाहे जिस हिंसा या असत्यके कार्यको हम लें, यह मालूम हो जायगा कि उसके पीछे परिणामकी इच्छा रहती है। गीताकालके पहले भी अहिंसा परमधर्मरूप मानी जाती थी। पर गीताको तो अनासक्तिके सिद्धांतका प्रतिपादन करना था। दूसरे अध्यायमें ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

परंतु यदि गीताको अहिंसा मान्य थी अथवा अनासक्तिमें अहिंसा अपने-आप आ ही जाती है तो गीताकारने भौतिक युद्धको उदाहरणके रूपमें भी क्यों लिया? गीतायुगमें अहिंसा धर्म मानी जानेपर भी भौतिक

युद्ध सर्वमान्य वस्तु होनेके कारण गीताकारको ऐसे युद्धका उदाहरण लेते संकोच नहीं हुआ और न होना चाहिए था।

परन्तु फलत्यागके महत्त्वका अंदाजा करते हुए गीताकारके मनमें क्या विचार थे, उसने अहिंसाकी मर्यादा कहां निश्चित की थी, इसपर हमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। कवि महत्त्वके सिद्धांतोंको संसारके संमुख उपस्थित करता है, इसके यह मानी नहीं होते कि वह सदा अपने उपस्थित किये हुए सिद्धांतोंका महत्त्व पूर्णरूपसे पहचानता है या पहचाननेके बाद समूचेको आचारमें रख सकता है। इसमें काव्यकी और कविकी महिमा है। कविके अर्थका अंत ही नहीं है। जैसे मनुष्यका, उसी प्रकार महावाक्योंके अर्थका विकास होता ही रहता है। भाषाओंके इतिहाससे हमें मालूम होता है कि अनेक महान् शब्दोंके अर्थ नित्य नये होते रहे है। यही बात गीताके अर्थके संबंधमें भी है। गीताकारने स्वयं महान् रूढ़ शब्दोंके अर्थका विस्तार किया है। गीताको ऊपरी दृष्टिसे देखने-पर भी यह बात मालूम हो जाती है। गीतायुगके पहले कदाचित् यज्ञमें पशु-हिंसा मान्य रही हो। गीताके यज्ञमें उसकी कही गंधतक नहीं है। उसमें तो जपयज्ञ यज्ञोंका राजा है। तीसरा अध्याय बतलाता है कि यज्ञका अर्थ है मुख्यरूपसे परोपकारके लिए शरीरका उपयोग। तीसरा और चौथा अध्याय मिलाकर दूसरी व्याख्याए भी निकाली जा सकती हैं; पर पशु-हिंसा नहीं निकाली जा सकती। वही बात गीताके संन्यासके अर्थके संबंधमें है। कर्ममात्रका त्याग गीताके संन्यासको भाता ही नहीं। गीता-का सन्यासी अतिकर्मी है तथापि अति-अकर्मी है। इस प्रकार गीताकारने महान् शब्दोंका व्यापक अर्थ करके अपनी भाषाका भी व्यापक अर्थ करना हमें सिखाया है। गीताकारकी भाषाके अक्षरोंसे यह बात भले ही निकलती हो कि संपूर्ण कर्मफलत्यागीद्वारा भौतिक युद्ध हो सकता है, परंतु गीताकी शिक्षाको पूर्णरूपसे अमलमें लानेका ४० वर्षतक सतत प्रयत्न करनेपर

मुझे तो नम्रतापूर्वक ऐसा जान पड़ा है कि सत्य और अहिंसाका पूर्णरूपसे पालन किये बिना संपूर्ण कर्मफलत्याग मनुष्यके लिए असंभव है।

गीता सूत्रग्रंथ नहीं है। गीता एक महान धर्मकाव्य है। उसमें जितना गहरे उतरिए उतने ही उसमेंसे नये और सुंदर अर्थ लीजिए। गीता जनसमाजके लिए है, उसमें एक ही बातको अनेक प्रकारसे कहा है। अत. गीतामें आये हुए महाशब्दोंका अर्थ युग-युगमें बदलता और विस्तृत होता रहेगा। गीताका मूलमंत्र कभी नही बदल सकता। वह मंत्र जिस रीतिसे सिद्ध किया जा सके उस रीतिसे जिज्ञासु चाहे जो अर्थ कर सकता है।

गीता विधिनिषेध बतलानेवाली भी नही है। एकके लिए जो विहित होता है, वही दूसरेके लिए निषिद्ध हो सकता है। एक काल या एक देशमे जो विहित होता है, वह दूसरे कालमें, दूसरे देशमे निषिद्ध हो सकता है। निषिद्ध केवल फलासक्ति है, विहित है अनासक्ति।

गीतामें ज्ञानकी महिमा सुरक्षित है, तथापि गीता बुद्धिगम्य नही है, वह हृदयगम्य है। अतः वह अश्रद्धालुके लिए नही है। गीताकारने ही कहा है—

"जो तपस्वी नही है, जो भक्त नही है, जो सुनना नहीं चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, उससे यह (ज्ञान) तू कभी न कहना।" १८।६७

"परंतु यह परमगुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तोंको देगा, वह मेरी परमभक्ति करनेके कारण निःसंदेह मुझे ही पावेगा।" १८।६८

"और जो मनुष्य द्वेषरहित होकर श्रद्धापूर्वक केवल सुनेगा वह भी मुक्त होकर पुण्यवान जहा बसते हैं उस शुभ लोकको पावेगा।" १८।७१

(कौसानी, हिमालय)
सोमवार
आषाढ़ कृष्ण २, १९८६
ता० २४-६-२९

—मो० क० गांधी

अनासक्तियोग

: १ :

अर्जुनविषादयोग

जिज्ञासा बिना ज्ञान नहीं होता। दुःख बिना सुख नही होता। धर्मसंकट—हृदयमथन सब जिज्ञासुओंको एक बार होता ही है।

धृतराष्ट्र बोले—

हे संजय! मुझे बतलाओ कि धर्मक्षेत्ररूपी कुरुक्षेत्रमें युद्ध करनेकी इच्छासे इकट्ठे हुए मेरे और पाडुके पुत्रोंने क्या किया? १

टिप्पणी—यह शरीररूपी क्षेत्र धर्मक्षेत्र है, क्योंकि यह मोक्षका द्वार हो सकता है। पापसे इसकी उत्पत्ति है और पापका यह भाजन बना रहता है, इसलिए यह कुरुक्षेत्र है।

कौरव अर्थात् आसुरी वृत्तियां। पांडुपुत्र अर्थात् दैवी वृत्तियां। प्रत्येक शरीरमें भली और बुरी वृत्तियोंमें युद्ध चलता ही रहता है, यह कौन नहीं अनुभव करता?

संजयने कहा—

उस समय पांडवोंकी सेना सजी देखकर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोणके पास जाकर बोले— २

हे आचार्य ! अपने बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नद्वारा सजाई हुई पांडवोंकी इस बड़ी सेनाको देखिए । ३

यहां भीम, अर्जुन-जैसे लड़नेमें शूरवीर धनुर्धर, युयुधान (सात्यकि), विराट और महारथी द्रुपदराज, ४

धृष्टकेतु, चेकितान, शूरवीर काशिराज, पुरुजित्, कुंतिभोज और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य, ५

इसी प्रकार पराक्रमी युधामन्यु, बलवान उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु) और द्रौपदीके पुत्र, ये सभी महारथी हैं । ६

हे द्विजश्रेष्ठ ! अब हमारी ओरके जो मुख्य योद्धा हैं उन्हें आप जान लीजिए । अपनी सेनाके नायकोंके नाम मैं आपके ध्यानमें लानेके लिए कहता हूं । ७

एक तो आप, भीष्म, कर्ण, युद्धमें जयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा, ८

दूसरे भी बहुतेरे नाना प्रकारके शस्त्रोंसे युद्ध करनेवाले शूरवीर हैं, जो मेरे लिए प्राण देनेवाले हैं । वे सब युद्धमें कुशल हैं । ९

भीष्मद्वारा रक्षित हमारी सेनाका बल अपूर्ण है,
पर भीमद्वारा रक्षित उनकी सेना पूर्ण है। १०

इसलिए आप सब अपने-अपने स्थानसे सब मार्गोंसे
भीष्मपितामहकी रक्षा अच्छी तरह करें। ११
(इस प्रकार दुर्योधनने कहा)

तब उसे आनंदित करते हुए कुरुवृद्ध प्रतापी
पितामहने उच्चस्वरसे सिंहनाद करके शंख
बजाया। १२

फिर तो शंख, नगारे, ढोल, मृदंग और रणसिंगे
एक साथ ही बज उठे। यह नाद भयंकर था। १३

इतनेमें सफेद घोड़ोंवाले बड़े रथपर बैठे हुए
श्रीकृष्ण और अर्जुनने दिव्य शंख बजाये। १४

श्रीकृष्णने पांचजन्य शंख बजाया। धनंजय अर्जुनने
देवदत्त शंख बजाया। भयंकर कर्मवाले भीमने पौंड्र
नामक महाशंख बजाया। १५

कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनंतविजय नामक
शंख बजाया और नकुलने सुघोष तथा सहदेवने मणि-
पुष्पक नामक शंख बजाया। १६

बड़े धनुषवाले काशिराज, महारथी शिखंडी,
धृष्टद्युम्न, विराटराज, अजेय सात्यकि, १७

द्रुपदराज, द्रौपदीके पुत्र, सुभद्रापुत्र महाबाहु

अभिमन्यु, इन सबने, हे राजन् ! अपने-अपने शंख बजाए। १८

पृथ्वी और आकाशको गुंजा देनेवाले उस भयंकर नादने कौरवोंके हृदय विदीर्ण कर डाले। १९

हे राजन् ! हनुमान चिह्नकी ध्वजावाले अर्जुनने कौरवोंको सजे देखकर, हथियार चलानेकी तैयारीके समय अपना धनुष चढ़ाकर हृषीकेशसे ये वचन कहे— २०-२१

अर्जुन बोले—

"हे अच्युत ! मेरा रथ दोनो सेनाओंके बीचमें खड़ा रखो; २१

जिससे युद्धकी कामनासे खड़े हुए लोगोंको मैं देखूं और जानूं कि इस रणसंग्राममें मुझे किसके साथ लड़ना है। २२

दुर्बुद्धि दुर्योधनका युद्धमें प्रिय करनेकी इच्छा-वाले जो योद्धा इकट्ठे हुए हैं उन्हें मैं देखूं तो सही।" २३

संजयने कहा—

हे राजन् ! जब अर्जुनने श्रीकृष्णसे यों कहा तब उन्होंने दोनों सेनाओंके बीचमें सब राजाओं और भीष्म-द्रोणके सम्मुख उत्तम रथ खड़ा करके कहा—

"हे पार्थ ! इन इकट्ठे हुए कौरवोंको देख।" २४-२५

वहां दोनों सेनाओंमें विद्यमान बड़े-बूढ़े, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, ससुर और स्नेहियोंको अर्जुनने देखा। इन सब बांधवोंको यों खड़ा देखकर, खेद उत्पन्न होनेके कारण दीन बने हुए, कुंतीपुत्र इस प्रकार बोले— २६-२७-२८

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! युद्धके लिए उत्सुक होकर इकट्ठे हुए इन स्वजन स्नेहियोंको देखकर मेरे गात्र शिथिल होते जा रहे हैं, मुंह सूख रहा है, शरीर कांप रहा है और रोएं खड़े हो रहे हैं। २८-२९

हाथसे गांडीव सरक रहा है, त्वचा बहुत जलती है। मुझसे खड़ा नहीं रहा जाता, क्योंकि मेरा दिमाग चक्कर-सा खा रहा है। ३०

इसके सिवा हे केशव ! मैं तो विपरीत लक्षण देख रहा हूं। युद्धमें स्वजनोंको मारकर कुछ श्रेय नहीं देखता। ३१

उन्हें मारकर न मैं विजय चाहता, न राज्य और सुख चाहता; हे गोविन्द ! मुझे राज्यका, भोगका या जिंदगीका क्या काम है ? ३२

जिनके लिए राज्य, भोग और सुखकी हमने चाहना की वे ये आचार्य, काका, पुत्र, पितामह, मामा, ससुर, पौत्र, साले और अन्य संबंधीजन जीवन और धनकी आशा छोड़कर युद्धके लिए खड़े हैं। ३३-३४

मुझे ये मार डालें अथवा मुझे तीनों लोकका राज्य मिले तो भी, हे मधुसूदन ! मैं उन्हें मारना नहीं चाहता। तो फिर एक जमीनके टुकड़ेके लिए कैसे मारूं ? ३५

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर मुझे क्या आनंद होगा ? इन आततायियोंको भी मारकर हमें पाप ही लगेगा। ३६

इससे हे माधव ! यह उचित नहीं कि अपने ही बांधव धृतराष्ट्रके पुत्रोंको हम मारें। स्वजनको ही मारकर कैसे सुखी हो सकते हैं ? ३७

लोभसे जिनके चित्त मलिन हो गये हैं वे कुलनाशसे होनेवाले दोषको और मित्रद्रोहके पापको भले ही न देख सकें, परंतु हे जनार्दन ! कुलनाशसे होनेवाले दोषको समझनेवाले हम लोग इस पापसे बचना क्यों न जानें ? ३८-३९

कुलके नाशमें सनातन कुलधर्मोंका नाश होता है और धर्मका नाश होनेसे अधर्म समूचे कुलको डुबा देता है। ४०

हे कृष्ण ! अधर्मकी वृद्धि होनेसे कुलस्त्रियां दूषित होती हैं और उनके दूषित होनेसे वर्णका संकर होता है । ४१

ऐसे संकरसे कुलघातकका और उसके कुलका नरकवास होता है और पिंडोदकको क्रिया से वंचित रहनेके कारण उसके पितरोंकी अधोगति होती है । ४२

कुलघातक लोगोंके इस वर्णसंकरको उत्पन्न करनेवाले दोषोंसे सनातन जातिधर्म और कुलधर्मोंका नाश होता है । ४३

हे जनार्दन ! कुलधर्मका नाश हुए मनुष्यका नरकमें अवश्य वास होता है, ऐसा हम लोग सुनते आये हैं । ४४

अहो, कैसे दुःखकी बात है कि हमलोग महापाप करनेको तुल गये हैं, अर्थात राज्य-सुखके लोभसे स्वजनको मारनेको तैयार हो गये हैं ! ४५

निःशस्त्र और सामना न करनेवाले मुझको यदि धृतराष्ट्रके शस्त्रधारी पुत्र रणमें मार डालें तो वह मेरे लिए बहुत कल्याणकारक होगा । ४६

संजयने कहा—

ऐसा कहकर रणमें शोकसे व्यग्रचित्त हुए अर्जुन धनुषबाण डालकर रथके पिछले भागमें बैठ गया । ४७

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'अर्जुनविषादयोग' नामक पहला अध्याय ।

: २ :

सांख्ययोग

मोहके वश होकर मनुष्य अधर्मको धर्म मानता है । मोहके कारण अर्जुनने अपना और पराया भेद किया, इस भेदको मिथ्या बतलाते हुए श्रीकृष्ण देह और आत्माकी भिन्नता, देहकी अनित्यता और पृथक्ता तथा आत्माकी नित्यता और उसकी एकता बतलाते हैं। मनुष्य केवल पुरुषार्थका अधिकारी है, परिणामका नहीं । इसलिए उसे कर्तव्यका निश्चय करके निश्चिंत भावसे उसमें लगे रहना चाहिए । ऐसी परायणतासे वह मोक्षकी प्राप्तिको पहुंच सकता है ।

संजयने कहा—

यों करुणासे दीन बने हुए और अश्रुपूर्ण व्याकुल नेत्रोंवाले दुःखी अर्जुनसे मधुसूदनने ये वचन कहे— १

श्रीभगवान बोले—

हे अर्जुन ! श्रेष्ठ पुरुषोंके अयोग्य, स्वर्गसे विमुख रखनेवाला और अपयश देनेवाला यह मोह तुझे ऐसी विषम घड़ीमें कहांसे हो गया ? २

हे पार्थ ! तू नामर्द मत बन। यह तुझे शोभा नहीं देता। हृदयकी पामर निर्बलताका त्याग करके हे परंतप ! तू उठ। ३

अर्जुन बोले—

हे मधुसूदन ! भीष्मको और द्रोणको रणभूमिमें बाणोंसे मैं कैसे मारूं ? हे अरिसूदन ! ये तो पूजनीय हैं। ४

महानुभाव गुरुजनोंको मारनेके बदले इस लोकमें भिक्षान्न खाना भी अच्छा है; क्योंकि गुरुजनोंको मारकर तो मुझे रक्तसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोग ही भोगने ठहरे। ५

मैं नहीं जानता कि दोनोंमें क्या अच्छा है, हम जीतें यह, या वे हमें जीतें यह ? जिन्हें मारकर मैं जीना नहीं चाहता वे धृतराष्ट्रके पुत्र यह सामने खड़े हैं। ६

कायरतासे मेरी (जातीय) वृत्ति मारी गई है। मैं कर्त्तव्य-विमूढ़ हो गया हूं। इसलिए जिसमें मेरा हित

हो, वह मुझसे निश्चयपूर्वक कहनेकी आपसे प्रार्थना करता हूं। मैं आपका शिष्य हूं। आपकी शरणमें आया हूं। मुझे मार्ग बतलाइए। ७

इस लोकमें धनधान्यसंपन्न निष्कंटक राज्य मिले और इंद्रासन मिले तो उसमें भी इंद्रियोंको चूस लेने-वाले मेरे शोकको दूरकर सकने-जैसा मैं कुछ नहीं देखता। ८

संजयने कहा—

हे राजन ! गुडाकेश अर्जुन हृषीकेश गोविंदसे ऐसा कहकर, 'नहीं लड़ूंगा' कहते हुए चुप हो गये। ९

हे भारत ! इन दोनों सेनाओंके बीचमें उदास होकर बैठे हुए अर्जुनसे मुस्कराते हुए हृषीकेशने ये वचन कहे— १०

श्रीभगवान बोले—

तू शोक न करनेयोग्यका शोक करता है और पंडिताईके बोल बोलता है; परंतु पंडित मृत और जीवितोंका शोक नहीं करते। ११

क्योंकि वास्तवमें देखने पर, मैं, तू या ये राजा किसी कालमें नहीं थे अथवा भविष्यमें नहीं होंगे, ऐसा कुछ नहीं है। १२

देहधारीको जैसे इस शरीरमें कौमार, यौवन और जराकी प्राप्ति होती है, वैसे ही अन्य देह भी मिलती है। उसमें बुद्धिमान पुरुषको मोह नहीं होता। १३

हे कौंतेय! इंद्रियोंके स्पर्श सरदी, गरमी, सुख और दुःख देनेवाले होते हैं। वे अनित्य होते हैं, आते हैं और जाते हैं। उन्हें तू सह। १४

हे पुरुषश्रेष्ठ! सुखदुःखमें सम रहनेवाले जिस बुद्धिमान् पुरुषको ये विषय व्याकुल नहीं करते वह मोक्षके योग्य बनता है। १५

असत्‌का अस्तित्व नहीं है और सत्‌का नाश नहीं है। इन दोनोंका निर्णय ज्ञानियोंने जाना है। १६

जिससे यह अखिल जगत व्याप्त है, उसे तू अविनाशी जान। इस अव्ययका नाश करनेमें कोई समर्थ नहीं है। १७

नित्य रहनेवाले, अपरिमित और अविनाशी देहीकी ये देहें नाशवान कही गई हैं, इसलिए हे भारत! तू युद्ध कर। १८

जो इसे मारनेवाला मानता है और जो इसे मारा हुआ मानता है, वे दोनों कुछ जानते नहीं हैं। यह (आत्मा) न मारता है, न मारा जाता है। १९

यह कभी जन्मता नहीं है, मरता नहीं है। यह था

और भविष्यमें नहीं होगा ऐसा भी नहीं है। इसलिए यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है, शरीर-का नाश होनेसे इसका नाश नहीं होता। २०

हे पार्थ ! जो पुरुष आत्माको अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय मानता है वह किसे, कैसे मरवाता है या किसे मारता है ? २१

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोड़कर नये धारण करता है वैसे देहधारी जीर्ण हुई देहको त्यागकर दूसरी नई देह पाता है। २२

इस (आत्मा)को शस्त्र छेदते नहीं, आग जलाती नहीं, पानी भिगोता नहीं, वायु सुखाता नहीं। २३

यह छेदा नहीं जा सकता है, जलाया नहीं जा सकता है, न भिगोया जा सकता है, न सुखाया जा सकता है। यह नित्य है, सर्वगत है, स्थिर है, अचल है और सनातन है। २४

फिर, यह इंद्रिय और मनके लिए अगम्य है, विकाररहित कहा गया है, इसलिए इसे वैसा जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं है। २५

अथवा जो तू इसे नित्य जन्मने और मरनेवाला माने तो भी, हे महाबाहो ! तुझे शोक करना उचित नहीं है। २६

जन्मे हुएके लिए मृत्यु और मरे हुएके लिए जन्म अनिवार्य है । अतः जो अनिवार्य है उसका शोक करना उचित नहीं है । २७

हे भारत ! भूतमात्रकी जन्मके पहलेकी और मृत्युके पीछेकी अवस्था देखी नहीं जा सकती, वह अव्यक्त है, बीचकी ही स्थिति व्यक्त होती है । इसमें चिंताका क्या कारण है ? २८

टिप्पणी—भूत अर्थात् स्थावर-जंगम सृष्टि ।

कोई इसे आश्चर्य समान देखता है दूसरा इसे आश्चर्यसमान वर्णन करता है और दूसरा इसे आश्चर्य-समान वर्णन किया हुआ सुनता है, परंतु सुननेपर भी कोई इसे जानता नहीं है । २९

हे भारत ! सबकी देहमें विद्यमान यह देहधारी आत्मा नित्य अवध्य है, इसलिए भूतमात्रके विषयमें तुझे शोक करना उचित नहीं है । ३०

टिप्पणी—यहांतक श्रीकृष्णने बुद्धिप्रयोगसे आत्माका नित्यत्व और देहका अनित्यत्व समझाकर बत-लाया कि यदि किसी स्थितिमें देहका नाश करना उचित समझा जाय तो स्वजनपरिजनका भेद करके कौरव सगे हैं, इसलिए उन्हें कैसे मारा जाय यह विचार मोह-जन्य है। अब अर्जुनको बतलाते हैं कि क्षत्रिय धर्म क्या है।

स्वधर्मको समझकर भी तुझे हिचकिचाना उचित नहीं, क्योंकि धर्मयुद्धकी अपेक्षा क्षत्रियके लिए और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता। ३१

हे पार्थ! यों अपने-आप प्राप्त हुआ और मानो स्वर्गका द्वार ही खुल गया हो ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियोंको ही मिलता है। ३२

यदि तू यह धर्मप्राप्त युद्ध नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा। ३३

सब लोग तेरी निंदा निरंतर किया करेंगे और सम्मानित पुरुषके लिए अपकीर्ति मरणसे भी बुरी है। ३४

जिन महारथियोंसे तूने मान पाया है, वे तुझे भयके कारण रणसे भागा मानेंगे और तुझे तुच्छ समझेंगे। ३५

और तेरे शत्रु तेरे बलकी निंदा करते हुए बहुत-सी न कहनेयोग्य बातें कहेंगे। इससे अधिक दुःख-दायी और क्या हो सकता है? ३६

यदि तू मारा जायगा तो तुझे स्वर्ग मिलेगा। यदि तू जीतेगा तो पृथ्वी भोगेगा। अतः हे कौंतेय! लड़नेका निश्चय करके तू खड़ा हो। ३७

टिप्पणी—इस प्रकार भगवानने आत्माका नित्यत्व

और देहका अनित्यत्व बतलाया। फिर यह भी बतलाया कि अनायासप्राप्त युद्ध करनेमें क्षत्रियको धर्मकी बाधा नहीं होती। इस प्रकार ३१वें श्लोकसे भगवानने परमार्थके साथ उपयोगका मेल मिलाया है। इतना कहकर फिर भगवान गीताके प्रधान उपदेशका दिग्दर्शन एक श्लोकमें कराते हैं।

सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजयको समान समझकर युद्धके लिए तैयार हो। ऐसा करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा। ३८

मैंने तुझे सांख्यसिद्धांत (तर्कवाद) के अनुसार तेरा यह कर्त्तव्य बतलाया।

अब योगवादके अनुसार समझाता हूं सो सुन। इसका आश्रय लेनेसे तू कर्मबंधनको तोड़ सकेगा। ३९

इसमें आरंभका नाश नहीं होता, उलटा नतीजा नहीं निकलता। इस धर्मका थोड़ा-सा पालन भी महाभयसे बचा लेता है। ४०

हे कुरुनंदन! योगवादीकी निश्चयात्मक बुद्धि एकरूप होती है, परंतु अनिश्चयवालोंकी बुद्धियां अनेक शाखाओंवाली और अनंत होती हैं। ४१

टिप्पणी—जब बुद्धि एकसे मिटकर अनेक (बुद्धि-

यां) होती है, तब वह बुद्धि न रहकर वासनाका रूप धारण करती है। इसलिए बुद्धियोंसे तात्पर्य है वासनाएँ।

अज्ञानी वेदवादी, 'इसके सिवा और कुछ नहीं है' यह कहनेवाले, कामनावाले, स्वर्गको श्रेष्ठ माननेवाले, जन्म-मरणरूपी कर्मके फल देनेवाली, भोग और ऐश्वर्यप्राप्तिके लिए किये जानेवाले कर्मोंके वर्णनसे भरी हुई बातें बढ़ा-बढ़ाकर कहते हैं। भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त रहनेवाले इन लोगोंकी वह बुद्धि मारी जाती है, इनकी बुद्धि न तो निश्चयवाली होती है और न वह समाधिमें ही स्थिर हो सकती है।

४२-४३-४४

टिप्पणी—योगवादके विरुद्ध कर्मकांड अथवा वेदवादका वर्णन उपर्युक्त तीन श्लोकोंमें आया है। कर्मकांड या वेदवादका मतलब फल उपजानेके लिए मंथन करनेवाली अगणित क्रियाएँ। ये क्रियाएँ वेदके रहस्यसे, वेदांतसे अलग और अल्प फलवाली होनेके कारण निरर्थक हैं।

हे अर्जुन ! जो तीन गुण वेदके विषय हैं, उनसे तू अलिप्त रह। सुख-दुःखादि द्वंद्वोंसे मुक्त हो। नित्य सत्य वस्तुमें स्थित रह। किसी वस्तुको पाने

और संभालनेके झंझटसे मुक्त रह। आत्मपरायण हो। ४५

जैसे जो काम कुएंसे निकलते हैं वे सब, सब प्रकारसे सरोवरसे निकलते हैं, वैसे जो सब वेदोंमें है वह ज्ञानवान् ब्रह्मपरायणको आत्मानुभवमेंसे मिल रहता है। ४६

कर्ममें ही तुझे अधिकार है, उससे उत्पन्न होनेवाले अनेक फलोंमें कदापि नहीं। कर्मका फल तेरा हेतु न हो। कर्म न करनेका भी तुझे आग्रह न हो। ४७

हे धनंजय! आसक्ति त्यागकर योगस्थ रहते हुए अर्थात् सफलता-निष्फलतामें समान भाव रखकर तू कर्म कर। समताका ही नाम योग है। ४८

हे धनंजय! समत्वबुद्धिकी तुलनामें केवल कर्म बहुत तुच्छ है। तू समत्वबुद्धिका आश्रय ले। फलको हेतु बनानेवाले मनुष्य दयाके पात्र हैं। ४९

बुद्धियुक्त अर्थात् समतावाले पुरुषको यहां पाप-पुण्यका स्पर्श नहीं होता, इसलिए तू समत्वके लिए प्रयत्न कर। समता ही कार्यकुशलता है। ५०

क्योंकि समत्वबुद्धिवाले लोग कर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलका त्याग करके जन्मबंधनसे मुक्त हो जाते

हैं और निष्कलंकगति—मोक्षपद—पाते हैं। ५१

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़से पार उतर जायगी तब तुझे सुने हुएके विषयमें और सुननेको जो बाकी होगा उसके विषयमें उदासीनता प्राप्त होगी। ५२

अनेक प्रकारके सिद्धांतोंको सुननेसे व्यग्र हुई तेरी बुद्धि जब समाधिमें स्थिर होगी तभी तू समत्वको प्राप्त होगा। ५३

अर्जुन बोले—

हे केशव! स्थितप्रज्ञ अथवा समाधिस्थके क्या लक्षण होते हैं? स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता, बैठना और चलता है? ५४

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ! जब मनुष्य मनमें उठती हुई समस्त कामनाओंका त्याग करता है और आत्माद्वारा ही आत्मामें संतुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। ५५

टिप्पणी—आत्मासे ही आत्मामें संतुष्ट रहना अर्थात् आत्माका आनंद अंदरसे खोजना, सुख-दु:ख देनेवाली बाहरी चीजोंपर आनंदका आधार न रखना। आनंद सुखसे भिन्न वस्तु है यह ध्यानमें रखना चाहिए। मुझे धन मिलनेपर मैं उसमें सुख मानूं यह मोह है।

मैं भिखारी होऊं, भूखका दुःख होनेपर भी चोरी या दूसरे प्रलोभनोंमें न पड़नेमें जो बात मौजूद है वह आनंद देती है और वही आत्मसंतोष है।

दुःखसे जो दुःखी न हो, सुखकी इच्छा न रखे और जो राग, भय और क्रोधसे रहित हो वह स्थिरबुद्धि मुनि कहलाता है। ५६

सर्वत्र रागरहित होकर जो पुरुष शुभ या अशुभकी प्राप्तिमें न हर्षित होता है, न शोक करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है। ५७

कछुआ जैसे सब ओरसे अंग समेट लेता है वैसे जब यह पुरुष इंद्रियोंको उनके विषयोंमेंसे समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई कही जाती है। ५८

देहधारी निराहारी रहता है तब उसके विषय मंद पड़ जाते हैं। परंतु रस नहीं जाता। वह रस तो ईश्वरका साक्षात्कार होनेसे निवृत्त होता है। ५९

टिप्पणी—यह श्लोक उपवास आदिका निषेध नहीं करता, वरन उसकी सीमा सूचित करता है। विषयोंको शांत करनेके लिए उपवासादि आवश्यक हैं, परंतु उनकी जड़ अर्थात उनमें रहनेवाला रस तो ईश्वरकी झांकी होनेपर ही निवृत्त होता है। ईश्वर-

साक्षात्कारका जिसे रस लग जाता है वह दूसरे रसोंको भूल ही जाता है।

हे कौंतेय ! चतुर पुरुषके उद्योग करते रहनेपर भी इंद्रियां ऐसी प्रमथनशील हैं कि उसके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं। ६०

इन सब इंद्रियोंको वशमें रखकर योगीको मुझमें तन्मय हो रहना चाहिए; क्योंकि अपनी इंद्रियां जिसके वशमें हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है। ६१

टिप्पणी—तात्पर्य, भक्तिके बिना—ईश्वरकी सहायताके बिना—मनुष्यका प्रयत्न मिथ्या है।

विषयोंका चिंतन करनेवाले पुरुषको उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्तिमेंसे कामना होती है और कामनामेंसे क्रोध उत्पन्न होता है। ६२

टिप्पणी—कामनावालेके लिए क्रोध अनिवार्य है; क्योंकि काम कभी तृप्त होता ही नहीं।

क्रोधमेंसे मूढ़ता उत्पन्न होती है, मूढ़तासे स्मृति भ्रांत हो जाती है, स्मृति भ्रांत होनेसे ज्ञानका नाश हो जाता है और जिसका ज्ञान नष्ट हो गया वह मृतक-तुल्य है। ६३

परंतु जिसका मन अपने अधिकारमें है और जिसकी इंद्रियां रागद्वेषरहित होकर उसके वशमें रहती

हैं, वह मनुष्य इंद्रियोंका व्यापार चलाते हुए भी चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त करता है। ६४

चित्तकी प्रसन्नतासे उसके सब दुःख दूर हो जाते हैं और प्रसन्नता प्राप्त हो जानेवालेकी बुद्धि तुरंत ही स्थिर हो जाती है। ६५

जिसे समत्व नहीं, उसे विवेक नहीं, उसे भक्ति नहीं और जिसे भक्ति नहीं उसे शांति नहीं है। और जहां शांति नहीं, वहां सुख कहांसे हो सकता है? ६६

विषयोंमें भटकनेवाली इंद्रियोंके पीछे जिसका मन दौड़ता है उसका मन वायु जैसे नौकाको जलमें खींच ले जाता है वैसे ही उसकी बुद्धिको जहां चाहे खींच ले जाता है। ६७

इसलिए हे महाबाहो! जिसकी इंद्रियां चारों ओरके विषयोंमेंसे निकलकर उसके वशमें आ जाती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। ६८

जब सब प्राणी सोते रहते हैं तब संयमी जागता रहता है। जब लोग जागते रहते हैं तब ज्ञानवान मुनि सोता रहता है। ६९

टिप्पणी—भोगी मनुष्य रातके बारह-एक बजे तक नाच, रंग, खानपान आदिमें अपना समय बिताते हैं और फिर सबेरे सात-आठ बजे तक सोते हैं। संयमी

रातके सात-आठ बजे सोकर मध्यरात्रिमें उठकर ईश्वरका ध्यान करते हैं। इसके सिवा भोगी संसारका प्रपंच बढ़ाता है और ईश्वरको भूलता है, उधर संयमी सांसारिक प्रपंचोंसे बेखबर रहता है और ईश्वरका साक्षात्कार करता है। इस प्रकार दोनोंका पंथ न्यारा है। यह इस श्लोकमें भगवानने बतलाया है।

नदियोंके प्रवेशसे भरता रहनेपर भी जैसे समुद्र अचल रहता है, वैसे ही जिस मनुष्यमें संसारके भोग शांत हो जाते हैं, वही शांति प्राप्त करता है, न कि कामनावाला मनुष्य। ७०

सब कामनाओंका त्याग करके जो पुरुष इच्छा, ममता और अहंकाररहित होकर विचरता है, वही शांति पाता है। ७१

हे पार्थ ! ईश्वरको पहचाननेवालेकी स्थिति ऐसी होती है। उसे पानेपर फिर वह मोहके वश नहीं होता और यदि मृत्युकालमें भी ऐसी ही स्थिति टिके तो वह ब्रह्मनिर्वाण पाता है। ७२

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'सांख्ययोग' नामक दूसरा अध्याय।

: ३ :

कर्मयोग

यह अध्याय गीताका स्वरूप जाननेकी कुंजी कहा जा सकता है। इसमें कर्म कैसे करना, कौन कर्म करना और सच्चा कर्म किसे कहना चाहिए, यह साफ किया गया है और बतलाया है कि सच्चा ज्ञान पारमार्थिक कर्मों में परिणत होना ही चाहिए।

अर्जुन बोले—

हे जनार्दन ! यदि आप कर्मकी अपेक्षा बुद्धिको अधिक श्रेष्ठ मानते हैं तो हे केशव ! आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? १

टिप्पणी—बुद्धि अर्थात् समत्वबुद्धि।

अपने मिले-जुले वचनोंसे मेरी बुद्धिको आप शंका-ग्रस्त-सी कर रहे हैं। अतः आप मुझे एक ही बात निश्चयपूर्वक कहिए कि जिससे मेरा कल्याण हो। २

टिप्पणी—अर्जुन उलझनमें पड़ जाता है; क्योंकि एक ओरसे भगवान उसे शिथिल हो जानेका उलाहना देते हैं और दूसरी ओरसे दूसरे अध्यायके ४९वें, ५०वें श्लोकोंमें कर्मत्यागका आभास मिलता है। गंभीरतासे विचारनेपर ऐसा नहीं है, यह भगवान आगे बतलायेंगे।

श्रीभगवान बोले—

हे पापरहित ! इस लोकमें मैंने पहले दो अवस्थाएँ बतलाई हैं : एक तो ज्ञानयोगद्वारा सांख्योंकी, दूसरी कर्मयोगद्वारा योगियोंकी । ३

कर्मका आरंभ न करनेसे मनुष्य निष्कर्मताका अनुभव नहीं करता है और न कर्मके केवल बाहरी त्यागसे मोक्ष पाता है । ४

टिप्पणी—निष्कर्मता अर्थात् मनसे, वाणीसे और शरीरसे कर्म न करनेका भाव । ऐसी निष्कर्मताका अनुभव कर्म न करनेसे कोई नही कर सकता । तब इसका अनुभव कैसे हो सो अब देखना है ।

वास्तवमें कोई एक क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता । प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुण परवश पड़े प्रत्येक मनुष्यसे कर्म कराते हैं । ५

जो मनुष्य कर्म करनेवाली इंद्रियोंको रोकता है, परंतु उन-उन इंद्रियोंके विषयोंका चिंतन मनसे करता है, वह मूढ़ात्मा मिथ्याचारी कहलाता है । ६

टिप्पणी—जैसे, जो वाणीको तो रोकता है; पर मनमें किसीको गाली देता है, वह निष्कर्म नहीं है; बल्कि मिथ्याचारी है । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जबतक मन न रोका जा सके तबतक शरीरको रोकना

निरर्थक है। शरीरको रोके बिना मनपर अंकुश आता ही नहीं। परंतु शरीरके अंकुशके साथ-साथ मनपर अंकुश रखनेका प्रयत्न होना ही चाहिए। जो लोग भय या ऐसे बाहरी कारणोंसे शरीरको रोकते हैं, परंतु मनको नहीं रोकते, इतना ही नहीं, बल्कि मनसे तो विषय भोगते हैं और मौका पानेपर शरीरसे भी भोगनेमें नहीं चूकते, ऐसे मिथ्याचारीकी यहां निंदा है। इसके आगेका श्लोक इससे उलटा भाव दरसाता है।

परंतु हे अर्जुन ! जो इंद्रियोंको मनके द्वारा नियममें रखते हुए संगरहित होकर कर्म करनेवाली इंद्रियोंद्वारा कर्मयोगका आरंभ करता है वह श्रेष्ठ पुरुष है। ७

टिप्पणी—इसमें बाहर और भीतरका मेल साधा गया है। मनको अंकुशमें रखते हुए भी मनुष्य शरीर-द्वारा अर्थात कर्मेंद्रियोंद्वारा कुछ-न-कुछ तो करेगा ही; परंतु जिसका मन अंकुशमें है उसके कान दूषित बातें नहीं सुनेंगे, वरन ईश्वर-भजन सुनेंगे, सत्पुरुषोंकी वाणी सुनेंगे। जिसका मन अपने वशमें है वह, जिसे हम लोग विषय मानते हैं, उसमें रस नहीं लेता। ऐसा मनुष्य आत्माको शोभा देनेवाले ही कर्म करेगा। ऐसे कर्मोंका करना कर्म-मार्ग है। जिसके द्वारा आत्माका

शरीरके बंधनमें छूटनेका योग सधे उसका नाम कर्मयोग है। इसमें विषयासक्तिको स्थान हो ही नहीं सकता।

इसलिए तू नियत कर्म कर। कर्म न करनेसे कर्म करना अधिक अच्छा है। तेरे शरीरका व्यापार भी कर्म बिना नहीं चल सकता। ८

टिप्पणी—'नियत' शब्द मूल श्लोकमें है। उसका संबंध पिछले श्लोकसे है। उसमें मनद्वारा इंद्रियोंको नियममें रखते हुए संगरहित होकर कर्म करनेवालेकी स्तुति है। अतः यहां नियत कर्मका अर्थात् इंद्रियोंको नियममें रखकर किये जानेवाले कर्मका अनुरोध किया गया है।

यज्ञार्थ किये जानेवाले कर्मके अतिरिक्त कर्मसे इस लोकमें बंधन पैदा होता है। इसलिए हे कौंतेय! तू रागरहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर। ९

टिप्पणी—यज्ञ अर्थात् परोपकारार्थ, ईश्वरार्थ किये हुए कर्म।

यज्ञके सहित प्रजाको उत्पन्न करके प्रजापति ब्रह्माने कहा, "यज्ञद्वारा तुम्हारी वृद्धि हो। यह तुम्हें इच्छित फल दे। १०

'तुम यज्ञद्वारा देवताओंका पोषण करो और देवता

तुम्हारा पोषण करें और एक-दूसरेका पोषण करके तुम परम कल्याणको पाओ। ११

"यज्ञद्वारा संतुष्ट हुए देवता तुम्हें इच्छित भोग देंगे। उनका बदला दिये बिना, उनका दिया हुआ जो भोगेगा वह अवश्य चोर है।" १२

टिप्पणी—यहां देवका अर्थ है भूतमात्र, ईश्वरकी सृष्टि। भूतमात्रकी सेवा देव-सेवा है और वह यज्ञ है।

जो यज्ञसे उबरा हुआ खानेवाले हैं, वे सब पापोंसे छूट जाते हैं। जो अपने लिए ही पकाते हैं, वे पाप खाते हैं। १३

अन्नमेंसे भूतमात्र उत्पन्न होते हैं। अन्न वर्षासे उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञसे होती है और यज्ञ कर्मसे होता है। १४

तू जान ले कि कर्म प्रकृतिसे उत्पन्न होता है, प्रकृति अक्षरब्रह्मसे उत्पन्न होती है और इसलिए सर्व-व्यापक ब्रह्म सदा यज्ञमें विद्यमान है। १५

इस प्रकार प्रवर्तित चक्रका जो अनुसरण नहीं करता, वह मनुष्य अपना जीवन पापी बनाता है, इंद्रियसुखोंमें फंसा रहता है और हे पार्थ! वह व्यर्थ जीता है। १६

पर जो मनुष्य आत्मामें रमण करनेवाला है, जो

उसीसे तृप्त रहता है और उसीमें संतोष मानता है, उसे कुछ करनेको नहीं रहता। १७

करने, न करनेमें उसका कुछ भी स्वार्थ नहीं है। भूतमात्रमें उसे कोई निजी स्वार्थ नहीं है। १८

इसलिए तू तो संगरहित रहकर निरंतर कर्तव्य कर्म कर। असंग रहकर ही कर्म करनेवाला पुरुष मोक्ष पाता है। १९

जनकादिकने कर्मसे ही परमसिद्धि प्राप्त की। लोकसंग्रहकी दृष्टिसे भी तुझे कर्म करना उचित है। २०

जो-जो आचरण उत्तम पुरुष करते हैं, उसका अनुकरण दूसरे लोग करते हैं। वे जिसे प्रमाण बनाते हैं, उसका लोग अनुसरण करते हैं। २१

हे पार्थ ! मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी करनेको नहीं है। पाने योग्य कोई वस्तु न पाई हो ऐसा नहीं है, तो भी मैं कर्ममें लगा रहता हूं। २२

टिप्पणी—सूर्य, चंद्र, पृथ्वी इत्यादिकी अविराम और अचूक गति ईश्वरके कर्म सूचित करती है। ये कर्म मानसिक नहीं, किंतु शारीरिक गिने जायंगे। ईश्वर निराकार होते हुए भी शारीरिक कर्म करता है, यह कैसे कहा जा सकता है, इस शंकाकी गुंजाइश नहीं है; क्योंकि वह शारीरिक होनेपर भी शरीरोंकी

तरह आचरण करता हुआ दिखाई देता है। इसलिए वह कर्म करते हुए भी अकर्मी है और अलिप्त है। मनुष्यको समझना तो यह है कि जैसे ईश्वरकी प्रत्येक कृति यंत्रवत् काम करती है वैसे मनुष्यको भी बुद्धिपूर्वक किंतु यंत्रकी भांति ही नियमित काम करना उचित है। मनुष्यकी विशेषता यंत्रगतिका अनादर करके स्वेच्छाचारी हो जानेमें नहीं है, बल्कि ज्ञानपूर्वक उस गतिका अनुकरण करनेमें है। अलिप्त रहकर, असंग रहकर, यंत्रकी तरह कार्य करनेसे उसे घिस्सा नहीं लगता। वह मरनेतक ताजा रहता है। देह अपने नियमके अनुसार समयपर नष्ट होती है, परंतु उसमें रहनेवाला आत्मा जैसा था वैसा ही बना रहता है।

यदि मैं कभी अंगड़ाई लेनेके लिए भी रुके बिना कर्ममें लगा न रहूं तो हे पार्थ ! लोग सब तरहसे मेरे बर्तावका अनुसरण करेंगे। २३

यदि मैं कर्म न करूं तो ये लोक भ्रष्ट हो जायं; मैं अव्यवस्थाका कर्ता बनूं और इन लोकोंका नाश करूं। २४

हे भारत ! जैसे अज्ञानी लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं, वैसे ज्ञानीको आसक्तिरहित होकर लोक-कल्याणकी इच्छासे कर्म करना चाहिए। २५

कर्ममें आसक्त अज्ञानी मनुष्योंकी बुद्धिको ज्ञानी डांवाडोल न करे, परंतु समत्वपूर्वक अच्छे प्रकारसे कर्म करके उन्हें सब कर्मोंमें लगावे। २६

सब कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये हुए होते हैं। अहंकारसे मूढ़ बना हुआ मनुष्य 'मैं कर्ता हूं' यह मानता है। २७

हे महाबाहो! गुण और कर्मके विभागका रहस्य जाननेवाला पुरुष 'गुण गुणोंमें बर्त रहे हैं' यह मानकर उनमें आसक्त नहीं होता। २८

टिप्पणी—जैसे श्वासोच्छ्वास आदि क्रियाएँ अपने-आप होती हैं, उनमें मनुष्य आसक्त नहीं होता और जब उन अंगोंको व्याधि होती है तभी मनुष्यको उनकी चिंता करनी पड़ती है या उसे उन अंगोंके अस्तित्वका भान होता है, वैसे ही स्वाभाविक कर्म अपने-आप होते हों तो उनमें आसक्ति नहीं होती। जिसका स्वभाव उदार है वह स्वयं अपनी उदारताको जानता तक नहीं; पर उससे दान किये बिना रहा ही नहीं जाता। ऐसी अनासक्ति अभ्यास और ईश्वरकृपासे ही प्राप्त होती है।

प्रकृतिके गुणोंसे मोहे हुए मनुष्य, गुणोंके कर्मोंमें आसक्त रहते हैं। ज्ञानियोंको चाहिए कि वे इन अज्ञानी मंदबुद्धि लोगोंको अस्थिर न करें। २९

अध्यात्मवृत्ति रखकर, सब कर्म मुझे अर्पण करके, आसक्ति और ममत्वको छोड़, रागरहित होकर तू युद्ध कर। ३०

टिप्पणी—जो देहमें विद्यमान आत्माको पहचानता और उसे परमात्माका अंश जानता है वह सब परमात्माको ही अर्पण करेगा, वैसे ही, जैसे कि नौकर मालिकके नामपर काम करता है और सब कुछ उसीको अर्पण करता है।

श्रद्धा रखकर, द्वेष छोड़कर जो मनुष्य मेरे इस मतके अनुसार चलते हैं, वे भी कर्मबंधनसे छूट जाते हैं। ३१

परंतु जो मेरे इस अभिप्रायमें दोष निकालकर उसका अनुसरण नहीं करते, वे ज्ञानहीन मूर्ख हैं। उनका नाश हुआ समझ। ३२

ज्ञानी भी अपने स्वभावके अनुसार बरतते हैं, प्राणीमात्र अपने स्वभावका अनुसरण करते हैं, वहां बलात्कार क्या कर सकता है? ३३

टिप्पणी—यह श्लोक दूसरे अध्यायके ६१ वें या ६८ वें श्लोकका विरोधी नहीं है। इंद्रियोंका निग्रह करते-करते मनुष्यको मर मिटना है, लेकिन फिर भी सफलता न मिले तो निग्रह अर्थात् बलात्कार

निरर्थक है। इसमें निग्रहकी निंदा नहीं की गई है, स्वभावका साम्राज्य दिखाया गया है। यह तो मेरा स्वभाव है, यह कहकर कोई खोटाई करने लगे तो वह इस श्लोकका अर्थ नहीं समझता। स्वभावका हमें पता नहीं चलता। जितनी आदतें हैं सब स्वभाव नहीं हैं। आत्माका स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। अतः आत्मा जब नीचेकी ओर जाय तब उसका प्रतिकार करना कर्त्तव्य है। इसीसे नीचेका श्लोक स्पष्ट करता है।

अपने-अपने विषयोंके संबंधमें इंद्रियोंको रागद्वेष रहता ही है। मनुष्यको उनके वश न होना चाहिए, क्योंकि वे मनुष्यके मार्गके बाधक हैं। ३४

टिप्पणी—कानका विषय है सुनना। जो भावे वह सुननेकी इच्छा राग है। जो न भावे वह सुननेकी अनिच्छा द्वेष है। 'यह तो स्वभाव है' कहकर राग-द्वेषके वश नहीं होना चाहिए, उनका मुकाबला करना चाहिए। आत्माका स्वभाव सुख-दुःखसे अछूते रहना है। उस स्वभावतक मनुष्यको पहुंचना है।

पराये धर्मके सुलभ होनेपर भी उससे अपना धर्म विगुण हो तो भी अधिक अच्छा है। स्वधर्ममें मृत्यु भली है। परधर्म भयावह है। ३५

टिप्पणी—समाजमें एकका धर्म झाड़ देनेका होता है और दूसरेका धर्म हिसाब रखनेका होता है। हिसाब रखनेवाला भले ही श्रेष्ठ गिना जाय, परंतु झाड़ देनेवाला अपना धर्म त्याग दे तो वह भ्रष्ट हो जायगा और समाजको हानि पहुंचेगी। ईश्वरके दरबारमें दोनोंकी सेवाका मूल्य उनकी निष्ठाके अनुसार कूता जायगा। पेशेकी कीमत वहां तो एक ही होती है। दोनों ईश्वरार्पण बुद्धिसे अपना कर्त्तव्य-पालन करें तो समानरूपसे मोक्षके अधिकारी बनते हैं।

अर्जुन बोले—

फिर यह पुरुष बलात्कारपूर्वक प्रेरित हुए की भाँति, न चाहता हुआ भी, किसकी प्रेरणासे पाप करता है? ३६

श्रीभगवान बोले—

रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाला यह (प्रेरक) काम है, क्रोध है, इसका पेट ही नहीं भरता। यह महापापी है। इसे इस लोकमें शत्रुरूप समझो। ३७

टिप्पणी—हमारा वास्तविक शत्रु अंतरमें रहनेवाला काम कहिए या क्रोध कहिए वही है।

जैसे धुएंसे आग या मैलसे दर्पण अथवा झिल्लीसे

गर्भ ढका रहता है, वैसे कामादिरूप शत्रुसे यह ज्ञान ढका रहता है। ३८

हे कौंतेय ! तृप्त न किया जा सकनेवाला यह कामरूप अग्नि नित्यका शत्रु है, उससे ज्ञानीका ज्ञान ढका हुआ है। ३९

इंद्रियां, मन और बुद्धि, इस शत्रुके निवास-स्थान हैं। इनके द्वारा ज्ञानको ढककर यह शत्रु देहधारीको बेसुध कर देता है। ४०

टिप्पणी—इंद्रियोंमें काम व्याप्त होनेपर मन मलिन होता है, उससे विवेकशक्ति मंद पड़ती है, उससे ज्ञानका नाश होता है (देखो अध्याय २, श्लोक ६२-६४)

हे भरतर्षभ ! इसलिए तू पहले तो इंद्रियोंको नियममें रखकर ज्ञान और अनुभवका नाश करनेवाले इस पापीका त्याग अवश्य कर। ४१

इंद्रियां सूक्ष्म हैं, उनसे अधिक सूक्ष्म मन है, उससे अधिक सूक्ष्म बुद्धि है। जो बुद्धिसे भी अत्यंत सूक्ष्म है वह आत्मा है। ४२

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि यदि इंद्रियां वशमें रहें तो सूक्ष्म कामको जीतना सहज हो जाय।

इस प्रकार बुद्धिसे परे आत्माको पहचानकर और

आत्माद्वारा मनको वश करके हे महाबाहो ! कामरूप दुर्जय शत्रुका संहार कर । ४३

टिप्पणी—यदि मनुष्य शरीरस्थ आत्माको जान ले तो मन उसके वशमें रहेगा, इंद्रियोंके वशमें नहीं रहेगा । और मन जीता जाय तो काम क्या कर सकता है ?

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'कर्मयोग' नामक तीसरा अध्याय ।

: ४ :

ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

इस अध्यायमें तीसरेका विशेष विवेचन है और भिन्न-भिन्न प्रकारके कई यज्ञोंका वर्णन है ।

श्रीभगवान बोले—

यह अविनाशी योग मैंने विवस्वान (सूर्य) से कहा । उन्होंने मनुसे और मनुने इक्ष्वाकुसे कहा । १

इस प्रकार/परंपरासे प्राप्त, राजर्षियोंका जाना

हुआ वह योग दीर्घकालके बलसे नष्ट हो गया। २

वही पुरातन योग मैंने आज तुझसे कहा है। कारण, तू मेरा भक्त है और यह योग उत्तम मर्मकी बात है। ३

अर्जुन बोले—

आपका जन्म तो अभी हुआ है, विवस्वानका पहले हो चुका है। तब मैं कैसे जानूं कि आपने वह (योग) पहले कहा था? ४

श्रीभगवान बोले—

हे अर्जुन! मेरे और तेरे जन्म तो बहुत हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूं, तू नहीं जानता। ५

मैं अजन्मा, अविनाशी और इसके सिवा भूतमात्रका ईश्वर हूं; तथापि अपने स्वभावको लेकर अपनी मायाके बलसे जन्म ग्रहण करता हूं। ६

हे भारत! जब-जब धर्म मंद पड़ता है, अधर्म जोर करता है, तब-तब मैं जन्म धारण करता हूं। ७

साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंके विनाश तथा धर्मका पुनरुद्धार करनेके लिए युग-युग में मैं जन्म लेता हूं। ८

टिप्पणी—यहां श्रद्धालुको आश्वासन है और सत्य-

की—धर्मकी—अविचलताकी प्रतिज्ञा है। इस संसार-में उतार-चढ़ाव हुआ ही करता है, परंतु अंतमें धर्मकी ही जय होती है। संतोंका नाश नहीं होता, क्योंकि सत्यका नाश नहीं होता। दुष्टोंका नाश ही है, क्योंकि असत्यका अस्तित्व नहीं है। मनुष्यको चाहिए कि इसका खयाल रखकर अपने कर्तापनके अभिमानके कारण हिंसा न करे, दुराचार न करे। ईश्वरकी गहन माया अपना काम करती ही रहती है। यही अवतार या ईश्वरका जन्म है। वस्तुतः तो ईश्वरका जन्मना होता ही नहीं।

हे अर्जुन! इस प्रकार जो मेरे दिव्य जन्म और कर्मका रहस्य जानता है वह शरीरका त्याग करके पुनर्जन्म नहीं पाता, बल्कि मुझे पाता है। ९

टिप्पणी—क्योंकि जब मनुष्यका दृढ़ विश्वास हो जाता है कि ईश्वर सत्यकी ही जय कराता है तब वह सत्यको नहीं छोड़ता, धीरज रखता है, दुःख सहन करता है और ममतारहित रहनेके कारण जन्म-मरणके चक्करसे छूटकर ईश्वरका ही ध्यान धरते हुए उसीमें लय हो जाता है।

राग, भय और क्रोधसे रहित हुए, मेरा ही ध्यान धरते हुए, मेरा ही आश्रय लेनेवाले ज्ञानरूपी तपसे पवित्र हुए बहुतोंने मेरे स्वरूपको पाया है। १०

जो जिस प्रकार मेरा आश्रय लेते हैं, उस प्रकार में उन्हें फल देता हूं। चाहे जिस तरह भी हो, हे पार्थ ! मनुष्य मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं—मेरे शासनमें रहते हैं। ११

टिप्पणी—तात्पर्य, कोई ईश्वरी नियमका उल्लंघन नहीं कर सकता। जैसा बोता है वैसा काटता है; जैसा करता है वैसा भरता है। ईश्वरी कानूनमें—कर्मके नियममें अपवाद नहीं है। सबको समान अर्थात् अपनी योग्यताके अनुसार न्याय मिलता है।

कर्मकी सिद्धि चाहनेवाले इस लोकमें देवताओंको पूजते हैं। इससे उन्हें कर्मजनित फल तुरंत मनुष्य-लोकमें ही मिल जाता है। १२

टिप्पणी—देवतासे मतलब स्वर्गमें रहनेवाले इंद्र-वरुणादि व्यक्तियोंसे नहीं है। देवताका अर्थ है ईश्वरकी अंशरूपी शक्ति। इस अर्थमें मनुष्य भी देवता है। भाप, बिजली आदि महान् शक्तियां देवता हैं। उनकी आराधना करनेका फल तुरंत और इस लोकमें मिलता हुआ हम देखते हैं। वह फल क्षणिक होता है। वह आत्माको ही संतोष नहीं देता तो मोक्ष तो दे ही कहांसे सकता है ?

गुण और कर्मके विभागानुसार चार वर्ण मैंने

उत्पन्न किये हैं, उनका कर्ता होनेपर भी मुझे तू अविनाशी अकर्ता जानना। १३

मुझे कर्म स्पर्श नहीं करते हैं। मुझे इनके फलकी लालसा नहीं है। इस प्रकार जो मुझे अच्छी तरह जानते हैं, वे कर्मके बंधनमें नहीं पड़ते। १४

टिप्पणी—क्योंकि मनुष्यके सामने, कर्म करते हुए अकर्मी रहनेका सर्वोत्तम दृष्टांत है। और सबका कर्ता ईश्वर ही है, हम निमित्तमात्र ही हैं, तो फिर कर्तापनका अभिमान कैसे हो सकता है?

ऐसे जानकर पूर्वकालमें मुमुक्षु व्यक्तियोंने कर्म किये हैं। इससे तू भी पूर्वज जैसे सदासे करते आये हैं वैसे कर। १५

कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस विषयमें समझदारोंको भी मोह हुआ है। उस कर्मके विषयमें मैं तुझे यथार्थरूपसे बतलाऊंगा। उसे जानकर तू अशुभसे बचेगा। १६

कर्म, निषिद्धकर्म और अकर्मका भेद जानना चाहिए। कर्मकी गति गूढ़ है। १७

कर्ममें जो अकर्म देखता है और अकर्म में जो कर्म देखता है, वह लोगोंमें बुद्धिमान गिना जाता है। वह योगी है और वह संपूर्ण कर्म करनेवाला है। १८

टिप्पणी—कर्म करते हुए भी जो कर्तापनका अभिमान नहीं रखता, उसका कर्म अकर्म है, और जो कर्मका बाहरसे त्याग करते हुए भी मनके महल बनाता ही रहता है, उसका अकर्म कर्म है। जिसे लकवा हो गया है वह जब इरादा करके—अभिमानपूर्वक—बेकार हुए अंगको हिलाता है, तब हिलता है। वह बीमार अंगको हिलानेरूपी क्रियाका कर्ता बना। आत्माका गुण अकर्ताका है। मोहग्रस्त होकर अपनेको कर्ता माननेवाले आत्माको मानो लकवा हो गया है और वह अभिमानी होकर कर्म करता है। इस भांति जो कर्मकी गतिको जानता है, वही बुद्धिमान योगी कर्त्तव्यपरायण गिना जाता है। 'मैं करता हूं' यह माननेवाला कर्म-विकर्म का भेद भूल जाता है और साधनके भले-बुरेका विचार नहीं करता। आत्माकी स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है, इसलिए जब मनुष्य नीति-मार्गसे हटता है तब यह कहा जाना चाहिए कि उसमें अहंकार अवश्य है। अभिमानरहित पुरुषके कर्म स्वभावसे ही सात्त्विक होते हैं।

जिसके समस्त आरंभ कामना और संकल्परहित हैं, उसके कर्म ज्ञानरूपी अग्निद्वारा भस्म हो गये हैं; ऐसेको ज्ञानी लोग पंडित कहते हैं। १९

जिसने कर्मफलका त्याग किया है, जो सदा संतुष्ट रहता है, जिसे किसी आश्रयकी लालसा नहीं है, वह कर्ममें अच्छी तरह लगे रहनेपर भी, कहा जा सकता है कि वह कुछ भी नहीं करता। २०

टिप्पणी—अर्थात् उसे कर्मका बंधन भोगना नहीं पड़ता।

जो आशारहित है, जिसका मन अपने वशमें है, जिसने सारा संग्रह छोड़ दिया है और जिसका शरीर ही भर कर्म करता है, वह करते हुए भी दोषी नहीं होता। २१

टिप्पणी—अभिमानपूर्वक किया हुआ कुल कर्म चाहे जैसा सात्त्विक होनेपर भी बंधन करनेवाला है। वह जब ईश्वरार्पण बुद्धिसे, बिना अभिमानके, होता है तब बंधनरहित बनता है। जिसका 'मैं' शून्यताको प्राप्त हो गया है, उसका शरीरभर ही कर्म करता है। सोते हुए मनुष्यका शरीरभर ही कर्म करता है, यह कहा जा सकता है। जो कैदी विवश होकर अनिच्छासे हल चलाता है, उसका शरीर ही काम करता है। जो अपनी इच्छासे ईश्वरका कैदी बना है, उसका भी शरीरभर ही काम करता है। खुद तो शून्य बन गया है, प्रेरक ईश्वर है।

जो यथालाभसे संतुष्ट रहता है, जो सुख-दुःखादि द्वंद्वोंसे मुक्त हो गया है, जो द्वेषरहित हो गया है, जो सफलता, निष्फलतामें तटस्थ है, वह कर्म करते हुए भी बंधनमें नहीं पड़ता है। २२

जो आसक्तिरहित है, जिसका चित्त ज्ञानमय है, जो मुक्त है और जो यज्ञार्थ ही कर्म करनेवाला है, उसके सारे कर्म लय हो जाते हैं। २३

(यज्ञमें) अर्पण ब्रह्म है, हवनकी वस्तु—हवि ब्रह्म है, ब्रह्मरूपी अग्निमें हवन करनेवाला भी ब्रह्म है; इस प्रकार कर्मके साथ जिसने ब्रह्मका मेल साधा है वह ब्रह्मको ही पाता है। २४

इसके सिवा कितने ही योगी देवताओंका पूजनरूपी यज्ञ करते हैं और कितने ही ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञद्वारा यज्ञको ही होमते हैं। २५

और कितने ही श्रवणादि इंद्रियोंका संयमरूप यज्ञ करते हैं और कुछ शब्दादि विषयोंको इंद्रियाग्निमें होमते हैं। २६

टिप्पणी—सुननेकी क्रिया इत्यादिका संयम करना एक बात है और इंद्रियोंको उपयोगमें लाते हुए उनके विषयोंको प्रभुप्रीत्यर्थ काममें लाना दूसरी बात है, जैसे भजनादि सुनना। वस्तुतः तो दोनों एक हैं।

और कितने ही समस्त इंद्रियकर्मोंको और प्राण-कर्मोंको ज्ञानदीपकसे प्रज्वलित की हुई आत्मसंयमरूपी योगाग्निमें होमते हैं। २७

टिप्पणी—अर्थात् परमात्मामें तन्मय हो जाते हैं।

इस प्रकार कोई यज्ञार्थ द्रव्य देनेवाले होते हैं; कोई तप करनेवाले होते हैं। कितने ही अष्टांग योग साधनेवाले होते हैं। कितने ही स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ करते हैं। ये सब कठिन व्रतधारी प्रयत्नशील याज्ञिक हैं। २८

कितने ही प्राणायाममें तत्पर रहनेवाले अपानको प्राणवायुमें होमते हैं, प्राणको अपानमें होमते हैं, अथवा प्राण और अपान दोनोंका अवरोध करते हैं। २९

टिप्पणी—ये तीन प्रकारके प्राणायाम हैं—रेचक, पूरक और कुंभक। संस्कृतमें प्राणवायुका अर्थ गुजराती-(और हिंदी)की अपेक्षा उलटा है। वहां प्राणवायु अंदरसे बाहर निकलनेवाली वायुको कहते हैं। हम बाहरसे जिसे अंदर खींचते हैं उसे प्राणवायु (आक्सीजन) कहते हैं।

इसके सिवा दूसरे, आहारका संयम करके प्राणोंको प्राणमें होमते हैं। यज्ञोंद्वारा अपने पापोंको क्षीण करनेवाले ये सब यज्ञके जाननेवाले हैं। ३०

हे कुरुसत्तम ! यज्ञसे बचा हुआ अमृत खानेवाले लोग सनातन ब्रह्मको पाते हैं। यज्ञ न करनेवालेके लिए यह लोक नहीं है तो परलोक तो हो ही कहांसे सकता है ? ३१

इस प्रकार वेदमें अनेक प्रकारके यज्ञोंका वर्णन हुआ है। इन सबको कर्मसे उत्पन्न हुआ जान। इस प्रकार सबको जानकर तू मोक्ष पावेगा। ३२

टिप्पणी—यहां कर्मका व्यापक अर्थ है। अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक। ऐसे कर्मके बिना यज्ञ नहीं हो सकता। यज्ञ बिना मोक्ष नहीं होता। इस प्रकार जानना और तदनुसार आचरण करना, इसका नाम यज्ञोंका जानना है। तात्पर्य यह कि मनुष्य अपने शरीर, बुद्धि और आत्माको प्रभुप्रीत्यर्थ—लोक-सेवार्थ काममें न लावे तो वह चोर ठहरता है और मोक्षके योग्य नहीं बन सकता। केवल बुद्धिशक्तिको ही काममें लावे और शरीर तथा आत्माको चुरावे तो वह पूरा याज्ञिक नहीं है। इन शक्तियोंको प्राप्त किये बिना उसका परोपकारार्थ उपयोग नहीं हो सकता। इसलिए आत्म-शुद्धिके बिना लोकसेवा असंभव है। सेवकको शरीर, बुद्धि और आत्मा अर्थात् नीति, तीनोंका समानरूपसे विकास करना कर्त्तव्य है।

हे परंतप ! द्रव्ययज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अधिक अच्छा है, क्योंकि हे पार्थ ! कर्ममात्र ज्ञानमें ही पराकाष्ठाको पहुंचते हैं। ३३

टिप्पणी—परोपकारवृत्तिसे दिया हुआ द्रव्य भी यदि ज्ञानपूर्वक न दिया गया हो तो बहुत बार हानि करता है, यह किसने अनुभव नहीं किया है ? अच्छी वृत्तिसे होनेवाले सब कर्म तभी शोभा देते हैं जब उनके साथ ज्ञानका मेल हो। इसलिए कर्ममात्रकी पूर्णाहुति तो ज्ञानमें ही है।

इसे तू तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानियोंकी सेवा करके और नम्रतापूर्वक विवेकसहित बारंबार प्रश्न करके जानना। वे तेरी जिज्ञासा तृप्त करेंगे। ३४

टिप्पणी—ज्ञान प्राप्त करनेकी तीन शर्तें—प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा इस युगमें खूब ध्यानमें रखने योग्य हैं। प्रणिपात अर्थात् नम्रता, विवेक; परिप्रश्न अर्थात् बारंबार पूछना; सेवारहित नम्रता खुशामदमें शुमार हो सकती है। फिर, ज्ञान खोजके बिना संभव नहीं है, इसलिए जबतक समझमें न आवे तबतक शिष्यका गुरुसे नम्रतापूर्वक प्रश्न पूछते रहना जिज्ञासाकी निशानी है। इसमें श्रद्धाकी आवश्यकता है। जिसपर श्रद्धा नहीं होती उसकी ओर हार्दिक नम्रता

नहीं होती, उसकी सेवा तो हो ही कहांसे सकती है ?

यह ज्ञान पानेके बाद हे पांडव ! तुझे फिर ऐसा मोह न होगा। इस ज्ञानके द्वारा तू भूतमात्रको आत्मामें और मुझमें देखेगा। ३५

टिप्पणी—'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'का यही अर्थ है। जिसे आत्मदर्शन हो गया है वह अपनी और दूसरेकी आत्मामें भेद नहीं देखता।

तू समस्त पापियोंमें बड़े-से-बड़ा पापी होनेपर भी ज्ञानरूपी नौकाद्वारा सब पापोंको पारकर जायगा। ३६

हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनको भस्म कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मोंको भस्म कर देता है। ३७

ज्ञानके समान इस संसारमें दूसरा कुछ पवित्र नहीं है। योगमें—समत्वमें पूर्णताप्राप्त मनुष्य समयपर अपने-आपमें उस ज्ञानको पाता है। ३८

श्रद्धावान ईश्वरपरायण, जितेंद्रिय पुरुष ज्ञान पाता है और ज्ञान पाकर तुरंत परमशांतिको पाता है। ३९

जो अज्ञानी और श्रद्धारहित होकर संशयवान है, उसका नाश होता है। संशयवानके लिए न तो यह लोक है, न परलोक। उसे कहीं सुख नहीं है। ४०

जिसने समत्वरूपी योगद्वारा कर्मोंको अर्थात् कर्म-

फलका त्याग किया है और ज्ञानद्वारा संशयको छिन्न कर डाला है वैसे आत्मदर्शीको हे धनंजय ! कर्म बंधनरूप नहीं होते । ४१

इसलिए हे भारत ! हृदयमें अज्ञानसे उत्पन्न हुए संशयको आत्मज्ञानरूपी तलवारसे नाश करके योग—समत्व धारण करके खड़ा हो । ४२

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग' नामक चौथा अध्याय ।

: ५ :

कर्मसंन्यासयोग

इस अध्यायमें बतलाया गया है कि कर्मयोगके बिना कर्मसंन्यास हो ही नही सकता और वस्तुतः दोनों एक ही हैं ।

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! कर्मोंके त्यागकी और फिर कर्मोंके योगकी आप स्तुति करते हैं । मुझे ठीक निश्चयपूर्वक कहिये कि इन दोनोंमें श्रेयस्कर क्या है ? १

श्रीभगवान बोले—

कर्मोंका त्याग और योग दोनों मोक्ष देनेवाले हैं। उनमें भी कर्मसंन्याससे कर्मयोग बढ़कर है। २

जो मनुष्य द्वेष नहीं करता और इच्छा नहीं करता, उसे नित्य संन्यासी जानना चाहिए। जो सुख-दु:खादि द्वंद्वसे मुक्त है, वह सहजमें बंधनोंसे छूट जाता है। ३

टिप्पणी—तात्पर्य, कर्मका त्याग संन्यासका खास लक्षण नहीं है, बल्कि द्वंद्वातीत होना ही है—एक मनुष्य कर्म करता हुआ भी संन्यासी हो सकता है। दूसरा, कर्म न करते हुए भी, मिथ्याचारी हो सकता है। (देखो अध्याय ३, श्लोक ६)

सांख्य और योग—ज्ञान और कर्म—ये दो भिन्न हैं, ऐसा अज्ञानी कहते हैं, पंडित नहीं कहते। एकमें अच्छी तरह स्थिर रहनेवाला भी दोनोंका फल पाता है। ४

टिप्पणी—ज्ञानयोगी लोकसंग्रहरूपी कर्मयोगका विशेष फल संकल्पमात्रसे प्राप्त करता है। कर्मयोगी अपनी अनासक्तिके कारण बाह्य कर्म करते हुए भी ज्ञानयोगीकी शांतिका अधिकारी अनायास बनता है।

जो स्थान सांख्यमार्गी पाता है वही योगी भी पाता

है। जो सांख्य और योगको एक रूप देखता है वही सच्चा देखनेवाला है। ५

हे महाबाहो! कर्मयोगके बिना कर्मत्याग कष्ट-साध्य है, परंतु समभाववाला मुनि शीघ्र मोक्ष पाता है। ६

जिसने योग साधा है, जिसने हृदयको विशुद्ध किया है, जिसने मन और इंद्रियोंको जीता है और जो भूतमात्र-को अपने जैसा ही समझता है, ऐसा मनुष्य कर्म करते हुए भी उससे अलिप्त रहता है। ७

देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, चलते, सोते, सांस लेते, बोलते, छोड़ते, लेते, आंख खोलते, मूंदते केवल इंद्रियां ही अपना काम करती हैं, ऐसी भावना रखकर तत्त्वज्ञ योगी यह समझे कि 'मैं कुछ भी नहीं करता हूं।' ८-९

टिप्पणी—जबतक अभिमान है तबतक ऐसी अलिप्त स्थिति नहीं आती। अतः विषयासक्त मनुष्य यह कहकर छूट नहीं सकता कि 'विषयोंको मैं नहीं भोगता, इंद्रियां अपना काम करती हैं।' ऐसा अनर्थ करनेवाला न गीताको समझता है और न धर्मको जानता है। यह बात नीचेका श्लोक स्पष्ट करता है।

जो मनुष्य कर्मोंको ब्रह्मार्पण करके आसक्ति

छोड़कर आचरण करता है वह पापसे उसी तरह अलिप्त रहता है जैसे पानीमें रहनेवाला कमल अलिप्त रहता है। १०

शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे या केवल इंद्रियोंसे भी योगीजन आसक्तिरहित होकर आत्मशुद्धिके लिए कर्म करते हैं। ११

समतावान कर्मफलका त्याग करके परमशांति पाता है। अस्थिरचित्त कामनायुक्त होनेके कारण फलमें फंसकर बंधनमें रहता है। १२

संयमी पुरुष मनसे सब कर्मोंका त्याग करके नव-द्वारवाले नगररूपी शरीरमें रहते हुए भी, कुछ न करता, न कराता हुआ सुखसे रहता है। १३

टिप्पणी—दो नाक, दो कान, दो आंखें, मल-त्यागके दो स्थान और मुख, शरीरके ये नौ मुख्य द्वार हैं। वैसे तो त्वचाके असंख्य छिद्रमात्र दरवाजे ही हैं। इन दरवाजोंका चौकीदार यदि इनमें आने-जाने-वाले अधिकारियोंको ही आने-जाने देकर अपना धर्म पालता है तो उसके लिए कहा जा सकता है कि वह, यह आवा-जाही होते रहनेपर भी, उसका हिस्सेदार नहीं, बल्कि केवल साक्षी है, इससे वह न करता है, न कराता है।

जगतका प्रभु न कर्तापनको रचता है, न कर्म रचता है, न कर्म और फलका मेल साधता है। प्रकृति ही सब करती है। १४

टिप्पणी—ईश्वर कर्ता नहीं है। कर्मका नियम अटल और अनिवार्य है। और जो जैसा करता है उसको वैसा भरना ही पड़ता है। इसीमें ईश्वरकी महान् दया और उसका न्याय विद्यमान है। शुद्ध न्यायमें शुद्ध दया है। न्यायकी विरोधी दया, दया नहीं है, बल्कि क्रूरता है। पर मनुष्य त्रिकालदर्शी नहीं है। अतः उसके लिए तो दया-क्षमा ही न्याय है। वह स्वयं निरंतर न्यायका पात्र बना हुआ क्षमाका याचक है। वह दूसरेका न्याय क्षमासे ही चुका सकता है। क्षमाके गुणका विकास करनेपर ही अंतमें अकर्ता—योगी—समतावान—कर्ममें कुशल बनता है।

ईश्वर किसीके पाप या पुण्यको नहीं ओढ़ता। अज्ञानद्वारा ज्ञानके ढक जानेसे लोग मोहमें फँसते हैं। १५

टिप्पणी—अज्ञानसे, 'मैं करता हूं' इस वृत्तिसे मनुष्य कर्मबंधन बांधते हुए भी भले-बुरे फलका आरोप ईश्वरपर करता है, यह मोहजाल है।

परंतु जिनके अज्ञानका आत्मज्ञानद्वारा नाश हो

गया है, उनका वह सूर्यके समान, प्रकाशमय ज्ञान परमतत्त्वका दर्शन कराता है। १६

ज्ञानद्वारा जिनके पाप धुल गए हैं, वे ईश्वरका ध्यान धरनेवाले, तन्मय हुए, उसमें स्थिर रहनेवाले, उसीको सर्वस्व माननेवाले लोग मोक्ष पाते हैं। १७

विद्वान और विनयवान ब्राह्मणमें, गायमें, हाथीमें, कुत्तेमें और कुत्तेको खानेवाले मनुष्यमें ज्ञानी समदृष्टि रखते हैं। १८

टिप्पणी—तात्पर्य, सबकी, उनकी आवश्यकतानुसार सेवा करते हैं। ब्राह्मण और चांडालके प्रति समभाव रखनेका अर्थ यह है कि ब्राह्मणको सांप काटनेपर उसके घावको जैसे ज्ञानी प्रेमभावसे चूसकर उसका विष दूर करनेका प्रयत्न करेगा वैसा ही बर्ताव चांडालको भी सांप काटनेपर करेगा।

जिनका मन समत्वमें स्थिर हो गया है उन्होंने इस देहमें रहते हीं संसारको जीत लिया है। ब्रह्म निष्कलंक और समभावी है, इसलिए वे ब्रह्ममें ही स्थिर होते हैं। १९

टिप्पणी—मनुष्य जैसा और जिसका चिंतन करता है वैसा हो जाता है। इसलिए समत्वका चिंतन करके,

दोषरहित होकर, समत्वके मूर्तिरूप निर्दोष ब्रह्म को पाता है।

जिसकी बुद्धि स्थिर हुई है, जिसका मोह नष्ट हो गया है, जो ब्रह्मको जानता है और ब्रह्मपरायण रहता है, वह प्रियको पाकर सुख नहीं मानता और अप्रियको पाकर दुःखका अनुभव नहीं करता। २०

बाह्य विषयोंमें आसक्ति न रखनेवाला पुरुष अपने अंतःकरणमें जो आनंद भोगता है वह अक्षय आनंद पूर्वोक्त ब्रह्मपरायण पुरुष अनुभव करता है। २१

टिप्पणी—अंतर्मुख होनेवाला ही ईश्वरका साक्षात्कार कर सकता है और वही परम आनंद पाता है। विषयोंसे निवृत्त रहकर कर्म करना और ब्रह्मसमाधिमें रमण करना ये दो भिन्न वस्तुएं नहीं हैं, वरन् एक ही वस्तुको देखनेकी दो दृष्टियां हैं—एक ही सिक्केकी दो पीठें हैं।

विषयजनित भोग अवश्य दुःखोंके कारण हैं। हे कौंतेय ! वे आदि और अंतवाले हैं। बुद्धिमान मनुष्य उनमें नहीं फँसता। २२

देहांतके पहले जिस मनुष्यने इस देहसेही काम और क्रोधके वेगको सहन करनेकी शक्ति प्राप्त की है उस मनुष्यने समत्वको पाया है, वह सुखी है। २३

टिप्पणी—मरे हुए शरीरको जैसे इच्छा या द्वेष नहीं होता, सुख-दुःख नहीं होता, वैसे जो जीवित रहते भी मृतसमान, जड़भरतकी भांति देहातीत रह सकता है वह इस संसारमें विजयी हुआ है और वह वास्तविक सुखको जानता है।

जिसे आंतरिक आनंद है, जिसके हृदयमें शांति है, जिसे निश्चितरूपसे अंतर्ज्ञान हुआ है वह ब्रह्मरूप हुआ योगी ब्रह्मनिर्वाण पाता है। २४

जिनके पाप नष्ट हो गए हैं, जिनकी शंकाएँ शांत हो गई हैं, जिन्होंने मनपर अधिकार कर लिया है और जो प्राणीमात्रके हितमें ही लगे रहते हैं, ऐसे ऋषि ब्रह्म-निर्वाण पाते हैं। २५

जो अपनेको पहचानते हैं, जिन्होंने काम-क्रोधको जीता है और जिन्होंने मनको वश किया है, ऐसे यतियों-को सर्वत्र ब्रह्मनिर्वाण ही है। २६

बाह्य विषयभोगोंका बहिष्कार करके, दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थिर करके, नासिकाद्वारा आने-जाने-वाले प्राण और अपान वायुकी गतिको एक समान रखकर, इंद्रिय, मन और बुद्धिको वशमें करके तथा इच्छा, भय और क्रोधसे रहित होकर जो मुनि मोक्ष-परायण रहता है, वह सदा मुक्त ही है। २७-२८

टिप्पणी—प्राणवायु अंदरसे बाहर निकलनेवाली और अपान बाहरसे अंदर जानेवाली वायु है। इन श्लोकोंमें प्राणायामादि यौगिक क्रियाओंका समर्थन है। प्राणायामादि तो बाह्य क्रियाएँ हैं और उनका प्रभाव शरीरको स्वस्थ रखने और परमात्माके रहने-योग्य मंदिर बनानेतक ही परिमित है। भोगीका साधारण व्यायामादिसे जो काम निकलता है, वही योगीका प्राणायामादिसे निकलता है। भोगीके व्यायामादि उसकी इंद्रियोंको उत्तेजित करनेमें सहायता पहुंचाते हैं। प्राणायामादि योगीके शरीरको नीरोगी और कठिन बनानेपर भी, इंद्रियोंको शांत रखनेमें सहायता करते हैं। आजकल प्राणायामादिकी विधि बहुत ही कम लोग जानते हैं और उनमें भी बहुत थोड़े उसका सदुपयोग करते हैं। जिसने इंद्रिय, मन और बुद्धिपर अधिक नहीं तो प्राथमिक विजय प्राप्त की है, जिसे मोक्षकी उत्कट अभिलाषा है, जिसने राग-द्वेषादिको जीतकर भयको छोड़ दिया है, उसे प्राणायामादि उपयोगी और सहायक होते हैं। अंतः-शौचरहित प्राणायामादि बंधनका एक साधन बनकर मनुष्यको मोहकूपमें अधिक नीचे ले जा सकते हैं—ले जाते हैं, ऐसा बहुतोंका अनुभव है। इससे योगींद्र पतंजलिने

यम-नियमको प्रथम स्थान देकर उसके साधकके लिए ही मोक्षमार्गमें प्राणायामादिको सहायक माना है।

यम पांच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम पांच हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान।

यज्ञ और तपके भोक्ता, सर्वलोकके महेश्वर और भूतमात्रके हित करनेवाले ऐसे मुझको जानकर (उक्त मुनि) शांति प्राप्त करता है। २९

टिप्पणी—कोई यह न समझे कि इस अध्यायके चौदहवें, पंद्रहवें तथा ऐसे ही दूसरे श्लोकोंका यह श्लोक विरोधी है। ईश्वर सर्वशक्तिमान होते हुए कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता जो कहो सो है और नहीं है। वह अवर्णनीय है। मनुष्यकी भाषासे वह अतीत है। इससे उसमें परस्परविरोधी गुणों और शक्तियोंका भी आरोपण करके, मनुष्य उसकी झांकीकी आशा रखता है।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'कर्मसंन्यासयोग' नामक पांचवां अध्याय।

: ६ :

ध्यानयोग

इस अध्यायमें योगसाधनके—समत्व प्राप्त करनेके—कितने ही साधन बतलाये गये हैं।

श्रीभगवान बोले—

कर्मफलका आश्रय लिये बिना जो मनुष्य विहित कर्म करता है वह संन्यासी है, वह योगी है। जो अग्नि-का और समस्त क्रियाओंका त्याग करके बैठ जाता है वह नहीं। १

टिप्पणी—अग्निसे तात्पर्य है साधनमात्र। जब अग्निके द्वारा होम होते थे तब अग्निकी आवश्यकता थी। इस युगमें यदि चरखेको सेवाका साधन मानें तो उसका त्याग करनेसे संन्यासी नहीं हुआ जा सकता।

हे पांडव! जिसे संन्यास कहते हैं उसे तू योग जान। जिसने मनके संकल्पोंको त्यागा नहीं वह कभी योगी नहीं हो सकता। २

योग साधनेवालेको कर्म साधन है, जिसने उसे साधा है उसे शांति साधन है। ३

टिप्पणी—जिसकी आत्मशुद्धि हो गई है, जिसने

समत्व सिद्ध कर लिया है, उसे आत्मदर्शन सहज है। इसका यह अर्थ नहीं है कि योगारूढ़को लोकसंग्रहके लिए भी कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। लोकसंग्रहके बिना तो वह जी ही नहीं सकता। अतः सेवाकर्म करना भी उसके लिए सहज हो जाता है। वह दिखावेके लिए कुछ नहीं करता। (अध्याय ३, ४ अध्याय ५, २ से मिलाइए)

जब मनुष्य इंद्रियोंके विषयोंमें या कर्ममें आसक्त नहीं होता और सब संकल्प तज देता है तब वह योगारूढ़ कहलाता है। ४

आत्मासे मनुष्य आत्माका उद्धार करे, उसकी अधोगति न करे। आत्मा ही आत्माका बंधु है और आत्मा ही आत्माका शत्रु है। ५

उसीका आत्मा बंधु है जिसने अपने बलसे मनको जीता है। जिसने आत्माको जीता नहीं वह अपने ही साथ शत्रुका-सा बर्ताव करता है। ६

जिसने अपना मन जीता है और जो संपूर्ण रूपसे शांत हो गया है उसका आत्मा सरदी-गरमी, सुख-दुःख और मान-अपमानमें समान रहता है। ७

जो ज्ञान और अनुभवसे तृप्त हो गया है, जो अविचल है, जिसने इंद्रियोंको जीत लिया है और जिसे

मिट्टी, पत्थर और सोना समान हैं, ऐसा ईश्वरपरा-
यण मनुष्य योगी कहलाता है। ८

हितेच्छु, मित्र, शत्रु, निष्पक्षपाती, दोनोंका भला
चाहनेवाला, द्वेषी, बंधु और साधु तथा पापी इन सबमें
जो समानभाव रखता है वह श्रेष्ठ है। ९

चित्त स्थिर करके, वासना और संग्रहका त्याग
करके, अकेला एकांतमें रहकर योगी निरंतर आत्माको
परमात्माके साथ जोड़े। १०

पवित्र स्थानमें, न बहुत नीचा, न बहुत ऊंचा
ऐसा कुश, मृगचर्म और वस्त्र एक-पर-एक बिछाकर
स्थिर आसन अपने लिए करके, वहां एकाग्र मनसे
बैठकर चित्त और इंद्रियोंको वश करके आत्मशुद्धिके
लिए योग साधे। ११-१२

धड़, गर्दन और सिर एक सीधमें अचल रखकर,
स्थिर रहकर, इधर-उधर न देखता हुआ, अपने
नासिकाग्र पर निगाह टिकाकर पूर्ण शांतिसे, निर्भय
होकर, ब्रह्मचर्यमें दृढ़ रहकर, मनको मारकर मुझमें
परायण हुआ योगी मेरा ध्यान धरता हुआ बैठे।
१३-१४

टिप्पणी—नासिकाग्रसे मतलब है भृकुटीके बीचका
भाग। (देखो अध्याय ५-२७।) ब्रह्मचारीव्रतका अर्थ

केवल वीर्यसंग्रह ही नहीं है, बल्कि ब्रह्मको प्राप्त करने-के लिए आवश्यक अहिंसादि सभी व्रत हैं ।

इस प्रकार जिसका मन नियममें है ऐसा योगी आत्माको परमात्माके साथ जोड़ता है और मेरी प्राप्तिमें मिलनेवाली मोक्षरूपी परम शांति प्राप्त करता है । १५

हे अर्जुन ! यह समत्वरूप योग न तो प्राप्त होता है ठूंसकर खानेवालेको, न उपवासीको, वैसे ही, वह बहुत सोनेवाले या बहुत जागनेवालेको प्राप्त नहीं होता । १६

जो मनुष्य अहार-विहारमें, दूसरे कर्मोंमें, सोने-जागनेमें परिमित रहता है, उसका योग दुःखभंजन हो जाता है । १७

भलीभांति नियमबद्ध मन जब आत्मामें स्थिर होता है और मनुष्य सारी कामनाओंसे निस्पृह हो बैठता है तब वह योगी कहलाता है । १८

आत्माको परमात्माके साथ जोड़नेका प्रयत्न करने-वाले स्थिरचित्त योगीकी स्थिति वायुरहित स्थानमें अचल रहनेवाले दीपककी-सी कही गई है । १९

योगके सेवनसे अंकुशमें आया हुआ मन जहां शांति पाता है, आत्मासे ही आत्माको 'पहचानकर

आत्मामें जहां मनुष्य संतोष पाता है और इंद्रियोंसे परे और बुद्धिसे ग्रहण करनेयोग्य अनंत सुखका जहां अनुभव होता है, जहां रहकर मनुष्य मूलवस्तुसे चलायमान नहीं होता और जिसे पानेपर दूसरे किसी लाभको वह उससे अधिक नहीं मानता और जिसमें स्थिर हुआ महादुःखसे भी डगमगाता नहीं, उस दुःखके प्रसंगसे रहित स्थितिका नाम योगकी स्थिति समझना चाहिए। यह योग ऊबे बिना दृढ़तापूर्वक साधने योग्य है। २०-२३

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सारी कामनाओंका पूर्ण रूपसे त्याग करके, मनसे ही इंद्रियसमूहको सब ओरसे भलीभांति नियममें लाकर अचल बुद्धिसे योगी धीरे-धीरे शांत होता जाय और मनको आत्मामें पिरोकर, दूसरी किसी बातका विचार न करे। २४-२५

जहां-जहां चंचल और अस्थिर मन भागे, वहां-वहांसे (योगी) उसे नियममें लाकर अपने वशमें लावे। २६

जिसका मन भलीभांति शांत हुआ है, जिसके विकार शांत हो गए हैं, ऐसा ब्रह्ममय हुआ निष्पाप योगी अवश्य उत्तम सुख प्राप्त करता है। २७

आत्माके साथ निरंतर अनुसंधान करते हुए पाप-
रहित हुआ यह योगी सरलतासे ब्रह्मप्राप्तिरूप अनंत
सुखका अनुभव करता है। २८

सर्वत्र समभाव रखनेवाला योगी अपनेको सब
भूतोंमें और सब भूतोंको अपनेमें देखता है। २९

जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता
है, वह मेरी दृष्टिसे ओझल नहीं होता और मैं उसकी
दृष्टिसे ओझल नहीं होता। ३०

मुझमें लीन हुआ जो योगी भूतमात्रमें रहनेवाले
मुझको भजता है, वह चाहे जिस तरह बर्तता हुआ भी
मुझमें ही बर्तता है। ३१

टिप्पणी—'आप' जबतक है तबतक तो परमात्मा 'पर' है; 'आप' मिट जानेपर—शून्य होनेपर ही एक परमात्माको सर्वत्र देखता है। (अध्याय १३-२३ की टिप्पणी देखिये।)

हे अर्जुन! जो मनुष्य अपने जैसा सबको देखता
है और सुख हो या दुःख, दोनोंको समान समझता
है, वह योगी श्रेष्ठ गिना जाता है। ३२

अर्जुन बोले—

हे मधुसूदन! यह (समत्वरूपी) योग जो

आपने कहा, उसकी स्थिरता मैं चंचलताके कारण नहीं देख पाता। ३३

क्योंकि हे कृष्ण ! मन चंचल ही है, मनुष्यको मथ डालता है और बड़ा बलवान है। जैसे वायुको दबाना बहुत कठिन है वैसे मनका वश करना भीं मैं कठिन मानता हूं। ३४

श्रीभगवान बोले—

हे महाबाहो ! सच है कि मन चंचल होनेके कारण वश करना कठिन है। पर हे कौंतेय ! अभ्यास और वैराग्यसे वह वश किया जा सकता है। ३५

मेरा मत है कि जिसका मन अपने वशमें नहीं है, उसके लिए योग साधना बड़ा कठिन है; पर जिसका मन अपने वश में है और जो यत्नवान है वह उपाय-द्वारा साध सकता है। ३६

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! जो श्रद्धावान तो है पर यत्नमें मंद होनेके कारण योगभ्रष्ट हो जाता है, वह सफलता न पानेपर कौन-सी गति पाता है ? ३७

हे महाबाहो ! योगसे भ्रष्ट हुआ, ब्रह्ममार्गमें

भटका हुआ वह छिन्न-भिन्न बादलोंकी भांति उभयभ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ? ३८

हे कृष्ण ! मेरा यह संशय दूर करनेमें आप समर्थ हैं। आपके सिवा दूसरा कोई इस संशयको दूर करनेवाला नहीं मिल सकता। ३९

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ ! ऐसे मनुष्योंका नाश न तो इस लोकमें होता है, न परलोकमें। हे तात ! कल्याणमार्गमें जानेवालेकी कभी दुर्गति होती ही नहीं। ४०

पुण्यशाली लोगोंको मिलनेवाले स्थानको पाकर और वहां बहुत समयतक रहकर योगभ्रष्ट मनुष्य पवित्र और साधनवालेके घर जन्म लेता है। ४१

या ज्ञानवान योगीके ही कुलमें वह जन्म लेता है। संसारमें ऐसा जन्म अवश्य बहुत दुर्लभ है। ४२

हे कुरुनंदन ! वहां उसे पूर्व जन्मके बुद्धिसंस्कार मिलते हैं और वहांसे वह मोक्षके लिए आगे बढ़ता है। ४३

उसी पूर्वाभ्यासके कारण वह अवश्य योगकी ओर खिंचता है। योगका जिज्ञासु तक सकाम वैदिक कर्म करनेवालेकी स्थितिको पार कर जाता है। ४४

लगनसे प्रयत्न करता हुआ योगी पापसे छूटकर अनेक जन्मोंसे विशुद्ध होता हुआ परम गतिको पाता है । ४५

तपस्वीसे योगी अधिक है, ज्ञानीसे भी वह अधिक माना जाता है, वैसे ही कर्मकांडीसे वह अधिक है, इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी बन । ४६

टिप्पणी—यहां तपस्वीकी तपस्या फलेच्छायुक्त है । ज्ञानीसे मतलब अनुभवज्ञानीसे नहीं है ।

सारे योगियोंमें भी उसे मैं सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हूं जो मुझमें मन पिरोकर मुझे श्रद्धापूर्वक भजता है । ४७

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'ध्यानयोग' नामक छठा अध्याय ।

: ७ :

ज्ञानविज्ञानयोग

इस अध्यायमें यह समझाना आरंभ किया गया है कि ईश्वरतत्त्व और ईश्वरभक्ति क्या है ।

श्रीभगवान बोले—

हे पार्थ ! मेरेमें मन पिरोकर और मेरा आश्रय लेकर योग साधता हुआ तू निश्चयपूर्वक और संपूर्णरूपसे मुझे किस तरह पहचान सकता है सो सुन । १

अनुभवयुक्त यह ज्ञान मैं तुझे पूर्णरूपसे कहूंगा । इसे जाननेके बाद इस लोकमें अधिक कुछ जाननेको नहीं रह जाता । २

हजारों मनुष्योंमेंसे कोई ही सिद्धिके लिए प्रयत्न करता है । प्रयत्न करनेवाले सिद्धोंमेंसे भी कोई ही मुझे वास्तविक रूपसे पहचानता है । ३

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंभाव—यह आठ प्रकारकी मेरी प्रकृति है । ४

टिप्पणी—इन आठ तत्त्वोंवाला स्वरूप क्षेत्र या क्षर पुरुष है । (देखो अध्याय १३, श्लोक ५; और अध्याय १५, श्लोक १६ ।)

यह अपरा प्रकृति हुई । इससे भी ऊंची परा प्रकृति है, जो जीवरूप है । हे महाबाहो ! यह जगत उसके आधारपर निभ रहा है । ५

भूतमात्रकी उत्पत्तिका कारण तू इन दोनोंको

जान। समूचे जगतकी उत्पत्ति और लयका कारण मैं हूं। ६

हे धनंजय ! मुझसे उच्च दूसरा कुछ नहीं है। जैसे धागेमें मनके पिरोये हुए रहते हैं वैसे यह सब मुझमें पिरोया हुआ है। ७

हे कौंतेय ! जलमें रस मैं हूं, सूर्य-चंद्रमें तेज मैं हूं; सब वेदोंमें ओंकार मैं हूं, आकाशमें शब्द मैं हूं और पुरुषोंका पराक्रम मैं हूं। ८

पृथ्वीमें सुगंध मैं हूं, अग्निमें तेज मैं हूं, प्राणीमात्रका जीवन मैं हूं, तपस्वीका तप मैं हूं। ९

हे पार्थ ! समस्त जीवोंका सनातन बीज मुझे जान। बुद्धिमानकी बुद्धि मैं हूं, तेजस्वीका तेज मैं हूं। १०

बलवानका काम और रागरहित बल मैं हूं और हे भरतर्षभ ! प्राणियोंमें धर्मका अविरोधी काम मैं हूं। ११

जो-जो सात्विक, राजसी और तामसी भाव हैं, उन्हें मुझसे उत्पन्न हुआ जान। परंतु मैं उनमें हूं, ऐसा नहीं है, वे मुझमें हैं। १२

टिप्पणी—इन भावोंपर परमात्मा निर्भर नहीं है, बल्कि वे भाव उसपर निर्भर हैं। उसके आधारपर हैं, रहते हैं और उसके वशमें हैं।

इन त्रिगुणी भावोंसे सारा संसार मोहित हो रहा है और इसलिए उनसे उच्च और भिन्न ऐसे मुझको—अविनाशीको—वह नहीं पहचानता । १३

इस मेरी तीन गुणोंवाली दैवी मायाका तरना कठिन है; पर जो मेरी ही शरण लेते हैं वे इस माया-को तर जाते हैं । १४

दुराचारी, मूढ़, अधम मनुष्य मेरी शरण नहीं आते । वे आसुरीभाववाले होते हैं और मायाद्वारा उनका ज्ञान हरा हुआ होता है । १५

हे अर्जुन ! चार प्रकारके सदाचारी मनुष्य मुझे भजते हैं—दुःखी, जिज्ञासु, कुछ प्राप्तिकी इच्छावाले और ज्ञानी । १६

उनमें जो नित्य समभावी एकको ही भजनेवाला है, वह ज्ञानी श्रेष्ठ है । मैं ज्ञानीको अत्यंत प्रिय हूं और ज्ञानी मुझे प्रिय है । १७

ये सभी भक्त अच्छे हैं, पर ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है, ऐसा मेरा मत है; क्योंकि मुझे पानेके सिवा दूसरी अधिक उत्तम गति है ही नहीं, यह जानता हुआ वह योगी मेरा ही आश्रय लेता है । १८

बहुत जन्मोंके अंतमें ज्ञानी मुझे पाता है। सब वासु-देवमय है, यों जाननेवाला महात्मा बहुत दुर्लभ है । १९

अनेक कामनाओंसे जिन लोगोंका ज्ञान हरा गया है, वे अपनी प्रकृतिके अनुसार भिन्न-भिन्न विधिका आश्रय लेकर दूसरे देवताओंकी शरण जाते हैं। २०

जो-जो मनुष्य जिस-जिस स्वरूपकी भक्ति श्रद्धा-पूर्वक करना चाहता है, उस-उस स्वरूपमें उसकी श्रद्धाको मैं दृढ़ करता हूं। २१

श्रद्धापूर्वक उस-उस स्वरूपकी वह आराधना करता है और उसके द्वारा मेरी निर्मित की हुई और अपनी इच्छित कामनाएँ पूरी करता है। २२

उन अल्प बुद्धिवालोंको जो फल मिलता है वह नाशवान होता है। देवताओंको भजनेवाले देवताओंको पाते हैं, मुझे भजनेवाले मुझे पाते हैं। २३

मेरे परम अविनाशी और अनुपम स्वरूपको न जाननेवाले बुद्धिहीन लोग इंद्रियोंसे अतीत मुझको इंद्रियगम्य मानते हैं। २४

अपनी योगमायासे ढका हुआ मैं सबके लिए प्रकट नहीं हूं। यह मूढ़ जगत मुझ अजन्मा और अव्ययको भलीभांति नहीं पहचानता। २५

टिप्पणी—इस दृश्य जगतको उत्पन्न करनेका सामर्थ्य होते हुए भी अलिप्त होनेके कारण परमात्माके अदृश्य रहनेका जो भाव है वह उसकी योगमाया है।

हे अर्जुन ! जो हो चुके हैं, जो हैं और होने-
वाले सभी भूतोंको मैं जानता हूं, पर मुझे कोई नहीं
जानता । २६

हे भारत ! हे परंतप ! इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न
होनेवाले सुख-दुःखादि द्वंद्वके मोहसे प्राणीमात्र इस
जगतमें मोहग्रस्त रहते हैं । २७

पर जिन सदाचारी लोगोंके पापोंका अंत हो चुका
है और जो द्वंद्वके मोहसे मुक्त हो गये हैं वे अटल व्रतवाले
मुझे भजते हैं । २८

जो मेरा आश्रय लेकर जरा और मरणसे मुक्त
होनेका प्रयत्न करते हैं वे पूर्णब्रह्मको, अध्यात्मको
और अखिल कर्मको जानते हैं । २९

अधिभूत, अधिदेव और अधियज्ञयुक्त मुझे जिन्हों-
ने पहचाना है, वे समत्वको पाये हुए मुझे मृत्युके समय
भी पहचानते हैं । ३०

टिप्पणी—अधिभूतादिका अर्थ आठवें अध्यायमें आता है। इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि इस संसारमें ईश्वरके सिवा और कुछ भी नहीं है और समस्त कर्मोंका कर्ता-भोक्ता वह है, ऐसा समझकर जो मृत्युके समय शांत रहकर ईश्वरमें ही तन्मय रहता है तथा कोई वासना उस समय जिसे नहीं होती,

उसने ईश्वरको पहचाना है और उसने मोक्ष पाई है ।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-विद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'ज्ञान-विज्ञानयोग' नामक सातवां अध्याय ।

: ८ :

अक्षरब्रह्मयोग

इस अध्यायमें ईश्वरतत्त्वको विशेषरूपसे समझाया गया है ।

अर्जुन बोले—

हे पुरुषोत्तम ! इस ब्रह्मका क्या स्वरूप है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहते हैं ? अधिदैव क्या कहलाता है ? १

हे मधुसूदन ! इस देहमें अधियज्ञ क्या है और किस प्रकार है ? और संयमी आपको मृत्युके समय किस तरह पहचान सकता है ? २

श्रीभगवान बोले—

जो सर्वोत्तम अविनाशी है वह ब्रह्म है; प्राणीमात्रमें अपनी सत्तासे जो रहता है वह अध्यात्म है और प्राणीमात्रको उत्पन्न करनेवाला सृष्टिव्यापार कर्म कहलाता है। ३

अधिभूत मेरा नाशवान स्वरूप है। अधिदैवत उसमें रहनेवाला मेरा जीवस्वरूप है। और हे मनुष्य-श्रेष्ठ ! अधियज्ञ इस शरीरमें स्थित किंतु यज्ञद्वारा शुद्ध हुआ जीवस्वरूप है। ४

टिप्पणी—तात्पर्य, अव्यक्त ब्रह्मसे लेकर नाशवान दृश्य पदार्थमात्र परमात्मा ही है और सब उसीकी कृति है। तब फिर मनुष्यप्राणी स्वयं कर्तापनका अभिमान रखनेके बदले परमात्माका दास बनकर सब कुछ उसे समर्पण क्यों न करे ?

अंतकालमें मुझे ही स्मरण करते-करते जो देह-त्याग करता है वह मेरे स्वरूपको पाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। ५

अथवा तो हे कौंतेय ! नित्य जिस-जिस स्वरूपका ध्यान मनुष्य धरता है, उस-उस स्वरूपको अंतकालमें भी स्मरण करता हुआ वह देह छोड़ता है और इससे वह उस-उस स्वरूपको पाता है। ६

इसलिए सदा मुझे स्मरण कर और जूझता रह; इस प्रकार मुझमें मन और बुद्धि रखनेसे अवश्य मुझे पावेगा । ७

हे पार्थ ! चित्तको अभ्याससे स्थिर करके और कहीं न भागने देकर जो एकाग्र होता है वह दिव्य परमपुरुषको पाता है । ८

जो मनुष्य मृत्युकालमें अचल मनसे, भक्तिसे युक्त होकर और योगबलसे भृकुटीके बीचमें अच्छी तरह प्राणको स्थापित करके सर्वज्ञ, पुरातन, नियंता, सूक्ष्मतम, सबके पालनहार, अचिंत्य, सूर्यके समान तेजस्वी, अज्ञानरूपी अंधकारसे पर स्वरूपका ठीक स्मरण करता है वह दिव्य परमपुरुषको पाता है । ९-१०

जिसे वेद जाननेवाले अक्षर नामसे वर्णन करते हैं, जिसमें वीतराग मुनि प्रवेश करते हैं और जिसकी प्राप्तिकी इच्छासे लोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदका संक्षिप्त वर्णन मैं तुझसे करूंगा । ११

इंद्रियोंके सब द्वारोंको रोककर, मनको हृदयमें ठहराकर, मस्तकमें प्राणको धारण करके समाधिस्थ होकर ॐ ऐसे एकाक्षरी ब्रह्मका उच्चारण और मेरा चिंतन करता हुआ जो मनुष्य देह त्यागता है वह परमगतिको पाता है । १२-१३

हे पार्थ ! चित्तको अन्यत्र कही रखे बिना जो नित्य और निरंतर मेरा ही स्मरण करता है वह नित्ययुक्त योगी मुझे सहजमें पाता है। १४

मुझे पाकर परमगतिको पहुंचे हुए महात्मा दुःखके घर अशाश्वत पुनर्जन्मको नहीं पाते। १५

हे कौंतेय ! ब्रह्मलोकसे लेकर सभी लोक फिर-फिर आनेवाले हैं; परंतु मुझे पानेके बाद मनुष्यको फिर जन्म नहीं लेना होता। १६

हजार युगतकका ब्रह्माका एक दिन और हजार युगतककी ब्रह्माकी एक रात, जो जानते हैं वे रातदिनके जाननेवाले हैं। १७

टिप्पणी—तात्पर्य, हमारे चौबीस घंटेके रात-दिन कालचक्रके अंदर एक क्षणसे भी सूक्ष्म हैं। उनकी कोई गिनती नही है। इसलिए उतने समयमें मिलनेवाले भोग आकाश-पुष्पवत् हैं, यों समझकर हमें उनकी ओरसे उदासीन रहना चाहिए और उतना ही समय हमारे पास है उसे भगवद्भक्तिमें, सेवामें, व्यतीतकर सार्थक करना चाहिए और यदि तत्काल आत्मदर्शन न हो तो धीरज रखना चाहिए।

(ब्रह्माका) दिन आरंभ होनेपर सब अव्यक्तमेंसे

व्यक्त होते हैं और रात पड़नेपर उनका प्रलय होता है, अर्थात् अव्यक्तमें लय हो जाते हैं। १८

टिप्पणी—यह जानकर भी मनुष्यको समझना चाहिए कि उसके हाथमें बहुत थोड़ी सत्ता है। उत्पत्ति और नाशका जोड़ा साथ-साथ चलता ही रहता है।

हे पार्थ ! यह प्राणियोंका समुदाय इस तरह पैदा हो-होकर, रात पड़नेपर बरबस लय होता है और दिन उगनेपर उत्पन्न होता है। १९

इस अव्यक्तसे परे दूसरा सनातन अव्यक्त भाव है। समस्त प्राणियोंका नाश होते हुए भी वह सनातन अव्यक्त भाव नष्ट नहीं होता। २०

जो अव्यक्त, अक्षर (अविनाशी) कहलाता है, उसीको परमगति कहते हैं। जिसे पानेके बाद लोगोंका पुनर्जन्म नहीं होता, वह मेरा परमधाम है। २१

हे पार्थ ! इस उत्तम पुरुषके दर्शन अनन्य भक्तिसे होते हैं। इसमें भूतमात्र स्थित हैं और यह सब उससे व्याप्त है। २२

जिस समय मरकर योगी मोक्ष पाते हैं और जिस समय मरकर उन्हें पुनर्जन्म प्राप्त होता है वह काल हे भरतर्षभ ! मैं तुझसे कहूंगा। २३

उत्तरायणके छः महीनोंमें, शुक्लपक्षमें, दिनको

जिस समय अग्निकी ज्वाला उठ रही हो उस समय जिसकी मृत्यु होती है वह ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मको पाता है। २४

दक्षिणायनके छः महीनोंमें, कृष्णपक्षमें, रात्रिमें, जिस समय धुआं फैला हुआ हो उस समय मरनेवाले चंद्रलोकको पाकर पुनर्जन्म पाते हैं। २५

टिप्पणी—ऊपरके दो श्लोक मैं पूरी तौरसे नहीं समझता। उनके शब्दार्थका गीताकी शिक्षाके साथ मेल नहीं बैठता। उस शिक्षाके अनुसार तो जो भक्तिमान है, जो सेवामार्गको सेता है, जिसे ज्ञान हो चुका है, वह चाहे जभी मरे, उसे मोक्ष ही है। उससे इन श्लोकोंका शब्दार्थ विरोधी है। उसका भावार्थ यह अवश्य निकल सकता है कि जो यज्ञ करता है अर्थात् परोपकारमें ही जो जीवन बिताता है, जिसे ज्ञान हो चुका है, जो ब्रह्मविद् अर्थात् ज्ञानी है, मृत्युके समय भी यदि उसकी ऐसी स्थिति हो तो वह मोक्ष पाता है। इससे विपरीत जो यज्ञ नहीं करता, जिसे ज्ञान नहीं है, जो भक्ति नहीं जानता वह चंद्रलोक अर्थात् क्षणिक लोकको पाकर फिर संसार-चक्रमें लौटता है। चंद्रके निजी ज्योति नहीं है।

जगतमें ज्ञान और अज्ञानके ये दो परंपरासे चलते

आये मार्ग माने गये हैं। एक अर्थात् ज्ञानमार्गसे मनुष्य मोक्ष पाता है और दूसरे अर्थात् अज्ञानमार्गसे उसे पुनर्जन्म प्राप्त होता है। २६

हे पार्थ ! इन दोनों मार्गोंका जाननेवाला कोई भी योगी मोहमें नहीं पड़ता। इसलिए हे अर्जुन ! तू सर्वदा योगयुक्त रहना। २७

टिप्पणी—दोनों मार्गोंका जाननेवाला और समभाव रखनेवाला अंधकारका—अज्ञानका मार्ग नहीं पकड़ता, इसीका नाम है मोहमें न पड़ना।

यह वस्तु जान लेनेके बाद वेदमें, यज्ञमें, तपमें और दानमें जो पुण्यफल बतलाया है, उस सबको पार करके योगी उत्तम आदिस्थान पाता है। २८

टिप्पणी—अर्थात् जिसने ज्ञान, भक्ति और सेवाकर्मसे समभाव प्राप्त किया है, उसे न केवल सब पुण्योंका फल ही मिल जाता है, बल्कि उसे परम मोक्षपद मिलता है।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'अक्षरब्रह्मयोग' नामक आठवां अध्याय।

: ९ :

राजविद्याराजगुह्ययोग

इसमें भक्तिकी महिमा गाई है।

श्रीभगवान बोले—

तू द्वेषरहित है, इससे तुझे मैं गुह्य-से-गुह्य अनुभव-युक्त ज्ञान दूंगा, जिसे जानकर तू अकल्याणसे बचेगा। १

विद्याओंमें यह राजा है गूढ़ वस्तुओंमें भी राजा है। यह विद्या पवित्र है, उत्तम है, प्रत्यक्ष अनुभवमें आने योग्य, धार्मिक, आचारमें लानेमें सहज और अविनाशी है। २

हे परंतप! इस धर्ममें जिन्हें श्रद्धा नहीं है. ऐसे लोग मुझे न पाकर मृत्युमय संसार-मार्गमें बारंबार ठोकर खाते हैं। ३

मेरे अव्यक्त स्वरूपसे यह समूचा जगत भरा हुआ है। मुझमें—मेरे आधारपर—सब प्राणी हैं, मैं उनके आधारपर नहीं हूं। ४

तथापि प्राणी मुझमें नहीं हैं ऐसा भी कहा जा सकता है। यह मेरा योगबल तू देख। मैं जीवोंका पालन करनेवाला हूं, फिर भी मैं उनमें नहीं हूं। परंतु मैं उनका उत्पत्तिकारण हूं। ५

टिप्पणी—मुझमें सब जीव हैं और नहीं हैं। उनमें मैं हूं और नहीं हूं। यह ईश्वरका योगबल, उसकी माया, उसका चमत्कार है। ईश्वरका वर्णन भगवानको भी मनुष्यकी भाषामें ही करना ठहरा, इसलिए अनेक प्रकारके भाषा-प्रयोग करके उसे संतोष देते हैं। ईश्वरमय सब है, इसलिए सब उसमें है। वह अलिप्त है, प्राकृत कर्ता नहीं है, इसलिए उसमें जीव नहीं हैं, यह कहा जा सकता है। परंतु जो उसके भक्त हैं उनमें वह अवश्य है। जो नास्तिक हैं उनमें उसकी दृष्टिसे तो वह नहीं है। और इसे उसके चमत्कारके सिवा और क्या कहा जाय?

जैसे सर्वत्र विचरती हुई महान् वायु नित्य आकाशमें विद्यमान है ही, वैसे सब प्राणी मुझमें हैं ऐसा जान। ६

हे कौंतेय! सारे प्राणी कल्पके अंतमें मेरी प्रकृतिमें लय पाते हैं और कल्पका आरंभ होनेपर मैं उन्हें फिर रचता हूं। ७

अपनी मायाके आधारसे मैं इस प्रकृतिके प्रभावके अधीन रहनेवाले प्राणियोंके सारे समुदायको बारंबार उत्पन्न करता हूं। ८

हे धनंजय! ये कर्म मुझे बंधन नहीं करते, क्योंकि

मैं उनमें उदासीनके समान और आसक्तिरहित बर्तता हूं । ९

मेरे अधिकारके नीचे प्रकृति स्थावर और जंगम जगतको उत्पन्न करती है और इस हेतु, हे कौंतेय ! जगत घटमाल (रहँट)की भांति घूमा करता है । १०

प्राणीमात्रका महेश्वररूप जो मैं हूं उसके भावको न जानकर मूर्ख लोग मुझ मनुष्य-तनधारीकी अवज्ञा करते हैं । ११

टिप्पणी—क्योंकि जो लोग ईश्वरकी सत्ता नही मानते, वे शरीरस्थित अंतर्यामीको नहीं पहचानते और उसके अस्तित्वको न मानते हुए जड़वादी बने रहते हैं ।

व्यर्थ आशावाले, व्यर्थ काम करनेवाले और व्यर्थ ज्ञानवाले मूढ़ लोग मोहमें डाल रखनेवाली राक्षसी या आसुरी प्रकृतिका आश्रय लेते हैं । १२

इससे विपरीत, हे पार्थ ! महात्मालोग दैवी प्रकृतिका आश्रय लेकर प्राणीमात्रके आदिकारण ऐसे अविनाशी मुझको जानकर एकनिष्ठासे भजते हैं । १३

दृढ़ निश्चयवाले, प्रयत्न करनेवाले वे निरंतर मेरा कीर्तन करते हैं, मुझे भक्तिसे नमस्कार करते हैं और नित्य ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते हैं । १४

और दूसरे लोग अद्वैतरूपसे या द्वैतरूपसे अथवा बहुरूपसे सब कहीं रहनेवाले मुझको ज्ञानद्वारा पूजते हैं। १५

यज्ञका संकल्प मैं हूं, यज्ञ मैं हूं, यज्ञद्वारा पितरोंका आधार मैं हूं, यज्ञकी वनस्पति मैं हूं, मंत्र मैं हूं, आहुति मैं हूं, अग्नि मैं हूं और हवन-द्रव्य मैं हूं। १६

इस जगतका पिता मैं, माता मैं, धारण करनेवाला मैं, पितामह मैं, जानने योग्य मैं, पवित्र ॐकार मैं, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूं। १७

गति मैं, पोषक मैं, प्रभु मैं, साक्षी मैं, निवास मैं, आश्रय मैं, हितैषी मैं, उत्पति मैं, नाश मैं, स्थिति मैं, भंडार मैं और अव्यय बीज भी मैं हूं। १८

धूप मैं देता हूं, वर्षाको मैं ही रोक रखता और बरसने देता हूं। अमरता मैं हूं, मृत्यु मैं हूं और हे अर्जुन! सत् तथा असत् भी मैं ही हूं। १९

तीन वेदके कर्म करनेवाले सोमरस पीकर निष्पाप बने हुए यज्ञद्वारा मुझे पूजकर स्वर्ग मांगते हैं। वे पवित्र देवलोक पाकर स्वर्ग में दिव्य भोग भोगते हैं। २०

टिप्पणी—सभी वैदिक क्रियाएं फल-प्राप्तिके लिए की जाती थीं और उनमेंसे कई क्रियाओंमें सोमपान

होता था, उसका यहां उल्लेख है। वे क्रियाएँ क्या थीं, सोमरस क्या था, यह आज वास्तवमें कोई नहीं कह सकता।

इस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर वे पुण्यका क्षय हो जानेपर मृत्युलोकमें वापस आते हैं। इस प्रकार तीन वेदके कर्म करनेवाले फलकी इच्छा रखनेवाले जन्ममरणके चक्कर काटा करते हैं। २१

जो लोग अनन्यभावसे मेरा चिंतन करते हुए मुझे भजते हैं, उन नित्य मुझमें ही रत रहनेवालोंके योग-क्षेमका भार मैं उठाता हूं। २२

टिप्पणी—इस प्रकार योगीको पहचाननेके तीन सुंदर लक्षण हैं—समत्व, कर्ममें कौशल, अनन्यभक्ति। ये तीनों एक-दूसरेमें ओतप्रोत होने चाहिए। भक्तिके बिना समत्व नहीं मिलता, समत्वके बिना भक्ति नहीं मिलती और कर्म-कौशलके बिना भक्ति तथा समत्वका आभासमात्र होनेका भय है। योग अर्थात् अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना और क्षेम अर्थात् प्राप्त वस्तुको संभालकर रखना।

और हे कौंतेय! जो श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताको भजते हैं, वे भी भले ही विधिरहित भजें, मुझे ही भजते हैं। २३

टिप्पणी—विधिरहित अर्थात् अज्ञानवश, मुझे एक निरंजन निराकारको न जानकर।

जो मैं ही सब यज्ञोंका भोगनेवाला स्वामी हूं, उसे वे सच्चे स्वरूपमें नहीं पहचानते, इसलिए वे गिरते हैं। २४

देवताओंका पूजन करनेवाले देवलोकोंको पाते हैं, पितरोंका पूजन करनेवाले पितृलोकको पाते हैं, भूत-प्रेतादिको पूजनेवाले उन लोकोंको पाते हैं और मुझे भजनेवाले मुझे पाते हैं। २५

पत्र, फूल, फल या जल जो मुझे भक्तिपूर्वक अर्पण करता है वह प्रयत्नशील मनुष्यद्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित किया हुआ मैं सेवन करता हूं। २६

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि ईश्वरप्रीत्यर्थ जो कुछ सेवाभावसे दिया जाता है, उसका स्वीकार उस प्राणीमें रहनेवाले अंतर्यामीरूपसे भगवान ही ग्रहण करते हैं।

इसलिए हे कौंतेय! जो करे, जो खाय, जो हवनमें होमे, जो तू दानमें दे, जो तप करे, वह सब मुझे अर्पण करके करना। २७

इससे तू शुभाशुभ फल देनेवाले कर्मबंधनसे छूट जायगा और फलत्यागरूपी समत्वको पाकर, जन्ममरण-से मुक्त होकर मुझे पावेगा। २८

सब प्राणियोंमें मैं समभावसे रहता हूं । मुझे कोई अप्रिय या प्रिय नहीं है। जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूं । २९

भारी दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मुझे भजे तो उसे साधु हुआ ही मानना चाहिए; क्योंकि अब उसका अच्छा संकल्प है । ३०

टिप्पणी—क्योंकि अनन्यभक्ति दुराचारको शांत कर देती है ।

वह तुरंत धर्मात्मा हो जाता है और निरंतर शांति पाता है । हे कौंतेय ! तू निश्चयपूर्वक जानना कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता । ३१

फिर हे पार्थ ! जो पापयोनि हों वे भी और स्त्रियां, वैश्य तथा शूद्र जो मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, वे परमगति पाते हैं । ३२

तब फिर पुण्यवान ब्राह्मण और राजर्षि जो मेरे भक्त हैं, उनका तो कहना ही क्या है ? इसलिए इस अनित्य और सुखरहित लोकमें जन्मकर तू मुझे भज । ३३

मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे निमित्त यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर, इससे मुझमें परायण होकर आत्माको मेरे साथ जोड़कर तू मुझे ही पावेगा । ३४

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-विद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'राज-विद्याराजगुह्ययोग' नामक नवां अध्याय ।

: १० :

विभूतियोग

सातवें, आठवें और नवें अध्यायमें भक्ति आदिका निरूपण करनेके बाद भगवान अपनी अनंत विभूतियोंका कुछ दिग्दर्शन भक्तके लिए कराते हैं ।

श्रीभगवान बोले—

हे महाबाहो ! फिर मेरा परम वचन सुन । यह मैं तुझ प्रियजनको तेरे हितके लिए कहूंगा । १

देव और महर्षि मेरी उत्पत्तिको नहीं जानते, क्योंकि मैं ही देवोंका और महर्षियोंका सब प्रकारसे आदि कारण हूं । २

मृत्युलोकमें रहता हुआ जो ज्ञानी लोकोंके महेश्वर मुझको अजन्मा और अनादि रूपमें जानता है वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । ३

बुद्धि, ज्ञान, अमूढ़ता, क्षमा, सत्य, इंद्रिय-निग्रह, शांति, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय और अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश, अपयश, इस प्रकार प्राणियोंके भिन्न-भिन्न भाव मुझसे उत्पन्न होते हैं। ४-५

सप्तर्षि, उनके पहले सनकादिक चार और (चौदह) मनु मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए और उनमेंसे ये लोक उत्पन्न हुए हैं। ६

इस मेरी विभूति और शक्तिको जो यथार्थ जानता है वह अविचल समताको पाता है, इसमें संशय नहीं है। ७

मैं सबकी उत्पत्तिका कारण हूं और सब मुझसे ही प्रवृत्त होते हैं, यह जानकर समझदार लोग भावपूर्वक मुझे भजते हैं। ८

मुझमें चित्त लगानेवाले, मुझे प्राणार्पण करनेवाले एक-दूसरेको बोध कराते हुए, मेरा ही नित्य कीर्तन करते हुए, संतोष और आनंदमें रहते हैं। ९

इस प्रकार मुझमें तन्मय रहनेवालोंको और मुझे प्रेमसे भजनेवालोंको मैं ज्ञान देता हूं और उससे वे मुझे पाते हैं। १०

उनपर दया करके उनके हृदयमें स्थित मैं ज्ञानरूपी

प्रकाशमय दीपकसे उनके अज्ञानरूपी अंधकारका नाश करता हूं। ११

अर्जुन बोले—

हे भगवान ! आप परमब्रह्म हैं, परमधाम हैं, परम-पवित्र हैं। समस्त ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास आपको अविनाशी, दिव्यपुरुष, आदिदेव अजन्मा, ईश्वररूप मानते हैं और आप स्वयं भी वैसा ही कहते हैं। १२–१३

हे केशव ! आप जो कहते हैं उसे मैं सत्य मानता हूं। हे भगवान ! आपके स्वरूपको न देव जानते हैं न दानव। १४

हे पुरुषोत्तम ! हे जीवोंके पिता ! हे जीवेश्वर ! हे देवोंके देव ! हे जगतके स्वामी ! आप स्वयं ही अपनेद्वारा अपनेको जानते हैं। १५

जिन विभूतियोंके द्वारा इन लोकोंमें आप व्याप रहे हैं, अपनी वह दिव्य विभूतियां पूरी-पूरी मुझसे आपको कहनी चाहिए। १६

हे योगिन् ! आपका नित्य चिंतन करते-करते आपको मैं कैसे पहचान सकता हूं ? हे भगवान् ! किस-किस रूपमें आपका चिंतन करना चाहिए ? १७

हे जनार्दन ! अपनी शक्ति और अपनी विभूतिका वर्णन मुझसे फिर विस्तारपूर्वक कीजिए । आपकी अमृत-मय वाणी सुनते-सुनते तृप्ति होती ही नहीं । १८

श्रीभगवान बोले—

हे कुरुश्रेष्ठ ! अच्छा, मैं अपनी मुख्य-मुख्य दिव्य विभूतियां तुझे कहूंगा । उनके विस्तारका अंत तो है ही नहीं । १९

हे गुडाकेश ! मैं सब प्राणियोंके हृदयमें विद्यमान आत्मा हूं । मैं ही भूतमात्रका आदि, मध्य और अंत हूं । २०

आदित्योंमें विष्णु मैं हूं, ज्योतियोंमें जगमगाता सूर्य मैं हूं, वायुओंमें मरीचि मैं हूं, नक्षत्रोंमें चंद्र मैं हूं । २१

वेदोंमें सामवेद मैं हूं, देवोंमें इंद्र मैं हूं, इंद्रियोंमें मन मैं हूं और प्राणियोंका चेतन मैं हूं । २२

रुद्रोंमें शंकर मैं हूं, यक्ष और राक्षसोंमें कुबेर मैं हूं, वसुओंमें अग्नि मैं हूं, पर्वतोंमें मेरु मैं हूं । २३

हे पार्थ ! पुरोहितोंमें प्रधान बृहस्पति मुझे समझ । सेनापतियोंमें कार्तिक स्वामी मैं हूं और सरोवरोंमें सागर मैं हूं । २४

महर्षियोंमें भृगु मैं हूं, वाणीमें एकाक्षरी ॐ मैं हूं, यज्ञोंमें जप-यज्ञ मैं हूं और स्थावरोंमें हिमालय मैं हूं। २५

सब वृक्षोंमें अश्वत्थ (पीपल) मैं हूं, देवर्षियोंमें नारद मैं हूं, गंधर्वोंमें चित्ररथ मैं हूं और सिद्धोंमें कपिल-मुनि मैं हूं। २६

अश्वोंमें अमृतमेंसे उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा मुझे जान। हाथियोंमें ऐरावत और मनुष्योंमें राजा मैं हूं। २७

हथियारोंमें वज्र मैं हूं, गायोंमें कामधेनु मैं हूं, प्रजाकी उत्पत्तिका कारण कामदेव मैं हूं, सर्पोंमें वासुकि मैं हूं। २८

नागोंमें शेषनाग मैं हूं, जलचरोंमें वरुण मैं हूं, पितरोंमें अर्यमा मैं हूं और दंड देनेवालोंमें यम मैं हूं। २९

दैत्योंमें प्रह्लाद मैं हूं, गिननेवालोंमें काल मैं हूं, पशुओंमें सिंह मैं हूं, पक्षियोंमें गरुड़ मैं हूं। ३०

पावन करनेवालोंमें पवन मैं हूं, शस्त्रधारियोंमें परशुराम मैं हूं, मछलियोंमें मगरमच्छ मैं हूं, नदियोंमें गंगा मैं हूं। ३१

हे अर्जुन ! सृष्टियोंका आदि, अंत और मध्य मैं हूं, विद्याओंमें अध्यात्मविद्या मैं हूं और विवाद करनेवालोंका वाद मैं हूं। ३२

अक्षरोंमें अकार मैं हूं, समासोंमें द्वंद्व मैं हूं, अवि-

नाशी काल मैं हूं और सर्वव्यापी धारण करनेवाला भी मैं हूं। ३३

सबको हरनेवाली मृत्यु मैं हूं, भविष्यमें उत्पन्न होनेवालेका उत्पत्तिकारण मैं हूं और नारी जातिके नामोंमें कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, मेधा (बुद्धि), धृति (धैर्य) और क्षमा मैं हूं। ३४

सामोंमें बृहत् (बड़ा) साम मैं हूं, छंदोंमें गायत्री छंद मैं हूं। महीनोंमें मार्गशीर्ष मैं हूं, ऋतुओंमें बसंत मैं हूं। ३५

छल करनेवालेका द्यूत मैं हूं, प्रतापीका प्रभाव मैं हूं, जय मैं हूं, निश्चय मैं हूं, सात्त्विक भाववालेका सत्त्व मैं हूं। ३६

टिप्पणी—छल करनेवालोंका द्यूत मैं हूं, इस वचनसे भड़कनेकी आवश्यकता नहीं है। यहां सारासारका निर्णय नहीं है, किंतु जो कुछ होता है वह बिना ईश्वरकी मर्जीके नहीं होता, यह बतलाना है और सब उसके अधीन हैं, यह जाननेवाला छली भी अपना अभिमान छोड़कर छल त्यागे।

वृष्णिकुलमें वासदेव मैं हूं, पांडवोंमें धनंजय (अर्जुन) मैं हूं, मुनियोंमें व्यास मैं हूं और कवियोंमें उशना मैं हूं। ३७

शासकका दंड मैं हूं, जय चाहनेवालोंकी नीति मैं हूं, गुह्य बातोंमें मौन मैं हूं और ज्ञानवानका ज्ञान मैं हूं। ३८

हे अर्जुन ! समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिका कारण मैं हूं। जो कुछ स्थावर या जंगम है, वह मेरे बिना नहीं है। ३९

हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अंत ही नहीं है। विभूतियोंका विस्तार मैंने केवल दृष्टांतरूपसे ही बतलाया है। ४०

जो कुछ भी विभूतिमान, लक्ष्मीवान या प्रभावशाली है, उस-उसको मेरे तेजके अंशसे ही हुआ समझ। ४१

अथवा हे अर्जुन ! यह विस्तारपूर्वक जानकर तुझे क्या करना है। अपने एक अंशमात्रसे इस समूचे जगत-को धारण करके मैं विद्यमान हूं। ४२

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-विद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'विभूति-योग' नामक दसवां अध्याय।

: ११ :

विश्वरूपदर्शनयोग

इस अध्यायमें भगवान अपना विराट स्वरूप अर्जुनको बतलाते हैं। भक्तोंको यह अध्याय बहुत प्रिय है। इसमें दलीलें नहीं, बल्कि केवल काव्य है। इस अध्यायका पाठ करते-करते मनुष्य थकता ही नहीं।

अर्जुन बोले—

आपने मुझपर कृपा करके यह आध्यात्मिक परम रहस्य कहा है। आपके मुझसे कहे हुए इन वचनोंसे मेरा यह मोह टल गया है! १

प्राणियोंकी उत्पत्ति और नाशके संबंधमें आपसे मैंने विस्तारपूर्वक सुना। हे कमलपत्राक्ष, उसी प्रकार आपका अविनाशी माहात्म्य भी सुना। २

हे परमेश्वर! आप जैसा अपनेको पहिचनवाते हैं वैसे ही हैं। हे पुरुषोत्तम! आपके उस ईश्वरी रूपके दर्शन करनेकी मुझे इच्छा होती है। ३

हे प्रभो! वह दर्शन करना मेरे लिए आप संभव मानते हैं तो हे योगेश्वर! उस अव्यय रूपका दर्शन कराइये। ४

श्रीभगवान बोले--

हे पार्थ ! मेरे सैकड़ों और हजारों रूप देख । वे नाना प्रकारके, दिव्य, भिन्न-भिन्न रंग और आकृति-वाले हैं । ५

हे भारत ! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, दो अश्विनी-कुमारों और मरुतोंको देख । पहले न देखे गये, ऐसे बहुतसे आश्चर्योंको तू देख । ६

हे गुडाकेश ! यहां मेरे शरीरमें एकरूपसे स्थित समूचा स्थावर और जंगम जगत तथा और जो कुछ तू देखना चाहता हो वह आज देख । ७

इन अपने चर्मचक्षुओंसे तू मुझे नहीं देख सकता । तुझे मैं दिव्य चक्षु देता हूं । तू मेरा ईश्वरीय योग देख । ८

संजयने कहा—

हे राजन् ! योगेश्वर कृष्णने ऐसा कहकर पार्थको अपना परम ईश्वरी रूप दिखलाया । ९

वह अनेक मुख और आंखोंवाला, अनेक अद्‌भुत दर्शनवाला, अनेक दिव्य आभूषणवाला और अनेक उठाये हुए दिव्य शस्त्रोंवाला था । १०

उसने अनेक दिव्य मालाएँ और वस्त्र धारण कर

रखे थे, उसके दिव्य सुगंधित लेप लगे हुए थे। ऐसा वह सर्वप्रकारसे आश्चर्यमय, अनंत, सर्वव्यापी देव था। ११

आकाशमें हजार सूर्योंका तेज एकसाथ प्रकाशित हो उठे तो वह तेज उस महात्माके तेज-जैसा कदाचित हो। १२

वहां इस देवाधिदेवके शरीरमें पांडवने अनेक प्रकारसे विभक्त हुआ समूचा जगत एक रूपमें विद्यमान देखा। १३

फिर आश्चर्यचकित और रोमांचित हुए धनंजय सिर झुका, हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले— १४

अर्जुन बोले—

हे देव ! आपकी देहमें मैं देवताओंको, भिन्न-भिन्न प्रकारके सब प्राणियोंके समुदायोंको, कमलासनपर विराजमान ईश ब्रह्माको, सब ऋषियोंको और दिव्य सर्पोंको देखता हूं। १५

आपको मैं अनेक हाथ, उदर, मुख और नेत्रयुक्त अनंत रूपवाला देखता हूं। आपका अंत नहीं है, न मध्य है, न आपका आदि है। हे विश्वेश्वर ! आपके विश्व-रूपका मैं दर्शन कर रहा हूँ। १६

मुकुटधारी, गदाधारी, चक्रधारी, तेजके पुंज, सर्वत्र

जगमगाती ज्योतिवाले, साथ ही कठिनाईसे दिखाई देनेवाले, अपरिमित और प्रज्वलित अग्नि किंवा सूर्यके समान सभी दिशाओंमें देदीप्यमान आपको मैं देख रहा हूं। १७

आपको मैं जाननेयोग्य परम अक्षररूप, इस जगतका अंतिम आधार, सनातन धर्मका अविनाशी रक्षक और सनातन पुरुष मानता हूं। १८

जिसका आदि, मध्य या अंत नहीं है, जिसकी शक्ति अनंत है, जिसके अनंत बाहु हैं, जिसके सूर्यचंद्ररूपी नेत्र हैं, जिसका मुख प्रज्वलित अग्निके समान है और जो अपने तेजसे इस जगतको तपा रहा है, ऐसे आपको मैं देख रहा हूं। १९

आकाश और पृथ्वीके बीचके इस अंतरमें और समस्त दिशाओंमें आप ही अकेले व्याप्त हो रहे हैं। हे महात्मन् ! यह आपका अद्भुत उग्ररूप देखकर तीनों लोक थरथराते हैं। २०

और यह देवोंका संघ आपमें प्रवेश कर रहा है। भयभीत हुए कितने ही हाथ जोड़कर आपका स्तवन कर रहे हैं। महर्षि और सिद्धोंका समुदाय '(जगतका) कल्याण हो' कहता हुआ अनेक प्रकारसे आपका यश गा रहा है। २१

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनी-कुमार, मरुत, गरम ही पीनेवाले पितर, गंधर्व, यक्ष असुर और सिद्धोंका संघ ये सभी विस्मित होकर आपको निरख रहे हैं। २२

हे महाबाहो! बहुत मुख और आंखोंवाला, बहुत हाथ, जंघा और पैरोंवाला, बहुत पेटोंवाला और बहुत दाढ़ोंके कारण विकराल दीखनेवाला विशाल रूप देखकर लोक व्याकुल हो गए हैं। वैसे ही मैं भी व्याकुल हो उठा हूं। २३

आकाशका स्पर्श करते, जगमगाते अनेक रंगोंवाले, खुले मुखवाले और विशाल तेजस्वी नेत्रवाले, आपको देखकर हे विष्णु! मेरा हृदय व्याकुल हो उठा है और मैं धैर्य या शांति नहीं रख सकता। २४

प्रलयकालके अग्निके समान और विकराल दाढ़ों-वाला आपका मुख देखकर न मुझे दिशाएं जान पड़ती हैं, न शांति मिलती है। हे देवेश! हे जगन्निवास! प्रसन्न होइए। २५

सब राजाओंके संघसहित, धृतराष्ट्रके ये पुत्र, भीष्म, द्रोणाचार्य, यह सूतपुत्र कर्ण और हमारे मुख्य योद्धा, विकराल दाढ़ोंवाले आपके भयानक मुखमें वेग-पूर्वक प्रवेश कर रहे हैं। कितनोंके ही सिर चूर होकर

आपके दांतोंके बीच में लगे हुए दिखाई देते हैं। २६-२७

जिस प्रकार नदियोंकी बड़ी धाराएं समुद्रकी ओर दौड़ती हैं उस प्रकार आपके धधकते हुए मुखमें ये लोकनायक प्रवेश कर रहे हैं। २८

जलते हुए दीपकमें जैसे पतंग बढ़ते हुए वेगसे पड़ते हैं, वैसे ही आपके मुखमें भी सब लोग बढ़ते हुए वेगसे प्रवेश कर रहे हैं। २९

सब लोकोंको सब ओरसे निगलकर आप अपने धधकते हुए मुखसे चाट रहे हैं। हे सर्वव्यापी विष्णु! आपका उग्र प्रकाश समूचे जगतको तेजसे पूरित कर रहा है और तपा रहा है। ३०

उग्ररूप आप कौन हैं सो मुझसे कहिए। हे देव-वर! आप प्रसन्न होइए। आप जो आदि कारण हैं उन्हें मैं जानना चाहता हूं। आपकी प्रवृत्ति मैं नहीं जानता। ३१

श्रीभगवान बोले—

लोकोंका नाश करनेवाला, बढ़ा हुआ मैं काल हूं। लोकोंका नाश करनेके लिए यहां आया हूं। प्रत्येक सेनामें जो ये सब योद्धा आये हुए हैं उनमेंसे कोई तेरे लड़नेसे इनकार करनेपर भी बचनेवाला नहीं है। ३२

इसलिए तू उठ खड़ा हो, कीर्ति प्राप्तकर, शत्रुको जीतकर धनधान्यसे भरा हुआ राज्य भोग। इन्हें मैंने पहलेसे ही मार रखा है। हे सव्यसाची! तू तो केवल निमित्तरूप बन। ३३

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्यान्य योद्धाओं-को मैं मार ही चुका हूं। उन्हें तू मार। डर मत, लड़। शत्रुको तू रणमें जीतनेको है। ३४

संजयने कहा—

केशवके ये वचन सुनकर हाथ जोड़े, कांपते, बारं-बार नमस्कार करते हुए, डरते-डरते प्रणाम करके मुकुटधारी अर्जुन श्रीकृष्णसे गद्गद् कंठसे इस प्रकार बोले। ३५

अर्जुन बोले—

हे हृषीकेश! आपका कीर्तन करके जगत को जो हर्ष होता है और आपके लिए जो अनुराग उत्पन्न होता है वह उचित ही है। भयभीत राक्षस इधर-उधर भाग रहे हैं और सिद्धोंका सारा समुदाय आपको नमस्कार कर रहा है। ३६

हे महात्मन्! वे आपको क्यों नमस्कार न करें? आप ब्रह्मासे भी बड़े आदिकर्ता हैं। हे अनंत, हे देवेश,

हे जगन्निवास ! आप अक्षर हैं, सत् हैं, असत् हैं और इससे जो परे है वह भी आप ही हैं। ३७

आप आदिदेव हैं। आप पुराण-पुरुष हैं। आप इस विश्वके परम आश्रयस्थान हैं। आप जाननेवाले हैं और जानने योग्य हैं। आप परमधाम हैं। हे अनंतरूप ! इस जगतमें आप व्याप्त हो रहे हैं। ३८

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चंद्र, प्रजापति, प्रपितामह आप ही हैं। आपको हजारों बार नमस्कार पहुंचे और फिर-फिर आपको नमस्कार पहुंचे। ३९

हे सर्व ! आपको आगे, पीछे, सब ओरसे नमस्कार है। आपका वीर्य अनंत है, आपकी शक्ति अपार है, सब आप ही धारण करते हैं, इसलिए आप सर्व हैं। ४०

मित्र जानकर और आपकी यह महिमा न जानकर हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखा ! इस प्रकार संबोधन कर मुझसे भूलमें या प्रेममें भी जो अविवेक हुआ हो और विनोदार्थ खेलते, सोते, बैठते या खाते अर्थात् सोहबतमें आपका जो कुछ अपमान हुआ हो उसे क्षमा करनेके लिए मैं आपसे प्रार्थना करता हूं। ४१-४२

स्थावरजंगम जगतके आप पिता हैं। आप उसके पूज्य और श्रेष्ठ गुरु हैं। आपके समान कोई नहीं है तो

आपसे अधिक तो कहांसे हो सकता है ? तीनों लोकमें आपके सामर्थ्यका जोड़ नहीं है। ४३

इसलिए साष्टांग नमस्कार करके आपसे, पूज्य ईश्वरसे प्रसन्न होनेकी प्रार्थना करता हूं। हे देव ! जिस तरह पिता पुत्रको, सखा सखाको सहन करता है वैसे आप मेरे प्रिय होनेके कारण मेरे कल्याणके लिए मुझे सहन करने योग्य हैं। ४४

पहले न देखा हुआ आपका ऐसा रूप देखकर मेरे रोएं खड़े हो गये हैं और भयसे मेरा मन व्याकुल हो गया है। इसलिए हे देव ! अपना पहलेका रूप दिखलाइए। हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइए। ४५

पूर्वकी भांति आपका—मुकुट, गदा, चक्रधारीका दर्शन करना चाहता हूं ! हे सहस्रबाहु ! हे विश्वमूर्ति ! अपना चतुर्भुजरूप धारण कीजिए। ४६

श्रीभगवान बोले—

हे अर्जुन ! तुझपर प्रसन्न होकर तुझे मैंने अपनी शक्तिसे अपना तेजोमय, विश्वव्यापी, अनंत, परम, आदिरूप दिखाया है। यह तेरे सिवा और किसीने पहले नहीं देखा है। ४७

हे कुरुप्रवीर ! वेदाभ्यास से, यज्ञसे, अन्यान्य शास्त्रोंके अध्ययनसे, दानसे, क्रियाओंसे, या उग्र तपोंसे तेरे सिवा दूसरा कोई यह मेरा रूप देखनेमें समर्थ नहीं है । ४८

यह मेरा विकराल रूप देखकर तू घबरा मत; मोहमें मत पड़ । डर छोड़कर शांतचित्त हो और यह मेरा परिचित रूप फिर देख । ४९

संजयने कहा—

यों वासुदेवने अर्जुनसे कहकर अपना रूप फिर दिखाया और फिर शांत मूर्ति धारण करके भयभीत अर्जुनको उस महात्माने आश्वासन दिया । ५०

अर्जुन बोले—

हे जनार्दन ! यह आपका सौम्य मानवस्वरूप देखकर अब मैं शांत हुआ हूं और ठिकाने आ गया हूं । ५१

श्रीभगवान बोले—

जो मेरा रूप तूने देखा उसके दर्शन बहुत दुर्लभ हैं । देवता भी वह रूप देखनेको तरसते रहते हैं । ५२

जो मेरे दर्शन तूने किये हैं वह दर्शन न वेदसे, न तपसे, न दानसे अथवा न यज्ञसे हो सकते हैं । ५३

परंतु हे अर्जुन ! हे परंतप ! मेरे संबंधमें ऐसा ज्ञान, ऐसे मेरे दर्शन और मुझमें वास्तविक प्रवेश केवल अनन्य भक्तिसे ही संभव है। ५४

हे पांडव ! जो सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्तिका त्याग करता है और प्राणीमात्रमें द्वेषरहित होकर रहता है, वह मुझे पाता है। ५५

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'विश्वरूपदर्शनयोग' नामक ग्यारहवां अध्याय।

: १२ :

भक्तियोग

पुरुषोत्तमके दर्शन अनन्यभक्तिसे ही होते हैं, भगवानके इस वचनके बाद तो भक्तिका स्वरूप ही सामने आना चाहिए। यह बारहवां अध्याय सबको कंठ कर लेना चाहिए। यह छोटे-से-छोटे अध्यायोंमें एक है। इसमें दिये हुए भक्तके लक्षण नित्य मनन करनेयोग्य हैं।

अर्जुन बोले—

इस प्रकार जो भक्त आपका निरंतर ध्यान धरते हुए आपकी उपासना करते हैं और जो आपके अविनाशी अव्यक्त स्वरूपका ध्यान धरते हैं, उनमेंसे कौन योगी श्रेष्ठ माना जायगा ? १

श्रीभगवान बोले—

नित्य ध्यान करते हुए, मुझमें मन लगाकर जो श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करता है उसे मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूं। २

सब इंद्रियोंको वशमें रखकर, सर्वत्र समत्वका पालन करके जो दृढ़, अचल, धीर, अचिंत्य, सर्वव्यापी, अव्यक्त, अवर्णनीय, अविनाशी स्वरूपकी उपासना करते हैं, वे सारे प्राणियोंके हितमें लगे हुए मुझे ही पाते हैं। ३-४

जिनका चित्त अव्यक्तमें लगा हुआ है उन्हें कष्ट अधिक है। अव्यक्त गतिको देहधारी कष्टसे ही पा सकता है। ५

टिप्पणी—देहधारी मनुष्य अमूर्त स्वरूपकी केवल कल्पना ही कर सकता है, पर उसके पास अमूर्त स्वरूप-के लिए एक भी निश्चयात्मक शब्द नहीं है, इसलिए

उसे निषेधात्मक 'नेति' शब्दसे संतोष करना ठहरा। इस दृष्टिसे मूर्तिपूजाका निषेध करनेवाले भी सूक्ष्म-रीतिसे विचारा जाय तो मूर्तिपूजक ही होते हैं। पुस्तककी पूजा करना, मंदिरमें जाकर पूजा करना, एक ही दिशामें मुख रखकर पूजा करना, ये सभी साकार पूजाके लक्षण हैं। तथापि साकारके उस पार निराकार अचिंत्य स्वरूप है, इतना तो सबके समझ लेनेमें ही निस्तार है। भक्तिकी पराकाष्ठा यह है कि भक्त भगवानमें विलीन हो जाय और अंतमें केवल एक अद्वितीय अरूपी भगवान ही रह जाय। पर इस स्थिति-को साकारद्वारा सुलभतासे पहुंचा जा सकता है, इसलिए निराकारको सीधे पहुंचनेका मार्ग कष्टसाध्य बतलाया है।

परंतु हे पार्थ! जो मुझमें परायण रहकर, सब कर्म मुझे समर्पण करके, एक निष्ठासे मेरा ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते हैं और मुझमें जिनका चित्त पिरोया हुआ है उन्हें मृत्युरूपी संसार-सागरसे मैं झटपट पार कर लेता हूं। ६-७

अपना मन मुझमें लगा, अपनी बुद्धि मुझमें रख, इससे इस (जन्म)के बाद निःसंशय मुझे ही पावेगा। ८

जो तू मुझमें अपना मन स्थिर करनेमें असमर्थ हो

तो हे धनंजय ! अभ्यासयोगद्वारा मुझे पानेकी इच्छा रखना । ९

ऐसा अभ्यास रखनेमें भी तू असमर्थ हो तो कर्म-मात्र मुझे अर्पण कर और इस प्रकार मेरे निमित्त कर्म करते-करते भी तू मोक्ष पावेगा । १०

और जो मेरे निमित्त कर्म करनेभरकी भी तेरी शक्ति न हो तो यत्नपूर्वक सब कर्मोंके फलका त्याग कर । ११

अभ्यासमार्गसे ज्ञानमार्ग श्रेयस्कर है । ज्ञानमार्गसे ध्यानमार्ग विशेष है और ध्यानमार्गसे कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि इस त्यागके अंतमें तुरंत शांति ही होती है । १२

टिप्पणी—अभ्यास अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोधकी साधना; ज्ञान अर्थात् श्रवण-मननादि; ध्यान अर्थात् उपासना । इनके फलस्वरूप यदि कर्मफलत्याग न दिखाई दे तो वह अभ्यास अभ्यास नहीं है, ज्ञान ज्ञान नहीं है और ध्यान ध्यान नहीं है ।

जो प्राणीमात्रके प्रति द्वेषरहित, सबका मित्र, दयावान, ममतारहित, अहंकाररहित, सुख-दुःखमें समान, क्षमावान, सदा संतोषी, योगयुक्त, इंद्रियनिग्रही और दृढ़निश्चयी है और मुझमें जिसने अपनी बुद्धि और

मन अर्पणकर दिया है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।
१३-१४

जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगोंसे उद्वेग नहीं पाता; जो हर्ष, क्रोध, ईर्ष्या, भय, उद्वेगसे मुक्त है, वह मुझे प्रिय है। १५

जो इच्छारहित है, पवित्र है, दक्ष (सावधान) है, तटस्थ है, चितारहित है, संकल्पमात्रका जिसने त्याग किया है वह मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है। १६

जिसे हर्ष नहीं होता, जो द्वेष नहीं करता, जो चिंता नहीं करता, जो आशाएं नहीं बांधता, जो शुभाशुभका त्याग करनेवाला है, वह भक्तिपरायण मुझे प्रिय है। १७

शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख—इन सबमें जो समतावान है, जिसने आसक्ति छोड़ दी है, जो निंदा और स्तुतिमें समान भावसे बर्तता है और मौन धारण करता है, चाहे जो मिले उससे जिसे संतोष है, जिसका कोई अपना निजी स्थान नहीं है, जो स्थिर चित्तवाला है, ऐसा मुनि भक्त मुझे प्रिय है। १८-१९

यह पवित्र अमृतरूप ज्ञान जो मुझमें परायण रहकर श्रद्धापूर्वक सेवन करते हैं वे मेरे अतिशय प्रिय भक्त हैं। २०

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'भक्तियोग' नामक बारहवां अध्याय ।

: १३ :

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

इस अध्यायमें शरीर और शरीरीका भेद बतलाया है ।

श्रीभगवान बोले—

हे कौंतेय ! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है और इसे जो जानता है उसे तत्त्वज्ञानी लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं । १

और हे भारत ! समस्त क्षेत्रों—शरीरों—में स्थित मुझको क्षेत्रज्ञ जान । मेरा मत है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदका ज्ञान ही ज्ञान है । २

यह क्षेत्र क्या है, कैसा है, कैसे विकारवाला है, कहांसे है और क्षेत्रज्ञ कौन है, उसकी शक्ति क्या है, यह मुझसे संक्षेपमें सुन । ३

विविध छंदोंमें, भिन्न-भिन्न प्रकारसे और उदा-

हरण युक्तियोंद्वारा, निश्चययुक्त ब्रह्मसूचक वाक्योंमें ऋषियोंने इस विषयको बहुत गाया है। ४

महाभूत, अहंता, बुद्धि, प्रकृति, दस इंद्रियां, एक मन, पांच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतनशक्ति, धृति—यह अपने विकारोंसहित क्षेत्र संक्षेपमें कहा है। ५-६

टिप्पणी—महाभूत पांच हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। अहंकार अर्थात् शरीरके प्रति विद्यमान अहंता, अहंपना। अव्यक्त अर्थात् अदृश्य रहनेवाली माया, प्रकृति। दस इंद्रियोंमें पांच ज्ञानेंद्रियां—नाक, कान, आंख, जीभ और चाम, तथा पांच कर्मेंद्रियां—हाथ, पैर, मुंह और दो गुह्येंद्रियां। पांच गोचर अर्थात् पांच ज्ञानेंद्रियोंके पांच विषय—सूंघना, सुनना, देखना, चखना और छूना। संघात अर्थात् शरीरके तत्त्वोंकी परस्पर सहयोग करनेकी शक्ति। धृति अर्थात् धैर्यरूपी सूक्ष्म गुण नहीं, किंतु इस शरीरके परमाणुओंका एक दूसरेसे सटे रहनेका गुण। यह गुण अहंभावके कारण ही संभव है और यह अहंता अव्यक्त प्रकृतिमें विद्यमान है। मोहरहित मनुष्य इस अहंताका ज्ञानपूर्वक त्याग करता है और इस कारण मृत्युके समय या दूसरे आघातोंसे वह दुःख नहीं पाता।

ज्ञानी-अज्ञानी सबको, अंतमें तो, इस विकारी क्षेत्रका त्याग किये ही निस्तार है ।

अमानित्व, अदंभित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्यकी सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्मसंयम, इंद्रियोंके विषयोंमें वैराग्य, अहंकाररहितता, जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुःख और दोषोंका निरंतर भान, पुत्र, स्त्री और गृह आदिमें मोह तथा ममताका अभाव, प्रिय और अप्रियमें नित्य समभाव, मुझमें अनन्य ध्यानपूर्वक एकनिष्ठ भक्ति, एकांत स्थानका सेवन, जनसमूहमें सम्मिलित होनेकी अरुचि, आध्यात्मिक ज्ञानकी नित्यता-का भान और आत्मदर्शन—यह सब ज्ञान कहलाता है। इससे जो उलटा है वह अज्ञान है । ७-८-९-१०-११

जिसे जाननेवाले मोक्ष पाते हैं वह ज्ञेय क्या है, सो तुझसे कहूंगा । वह अनादि परब्रह्म है, वह न सत् कहा जा सकता है न असत् कहा जा सकता है । १२

टिप्पणी—परमेश्वरको सत् या असत् भी नहीं कहा जा सकता। किसी एक शब्दसे उसकी व्याख्या या परिचय नहीं हो सकता, ऐसा वह गुणातीत स्वरूप है।

जहां देखो वहीं उसके हाथ, पैर, आंखें, सिर, मुंह और कान हैं। सर्वत्र व्याप्त होकर वह इस लोकमें विद्यमान है । १३

सब इंद्रियोंके गुणोंका आभास उसमें मिलता है तो भी वह स्वरूप इंद्रियरहित और सबसे अलिप्त है, तथापि सबको धारण करनेवाला है। वह गुणरहित होनेपर भी गुणोंका भोक्ता है। १४

वह भूतोंके बाहर है और अंदर भी है। वह गतिमान है और स्थिर भी है। सूक्ष्म होनेके कारण वह अविज्ञेय है। वह दूर है और समीप भी है। १५

टिप्पणी—जो उसे पहचानता है वह उसके अंदर है। गति और स्थिरता, शांति और अशांति हम लोग अनुभव करते हैं और सब भाव उसीमेंसे उत्पन्न होते हैं, इसलिए वह गतिमान और स्थिर है।

भूतोंमें वह अविभक्त है और विभक्त-सरीखा भी विद्यमान है। वह जाननेयोग्य (ब्रह्म) प्राणियोंका पालक, नाशक और कर्ता है। १६

ज्योतियोंकी भी वह ज्योति है, अंधकारसे वह पर कहा जाता है। ज्ञान वही है, जाननेयोग्य वही है और ज्ञानसे जो प्राप्त होता है वह भी वही है। वह सबके हृदयमें मौजूद है। १७

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयके विषयमें मैंने संक्षेपमें बतलाया। इसे जानकर मेरा भक्त मेरे भावको पाने योग्य बनता है। १८

प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि जान । विकार और गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ जान । १९

कार्य और कारणकाहेतु प्रकृति कही जाती है और पुरुष सुख-दुःखके भोगमें हेतु कहा जाता है । २०

प्रकृतिमें रहनेवाला पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंको भोगता है और यह गुणसंग भली-बुरी योनिमें उसके जन्मका कारण बनता है । २१

टिप्पणी—प्रकृतिको हम लोग लौकिक भाषामें मायाके नामसे पुकारते हैं । पुरुष जीव है । माया अर्थात् मूलस्वभावके वशीभूत हो जीव सत्त्व, रजस् या तमस्से होनेवाले कार्योंका फल भोगता है और इससे कर्मानुसार पुनर्जन्म पाता है ।

इस देहमें स्थित जो परमपुरुष है वह सर्वसाक्षी, अनुमति देनेवाला, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी कहलाता है । २२

जो मनुष्य इस प्रकार पुरुष और गुणमयी प्रकृतिको जानता है, वह सब प्रकारसे कार्य करता हुआ भी फिर जन्म नहीं पाता । २३

टिप्पणी—२, ९, १२ और अन्यान्य अध्यायोंकी सहायतासे हम जान सकते हैं कि यह श्लोक स्वेच्छाचारका समर्थन करनेवाला नहीं है, बल्कि भक्तिकी महिमा

बतलानेवाला है। कर्ममात्र जीवके लिए बंधनकर्ता हैं, किंतु यदि वह सब कर्म परमात्माको अर्पण कर दे तो वह बंधनमुक्त हो जाता है और इस प्रकार जिसमेंसे कर्तृत्वरूपी अहंभाव नष्ट हो गया है और जो अंतर्यामीको चौबीसों घंटे पहचान रहा है वह पापकर्म कर ही नहीं सकता। पापका मूल ही अभिमान है। जहां 'मैं' नहीं है वहां पाप नहीं है। यह श्लोक पापकर्म न करनेकी युक्ति बतलाता है।

कोई ध्यानमार्गसे आत्माद्वारा आत्माको अपनेमें देखता है; कितने ही ज्ञानमार्गसे और दूसरे कितने ही कर्ममार्गसे। २४

और कोई इन मार्गोंको न जाननेके कारण दूसरोंसे परमात्माके विषयमें सुनकर, सुने हुएपर श्रद्धा रखकर और उसमें परायण रहकर उपासना करते हैं और वे भी मृत्युको तर जाते हैं। २५

जो कुछ चर या अचर वस्तु उत्पन्न होती है वह हे भरतर्षभ! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अर्थात् प्रकृति और पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुई जान। २६

समस्त नाशवान प्राणियोंमें अविनाशी परमेश्वरको समभावसे मौजूद जो जानता है वही उसका जाननेवाला है। २७

जो मनुष्य ईश्वरको सर्वत्र समभावसे अवस्थित देखता है वह अपने-आपका घात नहीं करता और इससे परमगतिको पाता है। २८

टिप्पणी—समभावसे अवस्थित ईश्वरको देखनेवाला आप उसमें विलीन हो जाता है और अन्य कुछ नहीं देखता। इसलिए विकारवश न होकर मोक्ष पाता है, अपना शत्रु नहीं बनता।

सर्वत्र प्रकृति ही कर्म करती है ऐसा जो समझता है और इसीलिए आत्माको अकर्तारूप जानता है वही जानता है। २९

टिप्पणी—कैसे, जैसे कि सोते हुए मनुष्यका आत्मा निद्राका कर्ता नहीं है, किंतु प्रकृति निद्राका कर्म करती है। निर्विकार मनुष्यके नेत्र कोई गंदगी नहीं देखते। प्रकृति व्यभिचारिणी नहीं है। अभिमानी पुरुष जब उसका स्वामी बनता है तब उस मिलापमेंसे विषय-विकार उत्पन्न होते हैं।

जब वह जीवोंका अस्तित्व पृथक् होनेपर भी एकमें ही स्थित देखता है और इसीलिए सारे विस्तारको उसीसे उत्पन्न हुआ समझता है तब वह ब्रह्मको पाता है। ३०

टिप्पणी—अनुभवसे सब कुछ ब्रह्ममें ही देखना

ब्रह्मको प्राप्त करना है। उस समय जीव शिवसे भिन्न नहीं रह जाता।

हे कौंतेय ! यह अविनाशी परमात्मा अनादि और निर्गुण होनेके कारण शरीरमें रहता हुआ भी न कुछ करता और न किसीसे लिप्त होता है। ३१

जिस प्रकार सूक्ष्म होनेके कारण सर्वव्यापी आकाश लिप्त नहीं होता, वैसे सब देहमें रहनेवाला आत्मा लिप्त नहीं होता। ३२

जैसे एक ही सूर्य इस समूचे जगतको प्रकाश देता है, वैसे हे भारत ! क्षेत्री समूचे क्षेत्रको प्रकाशित करता है। ३३

जो ज्ञानचक्षुद्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भेद और प्रकृतिके बंधनसे प्राणियोंकी मुक्ति कैसे होती है यह जानता है वह ब्रह्मको पाता है। ३४

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग' नामक तेरहवां अध्याय।

: १४ :

गुणत्रयविभागयोग

गुणमयी प्रकृतिका थोड़ा परिचय करानेके बाद स्वभावतः तीनों गुणोंका वर्णन इस अध्यायमें आता है और यह करते हुए गुणातीतके लक्षण भगवान गिनाते हैं। दूसरे अध्यायमें जो लक्षण स्थितप्रज्ञके दिखाई देते हैं, बारहवेंमें जो भक्तके दिखाई देते हैं, वैसे इसमें गुणातीतके हैं।

श्रीभगवान बोले—

ज्ञानोंमें जिस उत्तम ज्ञानका अनुभव करके सब मुनियोंने यह शरीर छोड़नेपर परम गति पाई है वह मैं तुझसे फिर कहूंगा। १

इस ज्ञानका आश्रय लेकर जिन्होंने मेरे भावको प्राप्त किया है उन्हें उत्पत्तिकालमें जन्मना नहीं पड़ता और प्रलयकालमें व्यथा भोगनी नहीं पड़ती। २

हे भारत! महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है। उसमें मैं गर्भाधान करता हूं और उससे प्राणीमात्रकी उत्पत्ति होती है। ३

हे कौंतेय! सब योनियोंमें जिन-जिन प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है उनकी उत्पत्तिका स्थान मेरी प्रकृति

है और उसमें बीजारोपण करनेवाला पिता—पुरुष—
मैं हूं। ४

हे महाबाहो! सत्त्व, रजस् और तमस् प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुण हैं। वे अविनाशी देहधारी—जीव—को देहके संबंधमें बांधते हैं। ५

इनमें सत्त्वगुण निर्मल होनेके कारण प्रकाशक और आरोग्यकर है, और हे अनघ! वह देहीको सुखके और ज्ञानके संबंधमें बांधता है। ६

हे कौंतेय! रजोगुण रागरूप होनेसे तृष्णा और आसक्तिका मूल है, वह देहधारीको कर्मपाशमें बांधता है। ७

हे भारत! तमोगुण अज्ञानमूलक है। वह देहधारीमात्रको मोहमें डालता है और वह देहीको असावधानी, आलस्य तथा निद्राके पाशमें बांधता है। ८

हे भारत! सत्त्व आत्माको शांतिसुखका संग कराता है, रजस् कर्मका और तमस् ज्ञानको ढककर प्रमादका संग कराता है। ९

हे भारत! जब रजस् और तमस् दबते हैं तब सत्त्व ऊपर आता है; सत्त्व और तमस् दबते हैं तब रजस् और सत्त्व तथा रजस् दबते हैं तब तमस् उभरता है। १०

सब इंद्रियोंद्वारा इस देहमें जब प्रकाश और ज्ञानका उद्‌भव होता है तब सत्त्वगुणकी वृद्धि हुई है ऐसा जानना चाहिए । ११

हे भरतर्षभ ! जब रजोगुणकी वृद्धि होती है तब लोभ प्रवृत्ति, कर्मोंका आरंभ, अशांति और इच्छाका उदय होता है । १२

हे कुरुनंदन ! जब तमोगुणकी वृद्धि होती है तब अज्ञान, मंदता, असावधानी और मोह उत्पन्न होता है । १३

सत्त्वगुणकी वृद्धि हुई होनेपर देहधारी मरता है तो वह उत्तम ज्ञानियोंके निर्मल लोकको पाता है । १४

रजोगुणमें मृत्यु होनेपर देहधारी कर्मसंगीके लोकमें जन्मता है और तमोगुणमें मृत्यु पानेवाला मूढ़योनिमें जन्मता है । १५

टिप्पणी—कर्मसंगीसे तात्पर्य है मनुष्यलोक और मूढ़योनिसे तात्पर्य है पशु इत्यादि लोक ।

सत्कर्मका फल सात्त्विक और निर्मल होता है । राजसी कर्मका फल दुःख होता है और तामसी कर्मका फल अज्ञान होता है । १६

टिप्पणी—जिसे हम लोग सुख-दुःख मानते हैं यहां उस सुख-दुःखका उल्लेख नहीं समझना चाहिए । सुखसे

मतलब है आत्मानंद, आत्मप्रकाश। इससे जो उलटा है वह दुःख है। १७वें श्लोकमें यह स्पष्ट हो जाता है।

सत्त्वगुणमेंसे ज्ञान उत्पन्न होता है। रजोगुणमेंसे लोभ और तमोगुणमेंसे असावधानी, मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है। १७

सात्त्विक मनुष्य ऊंचे चढ़ते हैं, राजसी मध्यमें रहते हैं और अंतिम गुणवाले तामसी अधोगति पाते हैं। १८

ज्ञानी जब ऐसा देखता है कि गुणोंके सिवा और कोई कर्ता नहीं है और जो गुणोंसे पर है उसे जानता है तब वह मेरे भावको पाता है। १९

टिप्पणी—गुणोंको कर्ता माननेवालेको अहंभाव होता ही नहीं। इससे उसके सब काम स्वाभाविक और शरीरयात्राभरके लिए होते हैं। और शरीरयात्रा परमार्थके लिए ही होती है, इसलिए उसके सारे कामोंमें निरंतर त्याग और वैराग्य होना चाहिए। ऐसा ज्ञानी स्वभावतः गुणोंसे परे निर्गुण ईश्वरकी भावना करता और उसे भजता है।

देहके संगसे उत्पन्न होनेवाले इन तीन गुणोंको पार करके देहधारी जन्म, मृत्यु और जराके दुःखसे छूट जाता है और मोक्ष पाता है। २०

अर्जुन बोले—

हे प्रभो ! इन गुणोंको तर जानेवाला किन लक्षणोंसे पहचाना जाता है ? उसके आचार क्या होते हैं ? और वह तीनों गुणोंको किस प्रकार पार करता है ? २१

श्रीभगवान बोले—

हे पांडव ! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होनेपर जो दु:ख नहीं मानता और इनके प्राप्त न होनेपर इनकी इच्छा नहीं करता, उदासीनकी भांति जो स्थिर है, जिसे गुण विचलित नहीं करते, गुण ही अपना काम कर रहे हैं यह मानकर जो स्थिर रहता है और विचलित नहीं होता, जो सुखदु:खमें सम रहता है, स्वस्थ रहता है, मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेको समान समझता है, प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु प्राप्त होनेपर एक समान रहता है, ऐसा बुद्धिमान जिसे अपनी निंदा या स्तुति समान है, जिसे मान और अपमान समान है, जो मित्रपक्ष और शत्रुपक्षमें समानभाव रखता है और जिसने समस्त आरंभोंका त्याग कर दिया है, वह गुणातीत कहलाता है । २२-२३-२४-२५

टिप्पणी—२२ से २५ तकके श्लोक एकसाथ विचारने योग्य हैं। प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह पिछले श्लोक-

में कहे अनुसार क्रमसे सत्त्व, रजस् और तमस्के परिणाम अथवा चिह्न हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि जो गुणोंको पार कर गया है उसपर उस परिणामका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पत्थर प्रकाशकी इच्छा नहीं करता, न प्रवृत्ति या जड़ताका द्वेष करता है। उसे बिना चाहे शांति है, उसे कोई गति देता है तो वह उसका द्वेष नहीं करता। गति देनेके बाद उसे ठहरा करके रख देता है तो इससे, प्रवृत्ति—गति बंद हो गई, मोह—जड़ता प्राप्त हुई, ऐसा सोचकर वह दुःखी नहीं होता, वरन् तीनों स्थितियोंमें वह एक समान बर्तता है। पत्थर और गुणातीतमें अंतर यह है कि गुणातीत चेतनमय है और उसने ज्ञानपूर्वक गुणोंके परिणामोंका—स्पर्शका त्याग किया है और जड़—पत्थर-सा बन गया है। पत्थर गुणोंका अर्थात् प्रकृतिके कार्योंका साक्षी है, पर कर्ता नहीं है, वैसे ज्ञानी उसका साक्षी रहता है, कर्ता नहीं रह जाता। ऐसे ज्ञानीके संबंधमें यह कल्पना की जा सकती है कि वह २३वें श्लोकके कथनानुसार 'गुण अपना काम किया करते हैं' यह मानता हुआ विचलित नहीं होता और अचल रहता है, उदासीन-सा रहता है—अडिग रहता है। यह स्थिति गुणोंमें तन्मय हुए हम लोग धैर्यपूर्वक केवल

कल्पना करके समझ सकते हैं, अनुभव नहीं कर सकते। परंतु उस कल्पनाको दृष्टिमें रखकर हम 'मैं' पनेको दिन-दिन घटाते जायं तो अंतमें गुणातीतकी अवस्थाके समीप पहुंचकर उसकी झांकी कर सकते हैं। गुणातीत अपनी स्थितिका अनुभव करता है, वर्णन नहीं कर सकता। जो वर्णन कर सकता है वह गुणातीत नहीं है, क्योंकि उसमें अहंभाव मौजूद है। जिसे सब लोग सहजमें अनुभव कर सकते हैं वह शांति, प्रकाश, 'धांधल'——प्रवृत्ति और जड़ता——मोह है। गीतामें स्थान-स्थानपर इसे स्पष्ट किया है कि सात्त्विकता गुणातीतके समीप-से-समीपकी स्थिति है। इसलिए मनुष्यमात्रका प्रयत्न सत्त्वगुणके विकास करनेका है। यह विश्वास रखे कि उसे गुणातीतता अवश्य प्राप्त होगी।

जो एकनिष्ठ भक्तियोगद्वारा मुझे सेता है वह इन गुणोंको पार करके ब्रह्मरूप बननेयोग्य होता है। २६

और ब्रह्मकी स्थिति मैं ही हूं, शाश्वत मोक्षकी स्थिति मैं हूं। वैसे ही सनातन धर्मकी और उत्तम सुखकी स्थिति भी मैं ही हूं।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-

विद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'गुण-त्रयविभागयोग' नामक चौदहवां अध्याय ।

: १५ :

पुरुषोत्तमयोग

भगवानने इस अध्यायमें क्षर और अक्षरसे परे अपना उत्तम स्वरूप समझाया है ।

श्रीभगवान बोले—

जिसका मूल ऊंचे है, जिसकी शाखा नीचे है और वेद जिसके पत्ते हैं, ऐसे अविनाशी अश्वत्थ वृक्षका बुद्धिमान लोगोंने वर्णन किया है, इसे जो जानते हैं वे वेदके जाननेवाले ज्ञानी हैं । १

टिप्पणी—'श्वः'का अर्थ है आनेवाला कल । इसलिए अश्वत्थका मतलब है आगामी कलतक न टिकनेवाला क्षणिक संसार । संसारका प्रतिक्षण रूपांतर हुआ करता है इससे वह अश्वत्थ है; परंतु ऐसी स्थितिमें वह सदा रहनेवाला होनेके कारण तथा उसका मूल ऊर्ध्व अर्थात् ईश्वर है, इस कारण वह अविनाशी है । उसमें यदि वेद अर्थात् धर्मके शुद्ध ज्ञानरूपी पत्ते

न हों तो वह शोभा नहीं दे सकता । इस प्रकार संसार-का यथार्थ ज्ञान जिसे है और जो धर्मको जाननेवाला है वह ज्ञानी है ।

गुणोंके स्पर्शद्वारा बढ़ी हुई और विषयरूपी कोपलों-वाली उस अश्वत्थकी डालियां नीचे-ऊपर फैली हुई हैं; कर्मोंका बंधन करनेवाली उसकी जड़ें मनुष्यलोकमें नीचे फैली हुई हैं । २

टिप्पणी—यह संसारवृक्षका अज्ञानीकी दृष्टिवाला वर्णन है । उसके ऊंचे ईश्वरमें रहनेवाले मूलको वह नहीं देखता, बल्कि विषयोंकी रमणीयतापर मुग्ध रह-कर, तीनों गुणोंद्वारा इस वृक्षका पोषण करता है और मनुष्यलोकमें कर्मपाशमें बंधा हुआ रहता है ।

उसका यथार्थ स्वरूप देखनेमें नहीं आता । उसका अंत नहीं है, आदि नहीं है, नींव नहीं है । खूब गहराई-तक गई हुई जड़ोंवाले इस अश्वत्थवृक्षको असंगरूपी बलवान शस्त्रसे काटकर मनुष्य यह प्रार्थना करे —
'जिसने सनातन प्रवृत्ति—माया—को फैलाया है उस आदि पुरुषकी मैं शरण जाता हूं ।' और उस पदको खोजे जिसे पानेवालेको पुनः जन्ममरणके फेरमें पड़ना नहीं पड़ता । ३-४

टिप्पणी—असंगसे मतलब है असहयोग, वैराग्य ।

जबतक मनुष्य विषयोंसे असहयोग न करे, उनके प्रलोभनोंसे दूर न रहे तबतक वह उनमें फंसता ही रहेगा। इस श्लोकका आशय यह है कि विषयोंके साथ खेल खेलना और उनसे अछूते रहना यह अनहोनी बात है।

जिसने मान-मोहका त्याग किया है, जिसने आसक्तिसे होनेवाले दोषोंको दूर किया है, जो आत्मामें नित्य निमग्न है, जिसके विषय शांत हो गये हैं, जो सुखदुःखरूपी द्वंद्वोंसे मुक्त है वह ज्ञानी अविनाशी पदको पाता है। ५

वहां सूर्यको, चंद्रको या अग्निको प्रकाश नही देना पड़ता। जहां जानेवालेको फिर जन्मना नहीं पड़ता, वह मेरा परमधाम है। ६

मेरा ही सनातन अंश जीवलोकमें जीव होकर प्रकृतिमें रहनेवाली पांच इंद्रियोंको और मनको आकर्षित करता है। ७

(जीव बना हुआ यह मेरा अंशरूपी) ईश्वर जब शरीर धारण करता है या छोड़ता है तब यह उसी तरह (मनके साथ इंद्रियोंको) साथ ले जाता है जैसे वायु आसपासके मंडलमेंसे गंध ले जाता है। ८

और वह कान, आंख, त्वचा, जीभ, नाक और मनका आश्रय लेकर विषयोंका सेवन करता है। ९

टिप्पणी—यहां 'विषय' शब्दका अर्थ बीभत्स विलास नहीं है, बल्कि प्रत्येक इंद्रियकी स्वाभाविक क्रिया है, जैसे आंखका विषय है देखना, कानका सुनना, जीभका चखना। ये क्रियाएं जब विकारवाली, अहंभाव वाली होती हैं तब दूषित—बीभत्स ठहरती हैं। जब निर्विकार होती हैं तब वे निर्दोष हैं। बच्चा आंखसे देखता या हाथसे छूता हुआ विकार नहीं पाता, इसलिए नीचेके श्लोकमें कहते हैं—

(शरीरका) त्याग करनेवाले या उसमें रहनेवाले अथवा गुणोंका आश्रय लेकर भोग भोगनेवालेको (इस अंशरूपी ईश्वरको), मूर्ख नहीं देखते, किंतु दिव्यचक्षु ज्ञानी देखते हैं। १०

यत्न करते हुए योगीजन अपनेमें स्थित (इस ईश्वर)को देखते हैं। जिन्होंने आत्म-शुद्धि नहीं की है, ऐसे मूढ़जन यत्न करते हुए भी इसे नहीं पहचानते। ११

टिप्पणी—इसमें और नवें अध्यायमें दुराचारीको भगवानने जो वचन दिया है उसमें विरोध नहीं है। अकृतात्मासे तात्पर्य है भक्तिहीन। स्वेच्छाचारी, दुराचारी जो नम्रतापूर्वक श्रद्धासे ईश्वरको भजता है वह आत्मशुद्ध हो जाता है और ईश्वरको पहचानता है।

जो यम-नियमादिकी परवाह न कर केवल बुद्धिप्रयोगसे ईश्वरको पहचानना चाहते हैं, वे अचेता—चित्तसे रहित, रामसे रहित, रामको नहीं पहचान सकते ।

सूर्यमें विद्यमान जो तेज समूचे जगतको प्रकाशित करता है और जो तेज चंद्रमें तथा अग्निमें विद्यमान है, वह मेरा है, ऐसा जान । १२

पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे मैं प्राणियोंको धारण करता हूं और रसोंको उत्पन्न करनेवाला चंद्र बनकर समस्त वनस्पतियोंका पोषण करता हूं । १३

प्राणियोंके शरीरका आश्रय लेकर जठराग्नि होकर प्राण और अपान वायुद्वारा मैं चार प्रकारका अन्न पचाता हूं । १४

सबके हृदयोंमें अधिष्ठित मेरेद्वारा स्मृति, ज्ञान और उनका अभाव होता है । समस्त वेदोंद्वारा जानने योग्य मैं ही हूं, वेदोंका जाननेवाला मैं हूं, वेदांतका प्रकट करनेवाला भी मैं ही हूं । १५

इस लोकमें क्षर अर्थात् नाशवान और अक्षर अर्थात् अविनाशी दो पुरुष हैं । भूतमात्र क्षर हैं और उनमें जो स्थिर रहनेवाला अंतर्यामी है वह अक्षर कहलाता है । १६

इसके सिवा उत्तम पुरुष और है । वह परमात्मा

कहलाता है। यह अव्यय ईश्वर तीनों लोकमें प्रवेश करके उनका पोषण करता है। १७

क्योंकि मैं क्षरसे पर और अक्षरसे भी उत्तम हूं, इसलिए वेदों और लोकोंमें पुरुषोत्तम नामसे प्रख्यात हूं। १८

हे भारत ! मोहरहित होकर मुझ पुरुषोत्तमको इस प्रकार जो जानता है वह सब जानता है और मुझे पूर्णभावसे भजता है। १९

हे अनघ ! यह गुह्य-से-गुह्य शास्त्र मैंने तुझसे कहा। हे भारत ! इसे जानकर मनुष्यको चाहिए कि वह बुद्धिमान बने और अपना जीवन सफल करे। २०

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'पुरुषोत्तमयोग' नामक पंद्रहवां अध्याय।

: १६ :

दैवासुरसंपद्विभागयोग

इस अध्यायमें दैवी और आसुरी संपद्का वर्णन है।

श्रीभगवान बोले—

हे भारत ! अभय, अंतःकरणकी शुद्धि, ज्ञान और योगमें निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, अपैशुन, भूतदया, अलोलुपता, मृदुता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, निरभिमान—इतने गुण उसमें होते हैं जो दैवी संपत्को लेकर जन्मा है। १-२-३

टिप्पणी—दम अर्थात् इंद्रियनिग्रह, अपैशुन अर्थात् किसीकी चुगली न खाना, अलोलुपता अर्थात् लालसा न रखना—लंपट न होना, तेज अर्थात् प्रत्येक प्रकारकी हीन वृत्तिका विरोध करनेका जोश, अद्रोह अर्थात् किसीका बुरा न चाहना या करना।

दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान, हे पार्थ ! इतने आसुरी संपत् लेकर जन्मनेवालोंमें होते हैं। ४

टिप्पणी—जो अपनेमें नहीं है वह दिखाना दंभ है, ढोंग है, पाखंड है। दर्प यानी बड़ाई, पारुष्यका अर्थ है कठोरता।

दैवी संपत् मोक्ष देनेवाली और आसुरी (संपत्) बंधनमें डालनेवाली मानी गई है। हे पांडव ! तू विषाद मत कर। तू दैवी संपत् लेकर जन्मा है। ५

इस लोकमें दो प्रकारकी सृष्टि है—दैवी और आसुरी। हे पार्थ ! दैवीका विस्तारसे वर्णन किया गया। आसुरीका (अब) सुन। ६

आसुर लोग यह नहीं जानते कि प्रवृत्ति क्या है, निवृत्ति क्या है। वैसे ही उन्हें शौचका, आचारका और सत्यका भान नहीं है। ७

वे कहते हैं, जगत असत्य निराधार और ईश्वर-रहित है। केवल नर-मादाके संबंधसे हुआ है। उसमें विषय-भोगके सिवा और क्या हेतु हो सकता है ? ८

भयंकर काम करनेवाले, मंदमति, दुष्टगण इस अभिप्रायको पकड़े हुए जगतके शत्रु, उसके नाशके लिए उत्पन्न होते हैं। ९

तृप्त न होनेवाली कामनाओंसे भरपूर, दंभी, मानी, मदांध, अशुभ निश्चयवाले मोहसे दुष्ट इच्छाएं ग्रहण करके प्रवृत्त होते हैं। १०

प्रलयपर्यंत अंत ही न होनेवाली ऐसी अपरिमित चिंताका आश्रय लेकर, कामोंके परमभोगी, 'भोग ही सर्वस्व है', ऐसा निश्चय करनेवाले, सैकड़ों आशाओंके जालमें फंसे हुए, कामी, क्रोधी, विषयभोगके लिए अन्यायपूर्वक धन-संचयकी चाह रखते हैं। ११-१२

आज मैंने यह पाया, यह मनोरथ (अब) पूरा

करूंगा; इतना धन मेरे पास है, फिर कल इतना और मेरा हो जायगा; इस शत्रुको तो मारा, दूसरेको भी मारूंगा; मैं सर्वसंपन्न हूं, भोगी हूं, सिद्ध हूं, बलवान हूं, सुखी हूं; मैं श्रीमान् हूं, कुलीन हूं, मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, मौज करूंगा,— अज्ञानसे मूढ़ हुए लोग ऐसा मानते हैं और अनेक भ्रांतियोंमें पड़े, मोहजालमें फंसे, विषयभोगमें मस्त हुए अशुभ नरकमें गिरते हैं। १३-१४-१५-१६

अपनेको बड़ा माननेवाले, अकड़बाज, धन तथा मान के मदमें मस्त हुए (ये लोग) दंभ से और विधि-रहित नाममात्रके ही यज्ञ करते हैं। १७

अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोधका आश्रय लेनेवाले, निंदा करनेवाले और उनमें तथा दूसरोंमें रहनेवाला जो मैं, उसका वे द्वेष करनेवाले हैं। १८

इन नीच, द्वेषी, क्रूर अमंगल नराधमोंको मैं इस संसारकी अत्यंत आसुरी योनिमें ही बारंबार डालता हूं। १९

हे कौंतेय ! जन्म-जन्म आसुरी योनिको पाकर और मुझे न पानेसे ये मूढ़ लोग इससे भी अधिक अधम गति पाते हैं। २०

आत्माका नाश करनेवाले नरकके ये त्रिविध द्वार

हैं—काम, क्रोध और लोभ। इसलिए इन तीनका मनुष्यको त्याग करना चाहिए। २१

हे कौंतेय! इस त्रिविध नरकद्वारसे दूर रहनेवाला मनुष्य आत्माके कल्याणका आचरण करता है और इससे परम गतिको पाता है। २२

जो मनुष्य शास्त्रविधिको छोड़कर स्वेच्छासे भोगोंमें लीन होता है वह न सिद्धि पाता है, न सुख पाता है, न परमगति पाता है। २३

टिप्पणी—शास्त्रविधिका अर्थ धर्मके नामसे माने जानेवाले ग्रंथोंमें बतलाई हुई अनेक क्रियाएं नहीं, बल्कि अनुभव-ज्ञानवाले सत्पुरुषोंका अनुभव किया हुआ संयम मार्ग है।

इसलिए कार्य और अकार्यका निर्णय करनेमें तुझे शास्त्रको प्रमाण मानना चाहिए। शास्त्रविधि क्या है, यह जानकर यहां तुझे कर्म करना उचित है। २४

टिप्पणी—जो ऊपर बतलाया जा चुका है, शास्त्रका वही अर्थ यहां भी है। सबको निज-निजके नियम बनाकर स्वेच्छाचारी न बनना चाहिए, बल्कि धर्मके अनुभवीके वाक्यको प्रमाण मानना चाहिए, यह इस श्लोकका आशय है।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-विद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'दैवासुर-संपदविभागयोग' नामक सोलहवां अध्याय ।

: १७ :

श्रद्धात्रयविभागयोग

शास्त्र अर्थात् शिष्टाचारको प्रमाण मानना चाहिए, यह सुनकर अर्जुनको शंका हुई कि जो शिष्टाचारको न मान सके; पर श्रद्धापूर्वक आचरण करे उसकी कैसी गति होती है। इस अध्यायमें इसका उत्तर देनेका प्रयत्न है; परंतु शिष्टाचाररूपी दीपस्तंभ छोड़ देनेके बादकी श्रद्धामें भयोंकी संभावना बतलाकर भगवानने संतोष माना है। इसलिए श्रद्धा और उसके आधारपर होनेवाले यज्ञ, तप, दान आदिके गुणानुसार तीन भाग करके दिखाये हैं और 'ॐ तत्सत्' की महिमा गाई है।

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! शास्त्रविधि अर्थात् शिष्टाचारकी परवा न कर जो केवल श्रद्धासे ही पूजादि करते हैं उनकी गति कैसी होती है ?—सात्त्विक, राजसी वा तामसी ? १

श्रीभगवान बोले—

मनुष्यमें स्वभावसे ही तीन प्रकारकी श्रद्धा अर्थात् सात्त्विक, राजसी और तामसी होती है, वह तू सुन। २

हे भारत ! सबकी श्रद्धा अपने स्वभावका अनुसरण करती है। मनुष्यमें कुछ-न-कुछ श्रद्धा तो होती ही है। जैसी जिसकी श्रद्धा, वैसा वह होता है। ३

सात्त्विक लोग देवताओंको भजते हैं, राजसलोग यक्षों और राक्षसोंको भजते हैं और दूसरे तामस लोग भूतप्रेतादिको भजते हैं। ४

दंभ और अहंकारवाले, काम और रागके बलसे प्रेरित जो लोग शास्त्रीय विधिसे रहित घोर तप करते हैं, वे मूढ़ लोग शरीरमें स्थित पंच महाभूतोंको और अंत:करणमें विद्यमान मुझको भी कष्ट देते हैं। ऐसोंको आसुरी-निश्चयवाला जान। ५–६

आहार भी तीन प्रकारसे प्रिय होता है। उसी प्रकार, यज्ञ, तप और दान (भी तीन प्रकारसे प्रिय होता) है। उसका यह भेद तू सुन। ७

आयुष्य, सात्त्विकता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढ़ानेवाले, रसदार, चिकने, पौष्टिक और मनको रुचिकर आहार सात्त्विक लोगोंको प्रिय होते हैं। ८

तीखे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, चरपरे, रूखे, दाहकारक आहार राजस लोगोंको प्रिय होते हैं और वे दुःख, शोक तथा रोग उत्पन्न करनेवाले होते हैं। ९

पहरभरसे पड़ा हुआ, नीरस, दुर्गंधित, बासी, जूठा, अपवित्र भोजन तामस लोगोंको प्रिय होता है। १०

जिसमें फलकी इच्छा नहीं है, जो विधिपूर्वक कर्त्तव्य समझकर, मनको उसमें पिरोकर होता है वह यज्ञ सात्त्विक है। ११

हे भरतश्रेष्ठ ! जो फलके उद्देश्यसे और दंभसे होता है उस यज्ञको राजसी जान। १२

जिसमें विधि नहीं है, अन्नकी उत्पत्ति नहीं है, मंत्र नहीं है, त्याग नहीं है, श्रद्धा नहीं है, उस यज्ञको बुद्धिमान लोग तामस यज्ञ कहते हैं। १३

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीकी पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा—यह शारीरिक तप कहलाता है। १४

दुःख न देनेवाला, सत्य, प्रिय, हितकर वचन तथा धर्मग्रंथोंका अभ्यास — यह वाचिक तप कहलाता है। १५

मनकी प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्मसंयम, भावनाशुद्धि यह मानसिक तप कहलाता है । १६

समभावयुक्त पुरुष जब फलेच्छाका त्याग करके परम श्रद्धापूर्वक यह तीन प्रकारका तप करते हैं तब उसे बुद्धिमान लोग सात्त्विक तप कहते हैं । १७

जो सत्कार, मान और पूजाके लिए दंभपूर्वक होता है वह अस्थिर और अनिश्चित तप, राजस कहलाता है । १८

जो तप कष्ट उठाकर, दुराग्रहपूर्वक अथवा दूसरेके नाशके लिए होता है वह तामस तप कहलाता है । १९

देना उचित है ऐसा समझकर, बदला मिलनेकी आशाके बिना, देश, काल और पात्रको देखकर जो दान होता है उसे सात्त्विक दान कहा है । २०

जो दान बदला मिलनेके लिए अथवा फलको लक्ष्यकर और दुःखके साथ दिया जाता है वह राजसी दान कहा गया है । २१

देश, काल और पात्रका विचार किये बिना, बिना मानके, तिरस्कारसे दिया हुआ दान, तामसी कहलाता है । २२

ब्रह्मका वर्णन 'ॐ तत् सत्' इस तरह तीन प्रकारसे

हुआ है और इसके द्वारा पूर्वकालमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञ निर्मित हुए। २३

इसलिए ब्रह्मवादी 'ॐ' का उच्चारण करके यज्ञ, दान और तपरूपी क्रियाएं सदा विधिवत् करते हैं। २४

और, मोक्षार्थी 'तत्'का उच्चारण करके फलकी आशा रखे बिना यज्ञ, तप और दानरूपी विविध क्रियाएं करते हैं। २५

सत्य और कल्याणके अर्थमें 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है। और हे पार्थ ! भले कामोंमें भी 'सत्' शब्द व्यवहृत होता है। २६

यज्ञ, तप और दानमें दृढ़ताको भी सत् कहते हैं। तत्के निमित्त ही कर्म है, ऐसा संकल्प भी सत् कहलाता है। २७

टिप्पणी—उपरोक्त तीन श्लोकोंका भावार्थ यह हुआ कि प्रत्येक कर्म ईश्वरार्पण करके ही करना चाहिए, क्योंकि ॐ ही सत् है, सत्य है। उसे अर्पण किया हुआ ही फलता है।

हे पार्थ ! जो यज्ञ, दान, तप या दूसरा कार्य बिना श्रद्धाके होता है वह असत् कहलाता है। वह न तो यहांके कामका है, न परलोकके। २८

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-विद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'श्रद्धात्रय-विभागयोग' नामक सत्रहवां अध्याय ।

: १८ :

संन्यासयोग

इस अध्यायको उपसंहाररूप मानना चाहिए। इस अध्यायका या गीताका प्रेरक मन्त्र यह कहा जा सकता है—'सब धर्मोंको तजकर मेरी शरण ले ।' यह सच्चा संन्यास है; परंतु सब धर्मोंके त्यागका मतलब सब कर्मोंका त्याग नहीं है। परोपकारके कर्मोंमें भी जो सर्वोत्कृष्ट कर्म हों उन्हें उसे अर्पण करना और फलेच्छाका त्याग करना, यह सर्वधर्मत्याग या संन्यास है।

अर्जुन बोले—

हे महाबाहो ! हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन ! संन्यास और त्यागका पृथक्-पृथक् रहस्य मैं जानना चाहता हूं । १

श्रीभगवान बोले—

काम्य (कामनासे उत्पन्न हुए) कर्मोंके त्यागको

ज्ञानी संन्यासके नामसे जानते हैं। समस्त कर्मोंके फलके त्यागको बुद्धिमान लोग त्याग कहते हैं। २

कितने ही विचारवान पुरुष कहते हैं कि कर्ममात्र दोषमय होनेके कारण त्यागनेयोग्य हैं। दूसरोंका कथन है कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं हैं। ३

हे भरतसत्तम ! इस त्यागके विषयमें मेरा निर्णय सुन। हे पुरुषव्याघ्र ! त्याग तीन प्रकारसे वर्णन किया गया है। ४

यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म त्याज्य नहीं हैं वरन् करनेयोग्य हैं। यज्ञ, दान और तप विवेकीको पावन करनेवाले हैं। ५

हे पार्थ ! ये कर्म भी आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके करने चाहिए, ऐसा मेरा निश्चित उत्तम अभिप्राय है। ६

नियत कर्मका त्याग उचित नहीं है। मोहके वश होकर उसका त्याग किया जाय तो वह त्याग तामस माना जाता है। ७

दुःखकारक समझकर कायाकष्टके भयसे जो कर्मका त्याग करता है वह राजस त्याग है और इससे उसे त्यागका फल नहीं मिलता। ८

हे अर्जुन ! करना चाहिए, ऐसा समझकर जो नियत कर्म संग और फलको त्यागकर किया जाता है वह त्याग ही सात्त्विक माना गया है। ९

संशयरहित हुआ, शुद्धभावनावाला, त्यागी और बुद्धिमान असुविधाजनक कर्मका द्वेष नहीं करता, सुविधावालेमें लीन नहीं होता। १०

कर्मका सर्वथा त्याग देहधारीके लिए संभव नहीं है; परंतु जो कर्मफलका त्याग करता है वह त्यागी कहलाता है। ११

त्याग न करनेवालेके कर्मका फल कालांतरमें तीन प्रकारका होता है, अशुभ, शुभ और शुभाशुभ। जो त्यागी (संन्यासी) है उसे कभी नहीं होता। १२

हे महाबाहो ! कर्ममात्रकी सिद्धिके विषयमें सांख्यशास्त्रमें पांच कारण कहे गये हैं। वे मुझसे जान। १३

वे पांच ये हैं—क्षेत्र, कर्ता, भिन्न-भिन्न साधन, भिन्न-भिन्न क्रियाएं और पांचवां दैव। १४

शरीर, वाचा अथवा मनसे जो कोई भी कर्म मनुष्य नीतिसम्मत या नीतिविरुद्ध करता है उसके ये पांच कारण होते हैं। १५

ऐसा होनेपर भी, असंस्कारी बुद्धिके कारण जो

अपनेको ही कर्ता मानता है वह दुर्मति कुछ समझता नहीं है। १६

जिसमें अहंकारभाव नहीं है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है, वह इस जगतको मारते हुए भी नहीं मारता, न बंधनमें पड़ता है। १७

टिप्पणी—ऊपर-ऊपरसे पढ़नेपर यह श्लोक मनुष्यको भुलावेमें डालनेवाला है। गीताके अनेक श्लोक काल्पनिक आदर्शका अवलंबन करनेवाले हैं। उसका सच्चा नमूना जगतमें नहीं मिल सकता और उपयोगके लिए भी जिस तरह रेखागणितमें काल्पनिक आदर्श आकृतियोंकी आवश्यकता है उसी तरह धर्म-व्यवहारके लिए है। इसलिए इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—जिसकी अहंता नष्ट हो गई है और जिसकी बुद्धिमें लेशमात्र भी मैल नहीं है, उसके लिए कह सकते हैं कि वह भले ही सारे जगतको मार डाले; परंतु जिसमें अहंता नहीं है उसे शरीर ही नहीं है। जिसकी बुद्धि विशुद्ध है वह त्रिकालदर्शी है। ऐसा पुरुष तो केवल एक भगवान है। वह करते हुए भी अकर्ता है, मारते हुए भी अहिंसक है। इससे मनुष्यके सामने तो एक न मारनेका और शिष्टाचार—शास्त्र—का ही मार्ग है।

कर्मकी प्रेरणामें तीन तत्त्व विद्यमान हैं—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता। कर्मके अंग तीन प्रकारके होते हैं—इंद्रियां, क्रिया और कर्ता। १८

टिप्पणी—इसमें विचार और आचारका समीकरण है। पहले मनुष्य कर्त्तव्य कर्म (ज्ञेय), उसकी विधि (ज्ञान)को जानता है—परिज्ञाता बनता है। इस कर्मप्रेरणाके प्रकारके बाद वह इंद्रियों (करण) द्वारा क्रियाका कर्ता बनता है। यह कर्मसंग्रह है।

ज्ञान, कर्म और कर्ता गुणभेदके अनुसार तीन प्रकारके हैं। गुणगणनामें उनका जैसा वर्णन किया जाता है वैसा सुन। १९

जिसके द्वारा मनुष्य समस्त भूतोंमें एक ही अविनाशी भावको और विविधतामें एकताको देखता है उसे सात्त्विक ज्ञान जान। २०

भिन्न-भिन्न (देखनेमें) होनेके कारण समस्त भूतोंमें जिसके द्वारा मनुष्य भिन्न-भिन्न विभक्त भावोंको देखता है उस ज्ञानको राजस जान। २१

जिसके द्वारा एक ही कार्यमें बिना किसी कारणके सब आ जानेका भास होता है, जो रहस्यरहित और तुच्छ है वह तामस ज्ञान कहलाता है। २२

फलेच्छारहित पुरुषका आसक्ति और राग-द्वेषके

बिना किया हुआ नियत कर्म सात्त्विक कहलाता है। २३

टिप्पणी—(देखो, टिप्पणी ३-८)

भोगकी इच्छा रखनेवाले जिस कार्यको 'मैं करता हूं', इस भावसे बड़े आयासपूर्वक करते हैं वह राजस कहलाता है। २४

मनुष्य जो काम परिणामका, हानिका, हिंसाका और अपनी शक्तिका विचार किये बिना, मोहके वश होकर आरंभ करता है वह तामस कर्म कहलाता है। २५

जो आसक्ति और अहंकाररहित है, जिसमें दृढ़ता और उत्साह है, जो सफलता-निष्फलतामें हर्ष-शोक नहीं करता वह सात्त्विक कर्ता कहलाता है। २६

जो रागी है, जो कर्मफलकी इच्छावाला है, लोभी है, हिंसावान है, मलिन है, हर्ष और शोकवाला है, वह राजस कर्ता कहलाता है। २७

जो अव्यवस्थित, असंस्कारी, झक्की, शठ, नीच, आलसी, अप्रसन्नचित्त और दीर्घसूत्री है, वह तामस कर्ता कहलाता है। २८

हे धनंजय! बुद्धि और धृतिके गुणके अनुसार पूरे और पृथक्-पृथक् तीन प्रकार कहता हूं, उन्हें सुन। २९

प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय, बंध,

मोक्षका भेद जो बुद्धि (उचित रीतिसे) जानती है वह सात्त्विक बुद्धि है। ३०

जो बुद्धि धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्यका विवेक गलत ढंगसे करती है, वह बुद्धि, हे पार्थ ! राजसी है। ३१

हे पार्थ ! जो बुद्धि अंधकारसे घिरी हुई है, अधर्मको धर्म मानती है और सब बातें उलटी ही देखती है वह तामसी है। ३२

हे पार्थ ! जिस एकनिष्ठ धृतिसे मनुष्य मन, प्राण और इंद्रियोंकी क्रियाकों साम्यबुद्धिसे धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है। ३३

हे पार्थ ! जिस धृतिसे मनुष्य फलाकांक्षी होकर धर्म, काम और अर्थको आसक्तिपूर्वक धारण करता है वह धृति राजसी है। ३४

जिस धृतिसे दुर्बुद्धि मनुष्य निद्रा, भय, शोक, निराशा और मदको छोड़ नहीं सकता, हे पार्थ ! वह तामसी धृति है। ३५

हे भरतर्षभ ! अब तीन प्रकारके सुखका वर्णन मुझसे सुन। जिसके अभ्याससे मनुष्य प्रसन्न रहता है, जिससे दुःखका अंत होता है, जो आरंभमें विषसमान लगता है, परिणाममें अमृत-जैसा होता है, जो आत्म-

ज्ञानकी प्रसन्नतामेंसे उत्पन्न होता है, वह सात्त्विक सुख कहलाता है। ३६-३७

विषय और इंद्रियोंके संयोगसे जो आरंभमें अमृत-समान लगता है पर परिणाममें विषसमान होता है, वह सुख राजस कहा गया है। ३८

जो आरंभमें और परिणाममें आत्माको मोहग्रस्त करनेवाला और निद्रा, आलस्य तथा प्रमादमेंसे उत्पन्न हुआ है, वह तामस सुख कहलाता है। ३९

पृथ्वी में या देवताओंके मध्य स्वर्गमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो प्रकृतिमें उत्पन्न हुए इन तीन गुणोंसे मुक्त हो। ४०

हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके कर्मोंके भी उनके स्वभावजन्य गुणोंके कारण विभाग हो गये हैं। ४१

शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता—ये ब्राह्मणके स्वभावजन्य कर्म हैं। ४२

शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धमें पीठ न दिखाना, दान, शासन—ये क्षत्रियके स्वभावजन्य कर्म हैं। ४३

खेती, गोरक्षा, व्यापार—ये वैश्यके स्वभावजन्य कर्म हैं। और शूद्रका स्वभावजन्य कर्म सेवा है। ४४

स्वयं अपने कर्ममें रत रहकर पुरुष मोक्ष पाता है। अपने कर्ममें रत हुआ मनुष्य किस प्रकार मोक्ष पाता है, सो सुन। ४५

जिसके द्वारा प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है और जिसके द्वारा यह सारे-का-सारा व्याप्त है उसे जो पुरुष स्वकर्मद्वारा भजता है वह मोक्ष पाता है। ४६

परधर्म सुकर होनेपर भी उससे विगुण स्वधर्म अधिक अच्छा है। स्वभावके अनुरूप कर्म करनेवाले मनुष्यको पाप नहीं लगता। ४७

टिप्पणी—स्वधर्म अर्थात् अपना कर्त्तव्य। गीताकी शिक्षाका मध्यबिंदु कर्मफलत्याग है और स्वकर्मकी अपेक्षा अधिक उत्तम कर्त्तव्य खोजनेपर फलत्याग-के लिए स्थान नहीं रहता, इसलिए स्वधर्मको श्रेष्ठ कहा है। सब धर्मोंका फल उसके पालनमें आ जाता है।

हे कौंतेय! स्वभावतः प्राप्त कर्म, सदोष होनेपर भी छोड़ना न चाहिए। जिस प्रकार अग्निके साथ धुएंका संयोग है उसी प्रकार सब कामोंके साथ दोष मौजूद है। ४८

जिसने सब कहींसे आसक्तिको खींच लिया है, जिसने कामनाओंको त्याग दिया है, जिसने मनको

जीत लिया है, वह संन्यासद्वारा निष्कामतारूपी परम-सिद्धि पाता है। ४९

हे कौंतेय ! सिद्धि प्राप्त होनेपर मनुष्य ब्रह्मको किस प्रकार पाता है, सो मुझसे संक्षेपमें सुन। ज्ञानकी पराकाष्ठा वही है। ५०

जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गई है, ऐसा योगी दृढ़तापूर्वक अपनेको वशमें करके, शब्दादि विषयोंका त्याग कर, रागद्वेषको जीतकर, एकांत सेवन करके, अल्पाहार करके, वाचा, काया और मनको अंकुशमें रखकर, ध्यानयोगमें नित्यपरायण रहकर, वैराग्यका आश्रय लेकर, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहका त्यागकर, ममतारहित और शांत होकर ब्रह्मभावको पानेयोग्य बनता है।

५१-५२-५३

ब्रह्मभावको प्राप्त प्रसन्नचित्त मनुष्य न तो शोक करता है, न कुछ चाहता है। भूतमात्रमें समभाव रखकर मेरी परमभक्तिको पाता है। ५४

मैं कैसा और कौन हूं इसे भक्तिद्वारा वह यथार्थ जानता है और इस प्रकार मुझे यथार्थ जानकर मुझमें प्रवेश करता है। ५५

मेरा आश्रय ग्रहण करनेवाला सदा सब कर्म

करता हुआ और मेरी कृपासे शाश्वत, अव्ययपदको पाता है। ५६

मनसे सब कर्मोंको मुझमें अर्पण करके, मुझमें परायण होकर, विवेकबुद्धिका आश्रय लेकर निरंतर मुझमें चित्त लगा। ५७

मुझमें चित्त लगानेपर कठिनाइयोंके समस्त पहाड़को मेरी कृपासे पार कर जायगा, किंतु यदि अहंकारके वश होकर मेरी न सुनेगा तो नाश हो जायगा। ५८

अहंकारके वश होकर 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' ऐसा तू मानता हो तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है। तेरा स्वभाव ही तुझे उस तरफ़ बलात्कारसे घसीट ले जायगा। ५९

हे कौंतेय ! अपने स्वभावजन्य कर्मसे बद्ध होनेके कारण तू जो मोहके वश होकर नहीं करना चाहता वह बरबस करेगा। ६०

हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें वास करता है और अपनी मायाके बलसे उन्हें चाकपर चढ़े हुए घड़ेकी तरह घुमाता है। ६१

हे भारत ! सर्वभावसे तू उसकी शरण ले। उसकी कृपासे परमशांतिमय अमरपदको पावेगा। ६२

इस प्रकार गुह्यसे-गुह्य ज्ञान मैंने तुझसे कहा।

इस सारेका भलीभांति विचार करके तुझे जो अच्छा लगे सो कर। ६३

और सबसे भी गुह्य ऐसा मेरा परमवचन सुन। तू मुझे बहुत प्रिय है, इसलिए मैं तुझसे तेरा हित कहूंगा। ६४

मुझसे लगन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिए यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर। तू मुझे ही प्राप्त करेगा, यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। तू मुझे प्रिय है। ६५

सब धर्मोंका त्याग करके एक मेरी ही शरण ले। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा। शोक मत कर। ६६

जो तपस्वी नहीं है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नहीं चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, उससे यह (ज्ञान) तू कभी न कहना। ६७

परंतु यह परम गुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तोंको देगा वह मेरी परम भक्ति करनेके कारण निःसंदेह मुझे ही पावेगा। ६८

उसकी अपेक्षा मनुष्योंमें मेरा कोई अधिक प्रिय सेवक नहीं है और इस पृथ्वीमें उसकी अपेक्षा मुझे कोई अधिक प्रिय होनेवाला भी नहीं है। ६९

हमारे इस धर्म्यसंवादका जो अभ्यास करेगा, वह मुझे यज्ञद्वारा भजेगा, ऐसा मेरा मत है। ७०

और जो मनुष्य द्वेषरहित होकर श्रद्धापूर्वक केवल सुनेगा वह भी मुक्त होकर पुण्यवान जहां बसते हैं उस शुभलोकको पावेगा । ७१

टिप्पणी—इसमें तात्पर्य यह है कि जिसने इस ज्ञानका अनुभव किया है वही इसे दूसरेको दे सकता है। शुद्ध उच्चारण करके अर्थसहित सुना जानेवालों-के विषयमें ये दोनों श्लोक नहीं हैं।

हे पार्थ ! यह तूने एकाग्रचित्तसे सुना ? हे धनंजय ! इस अज्ञानके कारण जो मोह तुझे हुआ था वह क्या नष्ट हो गया ? ७२

अर्जुन बोले—

हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नाश हो गया है। मुझे समझ आ गई है, शंकाका समाधान हो जानेसे मैं स्वस्थ हो गया हूं। आपका कहा करूंगा । ७३

संजयने कहा—

इस प्रकार वासुदेव और महात्मा अर्जुनका यह रोमांचित करनेवाला संवाद मैंने सुना । ७४

व्यासजीकी कृपासे योगेश्वर श्रीकृष्णके श्रीमुखसे मैंने यह गुह्य परम योग सुना । ७५

हे राजन् ! केशव और अर्जुनके इस अद्भुत और पवित्र संवादका स्मरण कर-करके, मैं बारंबार आनंदित होता हूं। ७६

हे राजन् ! हरिके उस अद्भुत रूपका खूब स्मरण कर-करके मैं बहुत विस्मित होता हूं और बारंबार आनंदित होता रहता हू। ७७

जहां योगेश्वर कृष्ण हैं, जहां धनुर्धारी पार्थ है, वहां श्री है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति है, ऐसा मेरा अभिप्राय है। ७८

टिप्पणी—योगेश्वर कृष्णसे तात्पर्य है अनुभव-सिद्ध शुद्ध ज्ञान और धनुर्धारी अर्जुनसे अभिप्राय है तदनुसारिणी क्रिया, इन दोनोंका संगम जहां हो, वहां संजयने जो कहा है उसके सिवा दूसरा क्या परिणाम हो सकता है ?

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद अर्थात् ब्रह्म-विद्यांतर्गत योगशास्त्रके श्रीकृष्णार्जुनसंवादका 'संन्यास-योग' नामक अठारहवां अध्याय।

ॐ शांतिः

श्रीमद्भगवद्गीता

[मूल संस्कृत पाठ]

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

अन्ये च बहव: शूरा मदर्थे त्यक्तजीविता: ।
नानाशस्त्रप्रहरणा: सर्वे युद्धविशारदा: ॥ ९ ॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिता: ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्त: सर्व एव हि ॥११॥
तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्ध: पितामह: ।
सिंहनादं विनद्योच्चै: शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥
तत: शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखा: ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥
तत: श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधव: पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतु: ॥१४॥
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजय: ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदर: ॥१५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिर: ।
नकुल: सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥
काश्यश्च परमेष्वास: शिखण्डी च महारथ: ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजित: ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वश: पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहु: शङ्खान्दध्मु: पृथक्पृथक् ॥१८॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥
अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वज: ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डव: ॥२०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः
पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्
पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।।२९।।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातु भ्रमतीव च मे मनः ।।३०।।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।।३१।।
नकाङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।।३२।।
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।।३३।।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।।३४।।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।।३५।।
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।।३६।।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।।३७।।
यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।।३८।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।।३९।।
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।।४०।।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥
न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि
कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।

संभावितस्य चाकीर्ति-
र्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं
जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय
युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥
एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्व योग उच्यते ॥४८॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥
ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।६६।।
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।६७।।
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६८।।
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।६९।।
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।७०।।
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।७१।।
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।७२।।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।।२।।

तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥
यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा
भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय
संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥
किं कर्म किमकर्मेति
कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि
यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।१८।।
यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।।१९।।
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ।।२०।।
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।२१।।
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ।।२२।।
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।।२३।।
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।२४।।
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।।२५।।
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।।२६।।
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।।२७।।
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।।२८।।
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।।२९।।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं
तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति-
मचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासुपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥
कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥
विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा
विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा
सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः
साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि
चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोका-
नुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे
योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥
पुण्योगन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥
उदाराः सर्व एवैते
ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्
आस्थितः स हि युक्तात्मा
मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥
अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥
सर्वद्वाराणि संयम्य
मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राण-
मास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो-
ऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु
नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥
यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः
षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योति-
र्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

यान्ति देवव्रता देवान्
पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या
यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

पत्रं पुष्पं फलं तोय यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मा भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य
येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा-
स्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्या-राजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥
वक्तुमर्हस्यशेषेण
दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोका-
निमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥
रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्य चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

द्यूत छलयतामस्मि
तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि
सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाःसदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥
अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥
सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्ष
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनं नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासा-
ज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्याग-
स्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥
पुरुषःप्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति
केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन
कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥
यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्नच संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पंचदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥
दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

कामममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि
कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य
इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥
आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥
आयुःसत्त्वबलारोग्य-
सुखप्रीतिविवर्धनाः ।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या
आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥
अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।।२०।।
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ।।२१।।
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।
ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।।२३।।
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।।२४।।
तदित्यनभिसंधाय फलं । यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ।।२५।।
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।।२६।।
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।।२७।।
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।।२८।।

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ।।१७।।

अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥
पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं
नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु
तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी
धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः
कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥
बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

धृत्या यया धारयते
मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या
धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥
सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो
धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा
रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय
निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्
करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

तमेव शरणं गच्छ
सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं
स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥
इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मति. ॥७०॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तःशुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

ॐ तत्सत्

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

ॐ शांतिः

गीता-प्रवेशिका

[गीताके सरल और भक्ति-प्रधान श्लोकोंका संग्रह]

दो शब्द

यह गीता-प्रवेशिका यरवदा-मंदिरमें गत वर्ष संगृहीत की गई थी। मेरा तीसरा पुत्र रामदास उसी मंदिर (जेल) में था। उसको कोई बार मिलनेका अथवा लिखनेका मौका मुझे अमलदार दिया करते थे। रामदास गीता पढ़ता था, परन्तु सब कुछ समझ नहीं सकता था। रामदासमें भक्ति-भाव है, श्रद्धा भी है। उसकी सहायताके लिए मैंने गीताके सरल और भक्तिप्रधान श्लोकोंका संग्रह करके भेजा। रामदासको यह संग्रह अच्छा लगा। मैंने उसे रामगीताका नाम देकर और भी रामदासको प्रोत्साहन दिया।

बाबा राघवदासने उसे काका साहबके हाथमें देखा, पढ़ा और हरिजन-सेवकोंके लिए यह संग्रह उपयोगी होगा ऐसा उनको लगा और इस दृष्टिसे उसे छपवानेकी सम्मति मांगी। मैं कोई पंडित नहीं हूं इसलिए यह संग्रह छपवाने योग्य है या नहीं उस बारेमें मैं निश्चय नहीं कर सकता था। आश्रमनिवासी श्री विनोबा, काका साहब और बालकृष्ण यहीं थे। तीनों गीताके अभ्यासी और भक्त हैं। मैंने बाबाजीसे कहा, यदि ये तीन आश्रम-वासी पसंद करें तो उस संग्रहको छपवानेमें मुझे कोई बाधा नहीं है। तीनोंने विचार करके और उपयोगिता बढ़ानेकी दृष्टिसे तीन श्लोक निकालनेकी और चार नये दाखिल करनेकी सलाह दी। इतनी सुधारणाके साथ यह संग्रह सेवक, सेविका और अन्य गीताभक्तोंके सामने रखा जाता है। आशा और आशय यह है कि इस संग्रहको प्रवेशिकाकी दृष्टिसे ही पढ़ा जाय और अच्छी तरह समझनेके बाद पूर्ण गीताका अभ्यास किया

जाय । साथ इतना भी स्मरणमें रखा जाय कि प्रवेशिका अथवा पूर्ण गीता कंठ करनेसे ही अथवा उसका पूर्ण अर्थ समझनेसे ही कुछ आत्मलाभ हासिल नही होगा । गीता अनुकरणके लिए है । उसके पारिभाषिक शब्द अच्छी तरह समझनेके बाद और उसका मध्यबिंदु अनासक्ति हृदयगत होनेके बाद गीता समझनेमें कम कठिनाई आती है ।

सत्याग्रह आश्रम
वर्धा
८-१०-३२

—मोहनदास करमचंद गांधी

गीता-प्रवेशिका

१

श्रीभगवानुवाच

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।

श्रीभगवानने कहा—

आत्मासे मनुष्य आत्माका उद्धार करे, उसकी अधोगति न करे। आत्मा ही आत्माका बन्धु है और आत्मा ही आत्माका शत्रु है। ६-५

२

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।।

उसीका आत्मा बन्धु है जिसने अपने बलसे मनको जीता है; जिसने आत्माको जीता नहीं वह अपने ही साथ शत्रुका-सा बर्ताव करता है। ६-६

३

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।।

पूर्ण शान्तिसे, निर्भय होकर, ब्रह्मचर्यमें दृढ़ रहकर, मनको मारकर, मुझमें परायण हुआ योगी मेरा ध्यान धरता हुआ बैठे । ६-१४

टिप्पणी—ब्रह्मचारी व्रतका अर्थ केवल वीर्य-संग्रह ही नहीं है, साथ ही ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिए आवश्यक अहिंसादि सभी व्रत हैं ।

४

सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।

सर्वत्र समभाव रखनेवाला योगी अपनेको सब भूतोंमें और सब भूतोंको अपनेमें देखता है । ६-२९

५

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।

जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता

है, वह मेरी दृष्टिसे ओझल नहीं होता और मैं उसकी दृष्टिसे ओझल नहीं होता। ६-३०

६

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

मुझमें लीन हुआ योगी भूतमात्रमें रहनेवाले मुझको भजता है, वह चाहे जिस तरह बर्तता हुआ भी मुझमें बर्तता है। ६-३१

टिप्पणी—'आप' जबतक है, तबतक तो परमात्मा 'पर' है। 'आप' मिट जानेपर—शून्य होनेपर ही एक परमात्माको सर्वत्र देखता है। अध्याय १३-२३ की टिप्पणी देखिये।

७

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

हे अर्जुन! जो मनुष्य अपने जैसा सबको देखता है और सुख हो या दुःख दोनोंको समान समझता है, वह योगी श्रेष्ठ गिना जाता है। ६-३२

८

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।।

सब योगियोंमें भी उसे मैं सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हूं, जो मुझमें मन पिरोकर मुझे श्रद्धापूर्वक भजता है । ६-४७

९

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।

हे धनञ्जय ! मुझसे उच्च दूसरा कुछ नहीं है । जैसे धागेमें मनके पिरोये हुए रहते हैं, वैसे यह सब मुझमें पिरोया हुआ है । ७-७

१०

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।।

हे पार्थ ! समस्त जीवोंका सनातन बीज मुझे जान । बुद्धिमानकी बुद्धि मैं हूं, तेजस्वीका तेज मैं हूं । ७-१०

११

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

हे पार्थ ! चित्तको अन्यत्र कहीं रखे बिना जो नित्य और निरन्तर मेरा ही स्मरण करता है, वह नित्ययुक्त योगी मुझे सहजमें पाता है । ८-१४

१२

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

जो लोग अनन्यभावसे मेरा चिन्तन करते हुए मुझे भजते हैं, उन नित्य मुझमें ही रत रहनेवालोंके योग-क्षेमका भार मैं उठाता हूं । ९-२२

टिप्पणी—योग अर्थात् वस्तुको प्राप्त करना और क्षेम अर्थात् प्राप्त वस्तुको संभाल रखना ।

१३

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

पत्र, फूल, फल या जल जो मुझे भक्तिपूर्वक अर्पण करता है वह प्रयत्नशील मनुष्य द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित किया हुआ मैं सेवन करता हूं । ९-२६

टिप्पणी—तात्पर्य यह कि ईश्वरप्रीत्यर्थ जो-कुछ सेवाभावसे दिया जाता है, उसका स्वीकार उस प्राणीमें रहनेवाले अन्तर्यामी रूपसे भगवान ही करते हैं।

१४

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

इसलिए हे कौन्तेय! तू जो करे, जो खाय, जो हवनमें होमे, जो दानमें दे, जो तप करे, वह सब मुझे अर्पण करके कर। ९-२७

१५

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

सब प्राणियोंमें मैं समभावसे रहता हूं। मुझे कोई अप्रिय या प्रिय नहीं है। जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूं। ९-२९

१६

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

भारी दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मुझे भजे तो उसे साधु हुआ ही मानना चाहिये, क्योंकि अब उसका अच्छा संकल्प है। ९-३०

टिप्पणी—क्योंकि अनन्य भक्ति दुराचारको शान्त कर देती है।

१७

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

वह तुरन्त धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर शान्ति पाता है। हे कौतेन्य! तू निश्चयपूर्वक जानना कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता। ९-३१

१८

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे निमित्त यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर, इससे मुझमें परायण होकर, आत्माको मेरे साथ जोड़कर तू मुझे ही पावेगा। ९-३४

१९

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूं और सब मुझसे ही प्रवृत्त होते हैं, यह जानकर समझदार लोग भावपूर्वक मुझे भजते हैं । १०-८

२०

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्य तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

मुझमें चित्त लगानेवाले, मुझे प्राणार्पण करनेवाले एक-दूसरेको बोध कराते हुए, मेरा ही नित्य कीर्तन करते हुए, सन्तोष और आनन्दमें रहते हैं। १०-९

२१

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

इस प्रकार मुझमें तन्मय रहनेवालोंको और मुझे प्रेमसे भजनेवालोंको मैं ज्ञान देता हूं और उससे वे मुझे पाते हैं । १०-१०

२२

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

उनपर दया करके उनके हृदयमें स्थित मैं ज्ञानरूपी प्रकाशमय दीपकसे उनके अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश करता हूं । १०-११

२३

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥

जो मेरे दर्शन तूने किये हैं वह दर्शन न वेदसे, न तपसे, न दानसे अथवा न यज्ञसे हो सकते हैं । ११-५३

२४

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

परन्तु हे अर्जुन ! हे परंतप ! मेरे सम्बन्धमें ऐसा ज्ञान, ऐसे मेरे दर्शन और मुझमें वास्तविक प्रवेश केवल अनन्य-भक्तिसे ही सम्भव है । ११-५४

२५

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

हे पाण्डव ! जो सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्तिका त्याग करता है और प्राणीमात्रमें द्वेषरहित होकर रहता है, वह मुझे पाता है । ११-५५

२६

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगोंसे उद्वेग नहीं पाता, जो हर्ष, क्रोध, ईर्ष्या, भय, उद्वेगसे मुक्त है, वह मुझे प्रिय है । १२-१५

२७

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

समस्त नाशवान प्राणियोंमें अविनाशी परमेश्वरको समभावसे मौजूद जो जानता है वही उसका जाननेवाला है । १३-२७

२८

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

जिसके द्वारा प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है और जिसके द्वारा यह समस्त व्याप्त है उसे जो पुरुष स्वकर्म द्वारा भजता है वह मोक्ष पाता है । १८-४६

२९

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें वास करता है और अपनी मायाके बलसे उन्हें चाकपर चढ़े हुए घड़ेकी तरह घुमाता है । १८-६१

३०

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

हे भारत ! तू सर्वभावसे उसकी शरण ले । उसकी कृपासे परमशान्तिमय अमरपदको पावेगा । १८-६२

३१

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

सब धर्मोंका त्याग करके एक मेरी ही शरण ले । मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा । शोक मत कर । १८-६६

३२

संजय उवाच

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

संजयने कहा—

जहां योगेश्वर कृष्ण हैं, जहां धनुर्धारी पार्थ हैं, वहां श्री है, विजय है वैभव है और अविचल नीति है ऐसा मेरा अभिप्राय है । १८-७८

टिप्पणी—योगेश्वर कृष्णसे तात्पर्य है अनुभव-सिद्ध शुद्ध ज्ञान, और **धनुर्धारी** अर्जुनसे अभिप्राय है तदनुसारिणी क्रिया । इन दोनोंका संगम जहां हो वहां सञ्जयने जो कहा उसके सिवा दूसरा क्या परिणाम हो सकता है ?

३३

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥

अर्जुन बोले—

हे देव ! आपकी देहमें मैं देवताओंको, भिन्न-भिन्न प्रकारके सब प्राणियोंके समुदायोंको, कमलासन-पर विराजमान ईश ब्रह्माको, सब ऋषियोंको और दिव्य सर्पोंको देखता हूं । ११-१५

३४

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥

आपको मैं अनेक हाथ, उदर, मुख और नेत्र-युक्त अनन्तरूपवाला देखता हूं । आपका अन्त नहीं है, मध्य नहीं है, न है आपका आदि । हे

विश्वेश्वर ! आपके विश्वरूपका मैं दर्शन कर रहा हूं। ११-१६

३५

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥

आपको मैं जाननेयोग्य परम अक्षररूप, इस जगतका अन्तिम आधार, सनातन धर्मका अविनाशी रक्षक और सनातन पुरुष मानता हूं। ११-१८

३६

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥

जिसका आदि, मध्य या अन्त नहीं है, जिसकी शक्ति अनन्त है, जिसके अनन्त बाहु हैं, जिसके सूर्यचन्द्ररूपी नेत्र हैं, जिसका मुख प्रज्वलित अग्निके समान है और जो अपने तेजसे इस जगतको तपा रहा

है ऐसे आपको मैं देख रहा हूं। ११-१९

३७

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥

आकाश और पृथ्वीके बीचके इस अन्तरमें और समस्त दिशाओंमें आप ही अकेले व्याप्त हो रहे हैं। हे महात्मन्! वह आपका अद्भुत उग्र रूप देखकर तीनों लोक थरथराते हैं। ११-२०

३८

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥

आप आदिदेव हैं। आप पुराणपुरुष हैं। आप इस विश्वके परम आश्रयस्थान हैं। आप जाननेवाले हैं और जाननेयोग्य हैं। आप परमधाम हैं। हे अनन्तरूप! इस जगतमें आप व्याप्त हो रहे हैं। ११-३८

३९

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।।

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति, प्रपितामह आप ही हैं। आपको हजारों बार नमस्कार पहुंचे। और फिर भी आपको नमस्कार पहुंचे। ११-३९

४०

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।।

हे सर्व ! आपको आगे, पीछे, सब ओरसे नमस्कार है। आपका वीर्य अनन्त है, आपकी शक्ति अपार है, सब-कुछ आप ही धारण करते हैं, इसलिए आप ही सर्व हैं। ११-४०

४१

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

स्थावरजंगम जगतके आप पिता हैं। आप उसके पूज्य और श्रेष्ठ गुरु हैं। आपके समान कोई नहीं है तो आपसे अधिक तो कहांसे हो सकता है? तीनों लोकमें आपके सामर्थ्यका जोड़ नहीं है। ११-४३

४२

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

इसलिए साष्टांग नमस्कार करके आपसे, पूज्य ईश्वरसे प्रसन्न होनेकी प्रार्थना करता हूं। हे देव! जिस तरह पिता पुत्रको, सखा सखाको सहन करता है, वैसे आप मेरे प्रिय होनेके कारण मेरे कल्याणके लिए मुझे सहन करनेयोग्य हैं। ११-४४

गीतापदार्थकोष

[गीताके शब्दोंका अर्थसहित स्थल-निर्देश]

पाठकोंसे निवेदन

काका साहबने अपने 'दो शब्द' में बताया है कि यह कोष बारह वर्ष पहले तैयार हुआ और जैसा चाहिए था वैसा न होनेपर भी आज क्यों छप रहा है।

जिन्हें मेरे नामसे प्रकाशित अनुवादमें कुछ भी रस है उनके लिए यह कोष सहज ही आवश्यक है। संभव है, अन्य गीताभ्यासियोंके लिए भी यह उपयोगी हो। ऐसे लोगोंके लिए मेरी यह सूचना है कि यदि 'पदार्थकोष' में दिये हुए अर्थ उन्हें न रुचें और दूसरे अर्थ अधिक प्रिय लगें तो वे उन्हें उसीमें लिख लें। ऐसा करनेसे उन्हें बहुत थोड़ी मेहनत-में अपना मनचाहा कोष मिल जायगा और इस प्रकार अभ्यास करने वाले व्यक्ति यदि अपने पसंद किये हुए अर्थ मेरे पास भेज दें तो मैं आभारी होऊंगा।

मैं ज्यों-ज्यों गीताका अभ्यास करता हूं त्यों-त्यों मुझे उसकी अनुपमता अधिक मालूम होती जाती है। मेरे लिए वह आध्यात्मिक कोष है।

मैं जब कभी कार्याकार्यकी परेशानीमें पड़ता हूं तब उसका आश्रय लेता हूं और अबतक उसने मुझे कभी निराश नहीं किया। वह सचमुच काम-धेनु है। रोज एक श्लोक, फिर दो, फिर पांच, फिर रोज एक अध्याय, फिर चौदह दिनमें पारायण और अंतमें कई वर्षसे हममेंसे कुछ लोग सात दिन-के पारायणतक पहुंच गये हैं और सुबह साढ़े चार बजेके लगभग निश्चित दिनोंके निश्चित अध्यायोंकी ध्वनि सुनाई पड़ती है। कुछ-ने—बहुत थोड़े लोगोंने—अठारहों अध्याय कंठ कर लिये हैं। वारके हिसाबसे सुबहकी प्रार्थनामें रोज यह क्रम चलता है :

शुक्र १, २; शनि ३, ४, ५; रवि ६, ७, ८; सोम ९, १०,११, १२; मंगल १३, १४, १५; बुध १६, १७; गुरु १८.

इस विभाजनके विषयमें इतना ही कहना काफी है कि इसके पीछे एक विचारश्रेणी रही है। ऐसा अनुभव है कि इस प्रकार मनन करनेमें ठीक-ठीक सुविधा होती है।

यह प्रश्न उठना संभव है कि शुक्रवारसे ही पारायण क्यों शुरू हुआ। इसका कारण इतना ही है : काफी समयतक चौदह दिनका पारायण चलता रहा। यरवदा जेलमें मुझे सात दिनके पारायणकी बात सूझी और एक शुक्रवारको उसपर अमल हुआ, इसलिए और उसी समयसे पारायण-सप्ताह शुक्रवारसे शुरू होता है।

पारायणकी बात यहां देनेके दो हेतु हैं। एक तो यह बताना कि गीता-भक्ति आजतक हममेंसे कुछ लोगोंको कहांतक ले गई है और दूसरे पाठकोंको अभ्यासमें प्रोत्साहन देनेवाला रास्ता बताना।

किंतु गीता गाकर ही निहाल नहीं हो सकते। गीता धर्म-दर्शक कोष है, आत्माकी उलझनको सुलझानेवाली प्रचंड शक्ति है, दीन-दुखियोंका आधार है, सोतेसे जगानेवाली है, जो ऐसा मानता है उसे ही गीता-गान मदद दे सकता है। यहां यह कहनेका आशय बिल्कुल नहीं है कि बिना अर्थ समझे गीता-गान स्वतंत्ररूपसे मनुष्यका कल्याण करता है। प्रयत्नपूर्वक पाले हुए तोतेको गीता अवश्य कंठ कराई जा सकती है; किंतु उससे तोतेको या उसके शिक्षकको जरा भी पुण्य नहीं मिलनेका।

गीता जीती-जागती, जीवन देनेवाली, अमर माता है। दूध पिलाकर पालने-पोसनेवाली माता एक दिन धोखा देकर चली जायगी। हम देखते हैं, असंख्य माताएं अपनी संतानको तूफानमेंसे बचानेमें असमर्थ रहती हैं। किंतु गीतामाताका आश्रय लेनेवाला भयंकर तूफानमेंसे उबर जाता है। वह नित्य जाग्रत है। कभी धोखा नहीं देती। किंतु जैसे बिना मांगे

मां भी दूध नहीं पिलाती वैसे ही गीतामाता भी बिना मांगे कुछ नहीं देती। वह किसीको अपनी गोदमें लेनेसे पहले उसकी कठिन परीक्षा लेती है, पूर्ण भक्तिकी अपेक्षा रखती है। शुष्क भक्तिसे भी काम नहीं चलेगा। वह अनन्य भक्ति चाहती है। इसलिए जो लोग उसे सर्वार्पण करनेको तैयार नहीं उन्हें आश्रय देना वह बिलकुल अस्वीकार कर देती है।

भौतिक शास्त्रके बड़े-बड़े अभ्यासी उसके पीछे पागल हो जाते हैं तब कहीं उन्हें उसका कुछ दर्शन होता है। एम. ए., बी. ए., होनेवाले रात-दिन पढ़ते हैं, उसपर पैसा खर्च करते हैं, शरीर सुखाते हैं। इस प्रकार प्रयत्न करनेवालोंमेंसे कुछ ही लोग पहली बारमें उत्तीर्ण होते हैं। उत्तीर्ण न होनेवाले निराश न होकर बार-बार प्रयत्न करते हैं और उत्तीर्ण होने-पर ही शांतिसे बैठते हैं। और अतमें—?

गीतामृतका पान करनेके लिए तो इन प्रयत्नोंकी अपेक्षा बहुत अधिक प्रयत्नकी आवश्यकता होनी चाहिए और है ही। परंतु उस अमृत-पानकी गरज कितनोंको है ? गरज है तो कितने लोग जी तोड़कर प्रयत्न करनेको तैयार होते हैं ? हम जानते हैं कि जैसे मैंने बताया है उस दृष्टि-से गीता-भक्ति करनेवालोंकी संख्या नहींके बराबर है। तो भी सब लोग यह कबूल करते है कि गीता सारे उपनिषदोंका दोहन है। किसी भी हिन्दू-को उसके ज्ञानसे रहित नहीं होना चाहिए; किंतु आजकल धर्ममात्रकी कीमत घट गई है। उसके कारणोंमें जानेका यह अवसर नहीं है। मैंने तो, यह गीतापदार्थकोष प्रकाशित हो रहा है, इस निमित्तसे जिज्ञासुओंका ध्यान गीतारूपी रत्नकी तरफ़ खींचने और उसका सदुपयोग कैसे हो सकता है यह बतानेका प्रयत्न इस निवेदनमें किया है, वह सफल हो।

सेगांव, वर्धा }
२४–६–३६ }

—मोहनदास करमचंद गांधी

दो शब्द

गीताके शब्दोंकी (पदों की) अक्षरानुक्रमणिका, उनका स्थलनिर्देश और उनका अर्थकोष गांधीजीने सन् १९२२-२३ में यरवदा जेलमें तैयार किया। जेलकी पढ़ाई और साहित्य-प्रवृत्तिके संबंधमें गांधीजीने लिखा है :

"जबसे मैंने संसारमें प्रवेश किया तबसे मुझे लगा कि सामान्य ज्ञान प्राप्त करनेके लिए मुझे पढ़ना चाहिए। किंतु मुझे जीवनमें पहले-से ही तूफान और संकट दिखाई दिये। इसलिए साहित्यमें रस लेने-को अधिक समय न मिला। सन् १८९४के बाद कुछ पढ़ने-पढ़ानेका समय मुझे मिला तो वह केवल दक्षिण अफ़्रीकाकी जेलोंमें ही। मुझे पढ़ने-का शौक पैदा हुआ इतना ही नहीं, बल्कि अपना संस्कृतका ज्ञान पूरा करने और तामिल, हिंदी तथा उर्दूका अभ्यास करनेको मेरा मन हुआ। दक्षिण अफ़्रीकाकी जेलोंमें मेरी पढ़नेकी अभिरुचि तीव्र हुई थी। इसलिए दक्षिण अफ़्रीकाके अपने आखिरी कारावासके समय मुझे समय-से पहले छोड़ दिया गया तब मुझे दुःख हुआ।

"इसलिए हिंदुस्तानमें जब ऐसा अवसर आया तब मैंने आनंदपूर्वक उसका स्वागत किया। मैंने यरवदामें अभ्यासका एक नियमित क्रम बना लिया, जिसे पूरा करनेके लिए ६ वर्ष काफी न थे।

"जर्जरित शरीरवाला ५४ वर्षका बूढ़ा होते हुए भी मैंने चौबीस वर्ष-के तरुणके समान उत्साहपूर्वक अभ्यास शुरू किया। मैं अपने समयके एक-एक क्षणका हिसाब रखता और चाहता था कि छूटनेपर मैं उर्दू और तामिलका अच्छा अभ्यासी होकर और संस्कृतका अच्छा ज्ञान लेकर ही



बाहर निकलू। संस्कृतके मूल ग्रंथ पढ़नेकी मेरी कामना पूरी हो जाती, किंतु ऐसा होनेका संयोग न था। दुर्भाग्यसे मैं बीमार पड़ गया। उसके परिणामस्वरूप मैं छूटा और मेरे अभ्यासके रंगमें भंग हो गया।"

फिर भी गांधीजीने अनेक भाषाओंकी छोटी-बड़ी मिलाकर डेढ़ सौ किताबें तो पढ़ ही डाली। इनमें महाभारत, गीता और उपनिषदोंका अभ्यास तो था ही। वे लिखते हैं :

"जिन पुस्तकोंके बिना मेरा काम चल ही नहीं सकता था वे महाभारत, रामायण और भागवत थीं। वेदको मूलमें देखनेकी इच्छा उपनिषद्से सतेज हुई। उसकी उत्कट कल्पनाओंसे अपार आनंद हुआ और उसकी आध्यात्मिकतासे मेरी आत्मा शांत हुई।"

इस पढ़ाईके साथ-साथ उन्होंने यह गीतापदार्थकोष भी तैयार किया। इसके संबंधमें उन्होंने लिखा है :

"जेलमें किये गए अपने अभ्यासकी इस समालोचनाको पूरा करनेसे पहले मैं विद्यार्थी पाठकको नियमित कार्य करनेकी उपयोगिताके संबंधमें तथा शुष्क वस्तुओंको रसपूर्ण बनानेकी रीतिके संबंधमें दो शब्द कह दूं। मेरे अपने अभ्यास और नित्यप्रतिके उपयोगके लिए मुझे गीताकी एक शब्दानुक्रमणिका तैयार करनी थी। शब्द और उनके संबंध लिखने और दो-दो बार उनको क्रमसे लगानेका काम बहुत रसपूर्ण नहीं है। मेरी धारणा थी कि अपने कारावासके समय मैं यह काम करूं तो भी इस कामके लिए बहुत समय देना मुझे रुचिकर न था। मेरा समयपत्रक भरा हुआ था। इससे रोज केवल बीस मिनट इस काममें देनेका मैंने निश्चय किया। इस कार्यमें इतना थोड़ा समय देनेसे यह बेगार-जैसा नहीं मालूम होता था। उलटे, रोज उसका समय होनेकी मैं राह देखता। जब उसकी दूसरी बारकी अनुक्रमणिका तैयार करनेका

समय आया तब तो मैं उसमें तल्लीन होने लगा। जिज्ञासु स्वयं इस बातका अनुभव कर देखें। जिन शब्दोंका अनुक्रम मुझे ठीक करना था उनके पहले अक्षरोंका अक्षरानुक्रम मैंने पहले तैयार किया, किंतु प्रत्येक अक्षरके शब्दोंको आंतरिक अक्षरानुक्रममें किस रीतिसे लगायें, यह प्रश्न मेरे लिए जटिल हो गया। मैंने कभी शब्दकोष तैयार नहीं किया था। इससे मुझे स्वतंत्र रूपसे काम करनेकी रीति खोजनी पडी और जब मैंने वह खोज ली तब मेरे आनंदका पार नही रहा। बचपनमें जो आनंद गोली और कंचेके खेलमें आता उससे भी अधिक आनंद मुझे इस अनुक्रमणिकाको लगानेके खेलसे मिला। यह रीति सुघड़, तेज और भूल होने ही न पाये ऐसी थी। यह सारा काम पूरा करते मुझे अठारह महीने लगे। आज अब इस शब्दानुक्रममें देखकर मैं तत्काल जान सकता हूं कि गीताजीमें आया हुआ कोई भी शब्द कहा और कितनी बार प्रयुक्त हुआ है। इसमें दूसरा भी अभिप्राय रहा है। यदि मैं कभी गीताके संबंधमें अपने विचार लिखनेमें समर्थ हुआ तो इस शब्दानुक्रम और इन विचारोको पाठकोंके समक्ष रखना भी चाहता हूं।"

ऐसी बात नहीं है कि गीताका पदानुक्रम इसके पहले किसीनें तैयार न किया हो। थोड़ी-बहुत पूर्णतावाले ऐसे गीता-पद-कोष चार-पांच तो हैं ही, किंतु गांधीजीको अपने विनोदके लिए और जेलकी सहूलियतके लिए इस प्रकारका कोष स्वतंत्र रूपसे तैयार करना था। गांधीजीका मानस प्रत्येक क्षेत्रमें शास्त्रीय रीतिसे काम करता है। गीताके अभ्यासकी सुविधाके लिए उन्होंने एक बार अनेक भाषान्तरोंके हरेक श्लोकके अनुवाद इकट्ठे करके टाइप कराये थे। इसे अंग्रेजीमें 'कॉन्कोर्डन्स' (सादृश्य) कहते हैं। इसका उद्देश्य अक्षरानुक्रमसे यह बताना होता है कि अमुक ग्रंथमें अथवा अमुक लेखककी तमाम रचनाओंमें अमुक शब्द कहां-कहां और कितनी बार आया है। गांधीजीने इसमें हरेक पदका अर्थ

भी देकर इसकी उपयोगिता बढ़ा दी है। इसलिए यह केवल पदकोष न रहकर अर्थकोष भी हो गया है। और इसीलिए इसको गीतापदार्थकोष नाम दिया गया है। इस पदार्थकोषमें उन्होंने पहले संस्कृत कोषोंमें दिये हुए अर्थ ही लिखे थे। बादमें जब उन्होंने गीताके अपने अर्थको स्पष्ट करनेके लिए अनासक्तियोग लिखा तब उसमें दिये हुए अर्थ भी इस पदार्थ-कोषमें जोड़ दिये गए। आॅडिनेन्सराजकी धांधलीके दिनोंमें यह संवर्धित कोष खो गया। इसलिए अभी-अभी दो-तीन मित्रोंने गांधीजीके मूल हस्तलिखित पदसे फिर मेहनत करके यह तैयार किया है और आज यह पाठकोंके हाथमें दिया जा रहा है।

यह कोष जैसा बना है उससे गांधीजीको पूर्ण संतोष नहीं है। उनकी इच्छा थी कि अर्थ देना ही है तो प्रत्येक महत्त्वके शब्दका अलग-अलग भाष्यकारोंने और गीताके नये-पुराने अभ्यासियोंने अलग-अलग जो अर्थ किया है, वह सब व्यवस्थित रीतिसे दें। इससे भाष्यार्थका तुलनात्मक अभ्यास सुलभ हो जाता।

यह तो अर्थ-भेदकी दृष्टि हुई। दूसरी रीतिसे भी अर्थकोषको शास्त्र-शुद्ध करनेके लिए शब्दोंका तात्पर्य देकर उसके बाद गीता-युगतक इन शब्दोंके अर्थमें कैसे अंतर पड़ता गया और गीताने इन शब्दोंका खास क्या अर्थ किया है यह बताना चाहिए। उसके बाद तत्त्वज्ञानके विकास-का अनुसरण करके भाष्यकारोंको यह अर्थ क्यों बदलना पड़ा, यह भी थोड़े-में बताना चाहिए। इस रीतिसे अर्थ-विकासकी सीढ़ियों अथवा प्रवाह-को बताकर गीताके लिए पर्याप्त 'सेमेन्टिकस्' (शब्दार्थ-शास्त्र) बनाना चाहिए। जैसे मनुष्योंका विकास होता है, वैसे मनुष्य-जातिमें प्रयुक्त महान् शब्दोंके अर्थमें भी विकास होता जाता है। शब्द भी वस्तुतः सगुण पुरुष ही हैं।

इस अर्थ-विकासके संबंधमें अनासक्तियोगकी प्रस्तावनामें गांधीजी-

ने लिखा है : "मनुष्यकी भांति महावाक्योंके अर्थका विकास भी होता ही रहता है। भाषाओंके इतिहासकी जांच कीजिये तो मालूम होगा कि अनेक महान् शब्दोंके अर्थ नित्य नये होते रहे हैं....गीताकारने महाशब्दोंका व्यापक अर्थ करके अपनी भाषाका भी व्यापक अर्थ करना हमें सिखाया है।"

आगे चलकर वे लिखते हैं : "गीता एक महान् धर्मकाव्य है। उसमें जितने गहरे उतरेंगे उतने ही नये और सुंदर अर्थ उसमेंसे मिलेंगे.....गीतामें आये हुए महाशब्दोंका अर्थ युग-युगमें बदलता और विस्तृत होता रहेगा। गीताका मूल मंत्र कभी नहीं बदल सकता। वह मंत्र जिस रीतिसे साधा जा सके उस रीतिसे जिज्ञासु चाहे जो अर्थ कर सकता है।"

गांधीजीकी इच्छाके अनुसार ऐसा व्यापक और शास्त्रशुद्ध संपूर्ण गीतापदार्थकोष जब तैयार होगा तब होगा। इस समय तो हम उनकी बारह वर्ष पहलेकी प्रवृत्तिका फल गीताभ्यासियोंके आगे रखते हैं।

सरस्वती-पूजन
२४–९–'३६

—दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर

गीता-पदार्थ-कोष

अ

अकर्तारम्—४-१३, १३-२९ अकर्ता; अकर्तारूपमें
अकर्म—४-१६, १८ कर्मशून्यता, अकर्म
अकर्मकृत्—३-५ कर्म किये बिना
अकर्मणः—३-८ कर्म न करनेसे; ३-८ कर्म न करनेवालेकी, कर्म बिना; ४-१७ कर्म-शून्यताका, अकर्मका
अकर्मणि—२-४७ कर्मशून्यतामें, कर्म न करनेके विषयमें; ४-१८ अकर्ममें
अकल्मषम्—६-२७ पापरहित हुए को, निष्पापको
अकारः—१०-३३ अकार; 'अ' यह अक्षर
अकार्यम्—१८-३१ न करने योग्य
अकीर्तिकरम्—२-२ लांछन लगानेवाला, अपयश देनेवाला
अकीर्तिम्—२-३४ अपकीर्ति, निंदा
अकीर्तिः—२-३४ अयश, अपकीर्ति
अकुर्वत—१-१ किया
अकुशलम्—१८-१० दुःखकर, असुविधाजनक
अकृतबुद्धित्वात्—१८-१६ असंस्कृत बुद्धिके कारण
अकृतात्मानः—१५-११ संस्कार-रहित लोग, जिन्होंने आत्म-शुद्धि नहीं की है ऐसे लोग
अकृतेन—३-१८ न करनेसे
अकृत्स्नविदः—३-२९ अज्ञानी मंदबुद्धि लोगोंको, अधकचरे ज्ञान वालोंको
अक्रियः—६-१ क्रियाओंका न करनेवाला
अक्रोधः—१६-२ क्रोधरहित होना
अक्लेद्यः—२-२४ जो भिगोया न जा सके ऐसा
अक्षय(य्य)म्—५-२१ अविनाशी, अक्षय्य (जिसे नष्ट न किया जा सके)
अक्षयः—१०-३३ नाशरहित अविनाशी

अक्षरसमुद्भवम्—३-१५ (अविनाशी) परमात्मासे उत्पन्न हुआ; शाश्वत ब्रह्म (अक्षर) से उत्पन्न हुआ

अक्षरम्—८-३, ११; ११-१८, ३७; १२-१, ३ अक्षर, अविनाशी; १०-२५ ॐ कार, 'ॐ' यह अक्षर

अक्षरः—८-२१ अविनाशी; १५-१६, १६ अक्षर (पुरुष)

अक्षराणाम्—१०-३३ अक्षरोंमें, वर्णोंमें

अक्षरात्—१५-१८ अक्षरसे

अखिलम्—४-३३ पूरा, निःशेष; ७-२९ अखिल; १५-१२ सारे, समूचे

अगतासून् २-११ जिनके प्राण नहीं गये हैं उनको, जीवितोंको

अग्निः—४-३७; ८-२४; ९-१६; ११-३९; १८-४८ अग्नि

अग्नौ—१५-१२ अग्निमें

अग्रे—१८-३७, ३८, ३९ आरंभमें

अघम्—३-१३ पापको

अघायुः—३-१६ पापी जीवनवाला

अङ्गानि—२-५८ अंगों (को), गात्रों (को)

अचरम्—१३-१५ स्थावर, स्थिर

अचलप्रतिष्ठम्—२-७० अचल स्थितिवालेको, जिसकी मर्यादा निश्चल है उसे, अचल प्रतिष्ठावालेको

अचलम्—६-१३; १२-३ अचल

अचलः—२-२४ अचल

अचला—२-५३ स्थिर (बुद्धि)

अचलाम्—७-२१ दृढ़

अचलेन—८-१० अचल, निश्चल

अचापलम्—१६-२ अचांचल्य, अचंचलता, दृढ़ता

अचिन्त्यरूपम्—८-९ विचारमें न आ सके ऐसे रूपवाला, अचिन्त्य

अचिन्त्यम्—१२-३ अचिन्त्य

अचिन्त्यः—२-२५, जिसका चिन्तन न किया जा सके ऐसा, मनके लिए अगम्य

अचिरेण—४-३९ तुरत, बिना विलंबके

अचेतसः—३-३२; १५-११; १७-६ अविवेकी, ज्ञानहीन, मूढ़

अच्छेद्यः—२-२४ जो छेदा न जा सके ऐसा

अच्युत—१-२१; ११-४२; १८-७३ हे अच्युत, कृष्ण

अजस्रम्—१६-१९ निरंतर, बारंबार

अजम्—२-२१; ७-२५; १०-३, १२ अजन्मा, जन्मरहित
अजः—२-२०; ४-६ अजन्मा, जन्मरहित
अजानता—११-४१ अनजाने, भूलमें
अजानन्तः—७-२४; ९-११; १३-२५ न जाननेवाले
अज्ञः—४-४० अज्ञानी
अज्ञानजम्—१०-११ अज्ञानसे उत्पन्न हुआ, अज्ञानरूप; १४-८ अज्ञानमूलक
अज्ञानविमोहिताः—१६-१५ अज्ञानसे अति मूढ़ हुआ
अज्ञानसंभूतम्—४-४२ अज्ञानसे उत्पन्न हुआ
अज्ञानसंमोहः—१८-७२ अज्ञान-जन्य मोह
अज्ञानम्—५-१६; १३-११; १४-१६, १७; १६-४ अज्ञान
अज्ञानाम्—३-२६ अज्ञानियोंकी
अज्ञानेन—५-१५ अज्ञान-अविद्यासे
अणीयांसम्—८-९ छोटा, अत्यन्त सूक्ष्म
अणोः—८-९ अणुसे
अतत्त्वार्थवत्—१८-२२ तत्त्वरहित, रहस्यहीन, मूल स्वरूपसे विपरीत (तुलना करो १८-३२)
अतन्द्रितः—३-२३ आलस्यरहित (होकर)
अतपस्काय—१८-६७ तपश्चर्या-रहितको, असंयमीको, जो तपस्वी नहीं है उसे
अतः—९-२४; १५-१८ इसलिए, इस कारणसे; १३-११ इससे, इनसे
अतः परम्—२-१२ इससे आगे; १२-८ इस लोकसे, इस जन्मके बाद
अतितरन्ति—१३-२५ तर जाते हैं
अतिनीचम्—६-११ बहुत नीचा
अतिमानिता—१६-३ अति अभि-मान
अतिरिच्यते—२-३४ अधिक है, बढ़ जाती है
अतिवर्तते—६-४४; १४-२१ लांघ जाता है, तर जाता है
अतिस्वप्नशीलस्य—६-१६ अधिक सोनेवालेको
अतीतः—१४-२१; १५-१८ लांघ गया हुआ, ... को तर जाने वाला, ... से पर

अधर्मम्—१८-३१, ३२ अधर्मको
अधर्मः—१-४० अधर्म
अधर्माभिभवात्—१-४१ अधर्म-की वृद्धि होनेसे, अधर्मके आक्रमणसे
अधः—१४-१८ नीचे, अधोगति (पाते हैं); १५-२, २ नीचे
अधःशाखम्—१५-१ नीचेकी ओर शाखावाला, जिसकी शाखा नीचे की ओर है ऐसा
अधिकतरः—१२-५ (प्रमाणमें) बहुत अधिक
अधिकम्—६-२२ अधिक
अधिकः—६-४६,४६,४६ अधिक, बड़ा
अधिकारः—२-४७ अधिकार
अधिगच्छति—२-६४; ४-३९; ६-१५; २-७१; ५-६, २४; १४-१९; १८-४९, प्राप्त होता है, पाता है
अधिदैवतम्—८-४ } अधिदैव, जीवस्वरूप
अधिदैवम्—८-१ }
अधिभूतम्—८-१, ४ नामरूप मात्र, नाशवान, सृष्टि-स्वरूप, अधिभूत
अधियज्ञः—८-२, ४ सब यज्ञका अभिमानी विष्णु, देह में रहते हुए भी यज्ञ द्वारा शुद्ध हुआ जीवस्वरूप
अधिष्ठानम्—३-४० निवासस्थान, आश्रय, किला; १८-१४ क्षेत्र, शरीर
अधिष्ठाय—४-६ लेकर; १५-९ आश्रय लेकर
अध्यक्षेण—९-१०, नियन्ता द्वारा, अधिकारके नीचे
अध्यात्मचेतसा—३-३० विवे-कात्मबुद्धिसे, अध्यात्मवृत्ति रखकर
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्—१३-११ अध्यात्मज्ञानका नित्यत्व, *आध्यात्मिक ज्ञानकी नित्यता-का भान*
अध्यात्मनित्याः—१५-५ परमा-त्मस्वरूपके विचारमें निमग्न, आत्मामें नित्यनिमग्न
अध्यात्मविद्या—१०-३२ आत्म-ज्ञान, अध्यात्मविद्या
अध्यात्मसंज्ञितम्—११-१ आध्या-त्मिक, 'अध्यात्म' नामका
अध्यात्मम्—७-२९ अध्यात्मको, शरीरमें स्थित अंतरात्माको; ८-१, ३ अध्यात्म, प्राणीमात्र में स्वसत्तासे रहनेवाला

अभ्योध्यते—१८-७० अभ्यास करेगा
अध्रुवम्—१७-१८ अनिश्चित
अनघ—३-३; १४-६; १५-२० हे पापरहित
अनन्त—११-३७ हे अनन्त, अंतरहित
अनन्तबाहुम्—११-१९ अनन्त हाथोंवालेको
अनन्तरम्—१२-१२ बादमें, तुरंत, अनन्तर
अनन्तरूप—११-३८ हे अनन्तरूप (कृष्ण)
अनन्तवीर्यम्—११-१९ अपार वीर्य (बल) वालेको
अनन्तवीर्यामितविक्रमः—११-४० अनन्त सामर्थ्य और अमाप बलवाला
अनन्तम्—११-११, ४७ अंत रहितको
अनन्तरूपम्—११-१६ अनन्त रूपवालेको
अनन्तविजयम्—१-१६ अनन्त विजय नामक (युधिष्ठिरके) शंखको
अनन्तः—१०-२९ शेषनाग
अनन्ताः—२-४१ अनन्त, अपार
अनन्यचेताः—८-१४ जिसका चित्त और कहीं न हो वह, एकाग्र मनवाला
अनन्यभाक्—९-३० अनन्य निष्ठावाला, एकनिष्ठ (होकर)
अनन्यमनसः—९-१३ अनन्य चित्तवाले (होकर), एक-निष्ठासे
अनन्यया—८-२२; ११-५४ अनन्य (भक्ति) से
अनन्येन—(योगेन) १२-६ एक—निष्ठासे
अनन्ययोगेन १३-१० अनन्य ध्यानपूर्वक, अनन्य योगसे
अनन्याः—९-२२ दूसरेको न पूजनेवाले, अनन्य भावसे
अनपेक्षः—१२-१६ इच्छारहित, निःस्पृह
अनपेक्ष्य—१८-२५ बिना विचार किये
अनभिष्वङ्गः—१३-९ ममताका अभाव, निर्ममत्व
अनभिसंधाय—१७-२५ (फलकी) आशा रखे बिना, इच्छा किये बिना
अनभिस्नेहः—२-५७ रागरहित, स्नेहरहित

अनयोः—२-१६ इन ('सत्' और 'असत्') का
अनलः—७-४ अग्नि, तेज (तन्मात्रा)
अनलेन—३-३९ अग्निसे
अनवलोकयन्—६-१३ न देखता हुआ
अनवाप्तम्—३-२२ जो वस्तु न पाई गयी हो, न मिली हो, अप्राप्त
अनश्नतः—६-१६ उपवासीको, न खानेवालेको
अनसूयन्तः—३-३१ द्वेषको त्यागनेवाले, निंदा न करनेवाले
अनसूयवे—९-१ द्वेषरहितको, निंदा न करनेवालेको, दोषदर्शन न करनेवालेको
अनसूयः—१८-७१ द्वेषरहित, असूयारहित
अनहंकारः—१३-८ अहंकाररहित होना, अहंकारका अभाव, नम्रता
अनहंवादी—१८-२६ अहंतारहित
अनात्मनः—६-६ जिसने आत्माको नहीं जीता है उसका, अजितेन्द्रियका
अनादित्वात्—१३-३१ अनादि होनेसे, अनादित्वके कारण
अनादिमत्—१३-१२ अनादि, बिना आदिका
अनादिमध्यान्तम्—११-१९ जिसका आदि, मध्य या अंत न हो उसे; उत्पत्ति, स्थिति और नाशसे रहितको
अनादिम्—१०-३ आदिरहित, सनातन, अनादिरूप
अनादी—१३-१९ अनादि (द्वि.)
अनामयम्—२-५१ निष्कलंक आमय-रोगरहित, निर्दोष; १४-६ आरोग्यकर, उपद्रव-रहित
अनारम्भात्—३-४ आरंभ न करनेसे
अनार्यजुष्टम्—२-२ श्रेष्ठ पुरुषके अयोग्य, जो क्षुद्र पुरुषको ही शोभा दे, आर्य पुरुष जिसका सेवन न करें ऐसा
अनावृत्तिम्—८-२३, २६ मोक्ष, जहांसे पीछे (इस संसारमें) लौट कर न आना पड़े
अनाशिनः—२-१८ अविनाशीका, नाशरहितका
अनाश्रितः—६-१ आश्रय लिये बिना, इच्छा किये बिना

अनिकेतः—१२-१९ बिना घरका, जिसका कोई अपना निजी स्थान नहीं है

अनिच्छन्—३-३६ न चाहता हुआ

अनित्यम्—९-३३ अनित्य, क्षणिक

अनित्याः—२-१४ क्षणिक, अनित्य

अनिर्देश्यम्—१२-३ अवर्णनीय, शब्दोंद्वारा जिसका वर्णन न हो सके ऐसा

अनिर्विण्णचेतसा—६-२३ बिना ऊबे

अनिष्टम्—१८-१२ अशुभ, दुःख-कर

अनीश्वरम्—१६-८ ईश्वररहित

अनुकम्पार्थम्—१०-११ दया करके, दया करनेके लिए

अनुचिन्तयन्—८-८ चिंतन करता हुआ, एकाग्र होनेवाला

अनुतिष्ठन्ति—३-३१, ३२ अनु-करण करते हैं, अंगीकार करते हैं

अनुत्तमम्—७-२४ अनुपम, सर्वोत्तम

अनुत्तमाम्—७-१८ जिसकी अपेक्षा दूसरी अधिक उत्तम न हो, ऐसी सर्वोत्तम (गति)

अनुद्विग्नमनाः—२-५६ उद्वेगरहित मनवाला

अनुद्वेगकरम्—१७-१५ जो दुःख न दे ऐसा

अनुपकारिणे—१७-२० उपकार न करनेवालेको—न माननेवाले-को (बदला मिलनेकी आशा बिना)

अनुपश्यति—१३-३०; १४-१९ (वह) देखता है

अनुपश्यन्ति—१५-१० (वे) देखते हैं

अनुपश्यामि—१-३१ (मैं) देखता हूं

अनुप्रपन्नाः—९-२१ आश्रय लेने-वाले—करनेवाले

अनुबन्धम्—१८-२५ कर्मोंके परिणामको, भविष्यमें होने-वाले शुभ या अशुभको

अनुबन्धे—१८-३९ परिणाममें, आखिरमें, अंतमें

अनुमन्ता—१३-२२ अनुमति देने-वाला

अनुरज्यते—११-३६ अनुराग—प्रीति करता है

अनुवर्तते—३-२१ (वह) अनु-सरण करता है

अनुवर्तन्ते—३-२३; ४-११ (वे लोग) अनुसरण करते हैं, उनके नीचे (अधीन) रहते हैं

अनुवर्तयति—३-१६ अनुसरण करता है, चलाता है

अनुविधीयते—२-६७ पीछे दौड़ा जाता है, पिरोया जाता है

अनुशासितारम्—८-९ नियन्ता—शास्ता—ईश्वरको

अनुशुश्रुम—१-४४ सुनते आये हैं

अनुशोचन्ति—२-११ शोक करते हैं

अनुशोचितुम्—२-२५ शोक करनेको

अनुषज्जते—६-४ आसक्त होता है; १८-१० लीन होता है, प्रीति करता है,

अनुसंततानि—१५-२ फैले हुए, छाये हुए, पसरे हुए (हैं)

अनुस्मर—८-७ स्मरण कर, स्मरण रख

अनुस्मरन्—८-१३ चिन्तन करता हुआ, स्मरण करता हुआ

अनुस्मरेत्—८-९ ठीक स्मरण करता है

अनेकचित्तविभ्रान्ताः—१६-१६ अनेक भ्रान्तियोंमें पड़े हुए, अनेक प्रकारके चित्तके संकल्पोंसे भ्रांत हुए

अनेकजन्मसंसिद्धः—६-४५ अनेक जन्मके प्रयत्नोंसे शुद्ध हुआ, सिद्धि पाया हुआ

अनेकदिव्याभरणम्— ११-१० अनेक दिव्य आभूषणवाला

अनेकधा—११-१३ अनेक रीतिसे

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्—११-१६ अनेक हाथ, उदर, मुख और नेत्रवालेको

अनेकवक्त्रनयनम्—११-१० अनेक मुख और आंखोंवालेको

अनेकवर्णम्—११-२४ अनेक रंगवालेको

अनेकाद्भुतदर्शनम्— ११-१० अनेक अद्भुत दर्शनवाला, अति आश्चर्यकारक स्वरूप-वाला

अनेन—३-१०, ११ इस (यज्ञ) द्वारा; ९-१० इस (कारण) से; ११-८ इस (चर्मचक्षु) से

अन्तकाले—२-७२; ८-५ अंत-कालमें, मरणकालमें

अन्तगतम्—७-२८ जिसका अंत आ गया है, जो नष्ट हो गया है

अन्याम्—७-५ दूसरी, ऊंची
अन्यायेन—१६-१२ अनीतिसे, अन्यायपूर्वक
अन्ये—१-९; ४-२६; ६-१५; १७-४ दूसरे; १३-२४, २५ कुछ, कोई
अन्येन—११-४७, ४८ दूसरेके-द्वारा
अन्येभ्यः—१३-२५ दूसरोंके पाससे
अन्वशोचः—२-११ (तू) शोक किया करता है
अन्विच्छ—२-४९ ले खोज
अन्विताः—९-२३; १७-१ युक्त, वाले, (श्रद्धा) पूर्वक
अपनुद्यात्—२-८ टाले दूर कर सके
अपरम्—६-२२ दूसरे किसीको; ४-४ इधरका दूसरा
अपरस्परसंभूतम्—१६-८ स्त्री (अपर) पुरुष (पर) के संबधसे उत्पन्न, नरमादाके संबंधसे उत्पन्न, परस्पर संबंध — कार्यकारणभाव-रहित
अपरा—७-५, दूसरी, निम्न प्रकारकी
अपराजितः—१-१७ अजेय, न हारे ऐसा
अपराणि—२-२२ दूसरे
अपरान्—१६-१४ दूसरोंको
अपरिग्रहः—६-१० संग्रहरहित, अपरिग्रही
अपरिमेयाम्—१६-११ अमाप
अपरिहार्ये—२-२७ अनिवार्य (विषयमें)
अपरे—४-२५, २७, २८, २९, ३० कुछ, कोई; १३-२४; १८-३ दूसरे
अपर्याप्तम्—१-१० अपूर्ण, अनंत
अपलायनम्—१८-४ पीछे न हटना, भाग न जाना, अडिग रहना
अपश्यत्—१-२६; ११-१३ देखा
अपहृतचेतसाम्—२-४४ जिनकी बुद्धि मारी गई है उनकी, अविवेकियोंकी
अपहृतज्ञानाः—७-१५ जिनका ज्ञान नष्ट हो गया है वे
अपात्रेभ्यः—१७-२२ अपात्रोंको
अपानम्—४-२९ अपान वायुको
अपाने—४-२९ अपान वायुमें
अपावृतम्—२-३२ खुला हुआ, उघड़ा हुआ

अपि—१-२७ इत्यादि, से, फिर, भी, तो भी
अपुनरावृत्तिम्—५-१७ फिर देह धारण न करना, मोक्ष
अपैशुनम्—१६-२ निन्दा न करना, चुगली न खाना, अपैशुन
अपोहनम्—१५-१५ अभाव, दूर होना
अप्रकाशः—१४-१३ अंधकार, अज्ञान, विवेकशून्यता
अप्रतिमप्रभावः—११-४३ अनुपमेय प्रभाववाला, जिसकी सामर्थ्य-की जोड़ नही
अप्रतिष्ठम्—१६-८ बिना आधारका
अप्रतिष्ठः—६-३८ आधाररहित, योगसे भ्रष्ट हुआ
अप्रतीकारम्—१-४६ प्रतिकार न करनेवालेको, सामने न होनेवालेको
अप्रदाय—३-१२ बिना दिये
अप्रमेयम्—११-१७, ४२ अमाप, प्रमाणसे बाहर
अप्रमेयस्य—२-१८ अमापका
अप्रवृत्तिः—१४-१३ प्रवृत्तिका अभाव, मंदता
अप्राप्य—६-३७; ९-३; १६-२० न पाकर (न पानेसे), न पाते हुए,
अप्रियम्—५-२० अप्रिय, अनिष्ट वस्तु
अप्सु—७-८ पानीमें
अफलप्रेप्सुना—१८-२३ फलेच्छा-रहित (पुरुष)के द्वारा
अफलाकाङ्क्षिभिः—१७-११, १७ जिन्हें फलकी इच्छा नहीं उनके द्वारा, फलेच्छाका त्याग करके
अबुद्धयः—७-२४ बुद्धिहीन, अज्ञानी, मूर्ख लोग
अब्रवीत्—१-२, २७; बोला; ४-१ कहा
अभक्ताय—१८-६७ जो भक्त नही है उसको—उसके लिए
अभयम्—१०-४; १६-१ अभय, निर्भयता
अभवत्—१-१३ था, हुआ
अभावयतः—२-६६ ध्यान-रहितको, जिसे भक्ति नही उसे
अभावः—२-१६ नाश, अभाव; १०-४ मृत्यु
अभाषत—११-१४ बोला

अभिक्रमनाशः—२-४० आरंभका नाश
अभिजनवान्—१६-१५ कुलीन
अभिजातस्य—१६-३, ४ (लेकर) जन्मे हुएका
अभिजातः—१६-५ (लेकर) जन्मा हुआ
अभिजानन्ति—९-२४ (वे) पहचानते है, जानते है
अभिजानाति—४-१४; ७-१३, २५; १८-५५ (वह) अच्छी तरह जानता है, पहचानता है
अभिजायते—२-६२; ६-४१; १३-२३ उत्पन्न होता है, जन्मता है
अभितः—५-२६ सर्वत्र, सब स्थितियोंमें, जीते जी और मरनेके बाद
अभिधास्यति—१८-६८ कहेगा, देगा
अभिधीयते—१३-१; १७-२७; १८-११ कहलाता है
अभिनन्दति—२-५७ हर्षित होता है
अभिप्रवृत्तः—४-२० तल्लीन हुआ, पूरी तरह प्रवृत्त हुआ
अभिभवति—१-४० आक्रमण करता है, डुबाए देता है
अभिभूय—१४-१० पराजय करके, दबाकर
अभिमानः—१६-४ अभिमान, गर्व
अभिमुखाः—११-२८ तरफ मुंह वाले, तरफ (होकर), अभिमुख
अभिरक्षन्तु—१-११ बराबर रक्षण करो
अभिरतः—१८-४५ निष्ठावाला, गुथा हुआ, रत (रहकर)
अभिविज्वलन्ति—११-२८ धधकते हुए, प्रकाशमान
अभिसंधाय—१७-१२ को उद्देश्य करके, के उद्देश्यसे
अभिहिता—२-३९ कही, कही हुई है
अभ्यधिकः—११-४३ ज्यादा, अधिक
अभ्यर्च्य—१८-४६ संतुष्ट करके, भजकर, पूजा करके
अभ्यसूयकाः—१६-१८ बहुत निंदा करनेवाले, दूसरेका उत्कर्ष सहन न करनेवाले
अभ्यसूयति—१८-६७ द्वेष करता है, दोष निकालता है
अभ्यसूयन्तः—३-३२ दोष निकालनेवाले

अयुक्तस्य—२-६६, जिसे समत्व न हो उसे

अयुक्तः—५-१२ अयोगी, अस्थिरचित्त; १८-२८ चंचल, असावधान, अव्यवस्थित

अयोगतः—५-६ कर्मयोगके बिना

अरतिः—१३-१० अप्रीति, (सम्मिलित होनेकी) अरुचि

अरागद्वेषतः—१८-२३ रागद्वेष के बिना

अरिसूदन—२-४ हे शत्रुका नाश करनेवाले कृष्ण

अर्चितुम्—७-२१ पूजना, भक्ति करना

अर्जुन—२-२, ४५; ३-७; ४-५, ६, ३७; ६-१६; ६-३२, ४६; ७-१६, २६; ८-१६, २७; ६-१६; १०-३२, ३६, ४२; ११-४७ ५४; १८-६, ३४, ६१ हे अर्जुन

अर्जुनम्—११-५० अर्जुनको

अर्जुनः—१-२१, ४७ अर्जुन

अर्थकामान्—२-५ द्रव्यकी कामनावालोंको, अर्थ और कामरूप (भोगोंको)

अर्थव्यपाश्रयः—३-१८ व्यक्तिगत लाभ, हानिलाभार्थ व्यवहार, प्रयोजनसंबंध

अर्थसंचयान्—१६-१२ द्रव्य-संचयको

अर्थः—२-४६; ३-१८ अर्थ, प्रयोजन, स्वार्थ

अर्थार्थी—७-१६ धनादिकी इच्छा-वाला, प्राप्तिकी इच्छावाला

अर्थे—१-३३, ३४ वास्ते; २-२७; ३-३४ के विषयमें

अर्पणम्—४-२४ अर्पण करनेकी, होमनेकी क्रिया, होमनेका साधन

अर्पितमनोबुद्धिः—८-७; १२-१४ जिसने मन तथा बुद्धि अर्पण की है

अर्यमा—१०-२६ पितरोंका देवता, अर्यमा

अर्हति—२-१७ (वे) शक्तिमान होते हैं, लायक होते हैं

अर्हसि—२-२५, २६, २७, ३०, ३१; ३-२०; ६-३६; १०-१६; ११-४४; १६-२४ (तू) लायक है, (तुझे) ठीक लगता है

अर्हाः—१-३७ योग्य

अलसः—१८-२८ आलसी

अवाप्स्यथ—३-११ प्राप्त होओगे
अवाप्स्यसि—२-३८, ५३; १२-१०; प्राप्त करेगा; २-३३ प्राप्त होगा
अविकम्पेन—१०-७ अचल, अविचल
अविकार्यः—२-२५ जो विकारको न प्राप्त हो
अविज्ञेयम्—१३-१५ जो न जाना जाए ऐसा
अविद्वांसः—३-२५ अज्ञानी
अविधिपूर्वकम्—९-२३, १६-१७; विधिरहित, अज्ञानपूर्वक, बिना विधिके
अविनश्यन्तम्—१३-२७ अविनाशीको
अविनाशि—२-१७ नाशरहित, अविनाशी
अविनाशिनम्—२-२१ अविनाशीको
अविपश्चितः—२-४२ अज्ञानी, अविवेकी लोग
अविभक्तम्—१३-१६ अखंडित, अविभक्त; १८-२० एकताको
अवेक्षे—१-२३ देखूं
अवेक्ष्य—२-३१ देखकर, समझकर
अव्यक्तनिधनानि—२-२८ जिनका अंतकाल अप्रकट है, जिनकी मरनेके बादकी स्थिति न देखी जा सके, ऐसे
अव्यक्तमूर्तिना—९-४ अप्रकट मूर्तिसे, (मेरे) अव्यक्त स्वरूपसे
अव्यक्तसंज्ञके—८-१८ जो अव्यक्त नामसे पहचाना जाता है उसमें
अव्यक्तम्—७-२४ अप्रकट, अव्यक्त, इन्द्रियोंसे अतीत; १२-१, ३ अव्यक्तको; १३-५ प्रकृति
अव्यक्तः—२-२५; ८-२०, २१ अव्यक्त, इन्द्रियोंके लिए अगम्य
अव्यक्ता—१२-५ अव्यक्त-निर्गुण-ब्रह्मसंबंधी
अव्यक्तात्—८-१८ प्रकृतिमेंसे, अव्यक्तमेंसे; ८-२० अव्यक्तसे, अव्यक्तकी अपेक्षा
अव्यक्तादीनि—२-२८ जिसका आरंभ अप्रकट है, जिसकी पूर्वकी स्थिति देखी नहीं जा सकती ऐसा
अव्यक्तासक्तचेतसाम्—१२-५ अव्यक्तका चिंतन करनेवालोंको, जिनका चित्त अव्यक्तमें लगा है उनको

अश्नन्—५-८ खाता हुआ
अश्नन्ति—९-२० (वे) भोगते हैं, सेवन करते हैं
अश्नामि—९-२६ (मैं) सेवन करता हूं
अश्नासि—९-२७ (तू) खाता है
अश्नुते—३-४; ५-२१; ६-२८; (वह) अनुभव करता है १३-१२; १४-२० प्राप्त होता है
अश्रद्दधानः—४-४० श्रद्धारहित
अश्रद्दधानाः—९-३ श्रद्धाहीन
अश्रद्धया—१७-२८ * श्रद्धाके बिना
अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्— २-१ आंसूसे जिसकी आंख भरकर व्याकुल हो गई है उसे, अश्रु-पूर्ण व्याकुल नेत्रवालेको
अश्रौषम्—१८-७४ (मैंने) सुना
अश्वत्थम्—१५-१, ३ अश्वत्थको, अश्वत्थ वृक्षको, आनेवाले क्षण तक न टिक सके ऐसे (क्षणभंगुर) को
अश्वत्थः—१०-२६ पीपल, अश्व-त्थ वृक्ष
अश्वत्थामा—१-८ द्रोणाचार्यका पुत्र
अश्वानाम्—१०-२७ घोड़ोंमें
अश्विनौ—११-६, २२ (दो) अश्विनीकुमार
अष्टधा—७-४ आठ प्रकारकी, आठ प्रकारके
असक्तबुद्धिः—१८-४९ अनासक्त बुद्धिवाला, जिसने आसक्ति खींच ली है
असक्तम्—९-९; १३-१४ आसक्तिरहित
असक्तः—३-७, १९, १९, २५ फलेच्छारहित, संगरहित
असक्तात्मा—५-२१ जिसका मन आसक्त नहीं
असक्तिः—१३-९ संगरहित होना
असंगशस्त्रेण—१५-३ असंगरूपी शस्त्रसे
असतः—२-१६ असत्‌का
असत्—९-१९; ११-३७; १३-१२; १७-२८ असत्
असत्कृतम्—१७-२२ सत्कार किये बिना, मान किये बिना
असत्कृतः—११-४२ अपमान किया हुआ, अपमानित
असत्यम्—१६-८ असत्य
असद्ग्राहान्—१६-१० अशुभ निश्चयोंको, दुष्ट इच्छाओंको

इषुभिः—२-४ बाणोंसे
इष्टकामधुक्—३-१० इच्छित फल देनेवाला (कामधेनु)
इष्टम्—१८-१२ सुखकर, शुभ
इष्टः—१८-६४ प्रिय; १८-७० पूजित
इष्टानिष्टोपपत्तिषु—१३-९ प्रिय और अप्रिय घटनाओंमें
इष्टान्—३-१२ इष्ट, इच्छित (भोगोंको)
इष्टा—१७-९ प्रिय
इष्ट्वा—९-२० पूजा करके, पूजकर
इह—२-५, ४०, ४१, ५०, ३-१६, १८-३७, ४-२, १२, ३८; ५-१९, २३; ६-४०, ७-२, ११-७, ३२; १५-३; १६-२४; १७-१८, २८ यही, इसमें, इस लोकमे

ई

ईक्षते—६-२९; १८-२० देखता है
ईड्यम्—११-४४ पूज्य (को)
ईदृक्—११-४९ ऐसा
ईदृशम्—२-३२; ६-४२ ऐसा, इस प्रकारका
ईशम्—११-१५, ४४ नियंताको, ईशको, ईश्वरको
ईश्वरभावः—१८-४३ प्रभुता, राज्यकर्तापन
ईश्वरम्—१३-२८ ईश्वरको
ईश्वरः—४-६ स्वामी, १५-८ जीवरूप बना हुआ यह मेरा अंशरूपी ईश्वर; १५-१७; १८-६१ ईश्वर, परमात्मा; १६-१४ ईश्वर, सर्वसंपन्न
ईहते—(वे) इच्छा करते है
ईहन्ते—१६-१२ (वे) इच्छा करते है

उ

उक्तम्—११-१, ४१; १२-२०; १३-१८, १५-२० कहा हुआ, उक्त, कहा गया
उक्तः—१-२४; ८-२१, १३-२२ कहा गया, कहा हुआ
उक्ताः—२-१८ कहे गये है, कहा है
उक्त्वा—१-४७; २-९, ११-९, २१, ५० कहकर, बोलकर
उग्रकर्माण —१६-९ घोर कर्म करनेवाले, भयानक काम करनेवाले

उदासीनवत्—९-९; १४-२३ उदासीन-जैसा
उदासीनः—१२-१६ तटस्थ, उदासीन
उदाहृतम्—१३-६; १७-११, २२ कहा है, कहा हुआ है; १८-२२, २४, ३९ कहलाया है, कहाता है
उदाहृत—१५-१७ कहा हुआ, कहाता है
उदाहृत्य—१७-२४ उच्चारण करके
उद्दिश्य—१७-२१ उद्देश्य करके—रखकर
उद्देशतः—१०-४० दृष्टान्तरूप, सारांशमें
उद्धरेत्—६-५ उद्धार करे
उद्भवः—१०-३४ उत्पत्ति, उत्पत्तिकारण
उद्यताः—१-४५ तैयार
उद्यम्य—१-२० चढाकर, उठाकर
उद्विजते—१२-१५, उद्वेग—संताप—क्षोभ पाता है
उद्विजेत्—५-२० संताप पाये, दुःख माने, दुःखी हो
उन्मिषन्—५-९ आंख खोलते
उपजायते—२-६२, ६५; १४-११ उत्पन्न होता है, का उद्भव होता है
उपजायन्ते—१४-२ उत्पन्न होते हैं
उपजुह्वति—४-२५ होम करते हैं, यज्ञ करते हैं
उपदेक्ष्यन्ति—४-३४ उपदेश देंगे, समझावेंगे
उपद्रष्टा—१३-२२ पासमें रहकर देखनेवाला, साक्षी, सर्वसाक्षी
उपधारय—७-६; ९-६ जान
उपपद्यते—२-३; १८-७ उचित है, शोभा देता है, योग्य है; ६-३९ मिल सकता है; १३-१८ योग्य बनता है
उपपन्नम्—२-३२ आया हुआ, प्राप्त हुआ
उपमा—६-१९ उपमा, तुलना
उपयान्ति—१०-१० पाते हैं
उपरतम्—२-३५ रुका हुआ, पीछे हटा हुआ
उपरमते—६-२० स्थिर होता है, शांत हो जाता है
उपरमेत्—६-२५ स्थिर हो, शांत हो जाय

ऋ

ए

ऐ

१८-७, १२ कर्मका—की
कर्मणा—३-२०; १८-६० कर्म-से, कर्मद्वारा
कर्मणाम्—३-४; ४-१२; ५-१; १४-१२, १८-२ कर्मोंका
कर्मणि—२-४७, ३-१, २२, २३, २५; ४-१८, २०; १४-९; १७-२६; १८-४५ कर्ममें, कर्मके सबंधमें
कर्मफलत्याग.—१२-१२ कर्म-के फलका त्याग
कर्मफलत्यागी—१८-११ कर्मके फलका त्याग करनेवाला
कर्मफलप्रेप्सु.—१८-२७ कर्म-फले-च्छु, कर्म-फलकी इच्छा-वाला
कर्मफलसयोगम्—५-१४ कर्म और फलकी सधि—मेल
कर्मफलहेतु—२-४७ कर्मके फलमे हेतु (इच्छा) रखनेवाला
कर्मफलम्—५-१२, ६-१ कर्म-के फलको
कर्मफलासङ्गम्—४-२० कर्मके फलके सबंधमे आसक्तिको, कर्मफलासक्ति
कर्मफले—४-१४ कर्मके फलके मबधमें

कर्मबन्धन:—३-९ कर्मके बधन-वाला
कर्मबन्धम्—२-३९ कर्मके बधनको
कर्मबन्धनै:—९-२८ कर्मबधनोंसे
कर्मभि:—३-३१; ४-२४ कर्मों-से, कर्मोंद्वारा
कर्मयोगम्—३-७ निष्कामकर्मको, कर्मयोगको
कर्मयोग:—५-२, २ कर्मोंका योग, कर्मयोग
कर्मयोगेन—३-३; १३-२४ कर्मयोगद्वारा
कर्मसङ्गिनाम्—३-२६ जो कर्मोंमें आसक्त है ऐसे मनुष्योकी, कर्ममे आसक्तिवालोकी
कर्मसङ्गिषु—१४-१५ कर्मकाडि-योंमें, कर्मसगी लोगोमें
कर्मसङ्गेन—१४-७ कर्मके पाशसे, कर्मके सगसे—आसक्तिसे
कर्मसमुद्भव:—३-१४ कर्मसे जिस-की उत्पत्ति होती है वह, कर्मसे होता है
कर्मसग्रह.—१८-१८ कर्मकी वस्तु, कर्मके अंग
कर्मसज्ञित:—८-३ कर्मसज्ञासे युक्त, कर्म कहलाता है

कर्मसंन्यासात्—५-२ कर्मत्याग-की अपेक्षा

कर्मसु—२-५०; ६-४, १७; ६-६ कर्मोंमें

कर्माणि—२-४८; ३-२७, ३०; ४-१४, ४१; ५-१०, १४; ९-९; १२-६, १०; १३-२९; १८-६, ११ ४१ कर्म (सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्म), कर्मोंको

कर्मानुबन्धीनि—१५-२ कर्मोंके बंधन उत्पन्न करनेवाले

कर्मिभ्यः—६-४६ कर्मठोंकी अपेक्षा, कर्मकांडियोंकी अपेक्षा

कर्मेन्द्रियाणि—३-६ कर्म करने-वाली इन्द्रियोंको, कर्मे-न्द्रियोको

कर्मेन्द्रियैः—३-७ कर्म करने-वाली इन्द्रियोंद्वारा

कर्षति—१५-७ खींचता है, आकर्षित करता है

कर्षयन्तः—१७-६ क्षीण करते हुए, कष्ट देते हुए

कलयताम्—१०-३० गिनती करनेवालोंमें, गिननेवालोंमें

कलेवरम्—८-५, ६ शरीरको, देहको

कल्पक्षये—९-७ प्रलयकालमें, कल्पके अंतमें

कल्पते—२-१५; १४-२६; १८-५३ के योग्य होता है

कल्पादौ—९-७ उत्पत्तिकालमें, कल्पके आरंभमें

कल्याणकृत्—६-४० पुण्यवान, कल्याणमार्गपर चलनेवाला

कवयः—४-१६; १८-२ विद्वान पुरुष, ज्ञानी लोग

कविम्—८-९ सर्वज्ञको

कविः—१०-३७ कवि

कवीनाम्—१०-३७ कवियोमे

कश्चन—३-१८; ६-२; ७-२६, ८-२७ कोई भी

कश्चित्—२-१७, २९; ३-५ १८, ६-४०; ७-३, १८-६९ कोई, कोई एक

कश्मलम्—२-२ मोह, मलिनता

कस्मात्—११-३७ किससे, कैसे, क्यों

कस्यचित्—५-१५ किसीका (भी)

कः—८-२, ११-३१; १६-१५ कौन

का—१-३६; २-२८, ५४; १७-१ क्या, कैसी

काङ्क्षति—५-३; १४-२२; १८-५४ इच्छा करता है

१२-१७ आशाएं बांधता है
काङ्क्षन्तः—४-१२ चाहते हुए
काङ्क्षितम्—१-३३ इच्छित
काङ्क्षे—१-३२ (मैं) इच्छा करता हूं, चाहता हूं
कामकामाः—९-२१ कामी, फलकी इच्छा करनेवाले
कामकामी—२-७० विषयेच्छु, कामवाला, फल चाहनेवाला
कामकारतः—१६-२३ स्वेच्छासे, अपनी इच्छासे
कामकारेण—५-१२ कामनाद्वारा, कामनावाला होकर
कामक्रोधपरायणाः—१६-१२ कामक्रोधमें फसे हुए
कामक्रोधवियुक्तानाम्—५-२६ जिन्होने काम और क्रोध त्याग दिये है उनका
कामक्रोधोद्भवम्—५-२३ काम और क्रोधसे उत्पन्न
कामधुक्—१०-२८ मनचाही वस्तु देनेवाली गाय, कामधेनु
कामभोगार्थम्—१६-१२ विषयभोगके लिए
कामभोगेषु—१६-१६ विषयभोगोंमें
कामम्—१६-१०, १८; १८-५३ विषयभोगेच्छाको, कामको
कामरागबलान्विताः—१७-५ विषयेच्छा और भोगाभिलाषाके बलसे युक्त, काम और रागके बलसे प्रेरित
कामरागविवर्जितम्—७-११ काम और रागसे रहित
कामरूपम्—३-४३ कामरूपको
कामरूपेण—३-३९ कामरूपसे
कामसंकल्पवर्जिताः—४-१९ कामना और संकल्परहित
कामहैतुकम्—१६-८ विषयभोग जिसका हेतु है ऐसा
काम्—६-३७ कैसी, कौन-सी
कामः—२-६२, १६-२१ कामना; ३-३७, ७-११ काम
कामात्—२-६२ कामनासे
कामात्मानः—२-४३ कामनावाले पुरुष
कामान्—२-५५, ७१; ६-२४; ७-२२ कामनाओंको
कामाः—२-७० कामनाएं, संसारके भोग
कामेप्सुना—१८-२४ फलभोगार्थीसे, भोगकी इच्छा रखनेवालेसे

ख

ग

गच्छति—६-३७, ४० जाता है, प्राप्त करता है
गच्छन्—५-८ चलते हुए
गच्छन्ति—२-५१; ५-१७; ८-२४; १४-१८; १५-५ जाते है, प्राप्त करते है
गजेन्द्राणाम्—१०-२७ गजेन्द्रोंमें, उत्तम हाथियोंमें
गतरसम्—१७-१० जिसमेंसे रस बह गया हो वह, बहुत पका हुआ, रसहीन
गतव्यथः—१२-१६ भयरहित, चिंतारहित
गतसङ्गस्य—४-२३ संगरहितका, आसक्तिरहितका
गतसंदेहः—१८-७३ संशय-रहित हुआ
गतः—११-५१ गया हुआ, पाया हुआ
गतागतम्—९-२१ गमन-आग-मनको, जन्म-मरणके फेरको, आवागमनको
गतासून्—२-११ मरे हुओंको
गताः—८-१५ प्राप्त हुए; १४-१ प्राप्त हो गये ह; १५-४ गये हुए
गतिम्—६-३७, ४५; ७-१८; ८-१३, २१; ९-३२; १३-२८; १६-२०, २२, २३ गतिको
गतिः—४-१७; ९-१८; १२-५ गति
गती—८-२६ (दो) गति, मार्ग
गत्वा—१४-१५; १५-६ जाकर, प्राप्त होकर
गदिनम्—११-१७, ४६ गदा-धारीको
गन्तव्यम्—४-२४ प्राप्त करने योग्य
गन्तासि—२-५२ (तू) जायगा, प्राप्त करेगा
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः—११-२२ गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके समुदाय—संघ
गन्धर्वाणाम्—१०-२६ गंधर्वोंमें
गन्धः—७-९ गंध, वास
गन्धान्—१५-८ गंधोंको
गम्यते—५-५ प्राप्त किया जाता है
गरीयसे—११-३७ महानको, बहुत बड़ेको
गरीयः—२-६ अधिक श्रेष्ठ (बहुत बड़ा)
गरीयान्—११-४३ श्रेष्ठ, बहुत बड़े
गर्भम्—१४-३ गर्भको

घ

च

चिरात्—१२-७ मुद्दत बाद, देर करके
चिरेण—५-६ लंबी मुद्दतमें, बहुत देर बाद
चूर्णितैः—११-२७ चूर चूर हुए
चेकितानः—१-५ राजाका नाम
चेत्—२-३३; ३-१, २४; ४-३६; ६-३०, १८-५८ जो
चेतना—१०-२२, १३-६ प्राण-शक्ति, बुद्धि-शक्ति, प्राणादिका व्यापार, अंतःकरणवृत्ति, चेतना, चेतनशक्ति
चेतसा—८-८; १८-५७, ७२ चित्तसे, मनसे
चेष्टते—३-३३ चलता है, बरतता है, चेष्टा करता है
चेष्टाः—१८-१४ क्रियाए
चैलाजिनकुशोत्तरम्—६-११ जिसकी सतहपर दर्भ, मृगचर्म और वस्त्र बिछा हुआ है, दर्भ, मृगचर्म और वस्त्र एकके ऊपर एक बिछा हुआ (आसन)
च्यवन्ति—९-२४ चूते है, गिरते हैं

छ

छन्दसाम्—१०-३५ छंदोमे
छन्दांसि—१५-१ वेद
छन्दोभिः—१३-४ मंत्रोंसे, छंदोंसे—में
छलयताम्—१०-३६ छलनेवालोंका, जुआरियोंका, छल (कपट) करनेवालोंका
छित्त्वा—४-४२; १५-३ छेदकर, नाश करके
छिन्दन्ति—२-२३ छेद करते है, नष्ट करते हैं
छिन्नद्वैधाः—५-२५ जिनकी द्विधा वृत्ति नष्ट हो गई है, संशयरहित हुए, जिनकी शंकाएं मिट गई हैं वे
छिन्नसंशय—१८-१० जिसका संशय नष्ट हो गया है वह, संशयरहित हुआ
छिन्नाभ्रम्—६-३८ बिखरे हुए बादल
छेत्ता—६-३९ छेद डालनेवाला, दूर करनेवाला
छेत्तुम्—६-३९ दूर करनेके लिए

ज

जगतः—७-६, ८-२६, ९-१७; १६-९ जगतका
जगत्—७-५, १३, ९-४, १०; १०-४२; ११-७, १३, ३०; १५-१२, १६-८ जगत

जहि—३-४३; ११-३४ त्याग, हनन कर, संहार कर, मार
जागर्ति—२-६९ (वह) जागता है
जाग्रतः—६-१६ जागनेवालेका (को)
जाग्रति—२-६९ (वे) जागते हैं
जातस्य—२-२७ जन्म लिये हुएकी
जाताः—१०-६ जन्मे हुए, उत्पन्न
जातिधर्माः—१-४३ जातिधर्म
जातु—२-१२; ३-५, २३ कभी भी, किसी भी समय
जानन्—८-२७ जानता हुआ, जाननेवाला
जानाति—१५-१९ (जो) जानता है
जाने—११-२५ (मैं) जानता हूं
जायते—१-२९, ४१; २-२०; १४-१५ (वह) होता है, उत्पन्न होता है, जन्म लेता है
जायन्ते—१४-१२, १३ (वे) उत्पन्न होते हैं,—उनका उदय होता है
जाह्नवी—१०-३१ गंगा नदी
जिगीषताम्—१०-३८ जय चाहनेवालोंकी
जिघ्रन्—५-८ सूंघता हुआ
जिजीविषामः—२-६ (हम) जीनेकी इच्छा रखते हैं
जिज्ञासुः—६-४४, ७-१६ जाननेकी इच्छावाला; आत्मज्ञानकी इच्छावाला
जितसङ्गदोषाः—१५-५ जिन्होंने संगदोष जीत लिया है, जिन्होंने आसक्तिसे होनेवाले दोषोंको दूर कर दिया है वे
जितः—५-१९; ६-६ जीता हुआ
जितात्मनः—६-७ जितेन्द्रियका, जिसने अपना मन जीता है उसका (-को)
जितात्मा—१८-४९ जितेन्द्रिय. जिसने मनको जीता है वह
जित्वा—२-३७; ११-३३ जीतकर
जितेन्द्रियः—५-७ जिसने इन्द्रियोंको जीता है वह
जीर्णानि—२-२२, २२ जीर्ण, पुराने
जीवति—३-१६ (वह) जीता है, जीवित है
जीवनम्—७-९ आयुष्य, जीवन
जीवभूतः—१५-७ जीवरूपमें, जीवात्मा

तत्प्रसादात्—१८-६२ उसकी दयासे, उसकी कृपाद्वारा

तत्र—१-२६; २-१३, २८; ६-१२, ४३; ८-१८, २४, २५; ११-१३; १४-६, १८-४, १६, ७८ वहां, उसमें, उसके सबधमें

तथा—१-८ इत्यादि—और, वैसे ही; २-१, १३, २२, ३-२५, ३८; ४-३७; ६-६; ११-२८, २६, ४६, ५०; १२-३२, ३३; १४-१५, १८-५०, ६३ वैसे, उसी प्रकार; ११-५० भले, (ऐसा हो), १५-३ यथार्थ, जैसा है वैसा

तथापि—२-२६ तो भी

तदनन्तरम्—१८-५५ उसके (मौत के) बाद, तदनन्तर

तदर्थम्—३-६ उसके निमित्त, यज्ञके निमित्त

तदर्थीयम्—१७-२७ उसी निमित्तसे, 'तत्'के निमित्त किये हुए (कर्म)

तदा—१-२, २१; २-५२, ५३, ५५; ४-७; ६-४, १८; ११-१३; १३-३०; १४-११, १४ उस समय, तब

तदात्मान:—५-१७ वही जिनकी आत्मा है वे, तन्मय हुए

तद्बुद्धय:—५-१७ उसमें (ब्रह्म-में) ही जिनकी बुद्धि है वे, उसका (ईश्वरका) ध्यान॰ करनेवाले

तद्भावभावित:—८-६ उसी स्वरूपमें एकरूप हुआ, उस स्वरूपका चिंतन करनेवाला

तद्वत्—२-७० उस प्रकार, ऐसे

तद्विद:—१३-१ उसे (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञको) जाननेवाले, तत्त्वज्ञानी

तनुम्—७-२१; ६-११ देहको, मूर्तिको, स्वरूपको

तन्निष्ठा:—५-१७ उसीमें जिनकी निष्ठा है ऐसे, उसमे स्थिर रहनेवाले

तपन्तम्—११-१६ तपाते हुए को, तपानेवालेको

तपसा—११-५३ तपसे, तप द्वारा

तपसि—१७-२७ तपमें, तपके विषयमें

तपस्यसि—६-२७ (तू) तप करता है (—करे)

द

सकनेवालेको, कठिनाईसे देखे जा सकनेवालेको

दुर्बुद्धेः—१-२३ दुर्बुद्धि (का) (खोटी बुद्धि वाले दुर्योधन का)

दुर्मतिः—१८-१६ मूर्ख, दुर्मति

दुर्मेधाः—१८-३५ दुर्मति, दुर्बुद्धि

दुर्योधनः—१-२ दुर्योधन राजा

दुर्लभतरम्—६-४२ अधिक दुर्लभ, बहुत दुर्लभ

दुष्कृताम्—४-८ पापकारियोंका, दुष्टोंका

दुष्कृतिनः—७-१५ पापी, दुराचारी

दुष्टासु—१-४१ दूषित हुई (स्त्रियों) मे, दूषित होनेपर

दुष्पूरम्—१६-१० तृप्त न होनेवाली, किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली

दुष्पूरेण—३-३९ तृप्त न किये जा सकनेवाले—संतुष्ट न किया जा सकनेवाले (कामरूपी अनल द्वारा)

दुष्प्रापः—६-३६ प्राप्त करनेमें कठिन, अशक्य (जैसा)

दुःखतरम्—२-३६ अधिक दुःखकारक

दुःखम्—५-६; १२-५; कठिनाईसे, कष्टसे ६-३२; १०-४; १३-६; १४-१६ दुःख, दुःखको; १८-८ दुःखकारक

दुःखयोनयः—५-२२ दुःखके मूल

दुःखशोकामयप्रदाः—१७-९ दुःख, शोक और रोग (आमय) उत्पन्न करनेवाले

दुःखसंयोगवियोगम्—६-२३ दुःखके समागमका वियोग, दुःखके प्रसंगसे रहित (स्थिति) को

दुःखहा—६-१७ दुःखका नाश करनेवाला, दुःखभंजन

दुःखान्तम्—१८-३६ दुःखके अंतको

दुःखालयम्—८-१५ दुःखका घर

दुःखेन—६-२२ दुःखसे

दुःखेषु—२-५६ दुःखोंमें

दूरस्थम्—१३-१५ दूर रहा हुआ

दूरेण—२-४९ बहुत, अधिक

दृढनिश्चयः—१२-१४ दृढ़निश्चयवाला

दृढम्—६-३४; १८-६४ अतिशय, बहुत

दृढव्रताः—७-२८ अडिग व्रतवाले, ९-१४ दृढ़ निश्चयवाले

दृढेन—१५-३ बलवान, मजबूत (द्वारा)

दृष्टपूर्वम्—११-४७ पहले देखा हुआ

ध

धर्म्यात्—२-३१ धार्मिक (युद्ध)से
धर्म्यामृतम्—१२-२० धर्मरूपी अमृतको, पवित्र अमृतरूप ज्ञानको
धाता—९-१७ धारण करनेवाला; १०-३३ रक्षण करनेवाला
धातारम्—८-९ विधाताको, पालनहारको
धाम—८-२१; १०-१२; ११-३८; १५-६ स्थान, धाम
धारयते—१८-३३, ३४ (वह) धारण करता है, चलाता है
धारयन्—५-९ मानता हुआ, भावना रखकर ६-१३, रखता हुआ, रखकर
धारयामि—१५-१३ (मैं) धारण करता हूं
धार्तराष्ट्रस्य—१-२३ धृतराष्ट्र-पुत्र—दुर्योधन—का
धार्तराष्ट्राणाम्—१-१९ धृत-राष्ट्रके पुत्रोंके, कौरवोंके
धार्तराष्ट्रान्—१-२०, ३६, ३७ धृतराष्ट्रके पुत्रोंको, कौरवोंको
धार्तराष्ट्राः—१-४६; २-६ धृत-राष्ट्रके पुत्र, कौरव
धार्यते—७-५ धारण किया जाता है
धिष्ठितम्—१३-१७ अधिष्ठित, रहा हुआ
धीमता—१-३ बुद्धिमान (द्वारा)
धीमताम्—६-४२ बुद्धिमानोंका, ज्ञानवानोंका
धीरम्—२-१५ स्थिरबुद्धिको, ज्ञानीको
धीरः—२-१३; १४-२४ ज्ञानी, बुद्धिमान पुरुष, धीर
धूमः—८-२५ धुआं
धूमेन—३-३८; १८-४८ धुएंसे
धृतराष्ट्रस्य—११-२६ धृतराष्ट्रका
धृतराष्ट्रः—१-१ दुर्योधनादिका अंधा पिता
धृतिगृहीतया—६-२५ दृढ हुई, धृतियुक्त, अडिग (द्वारा)
धृतिम्—११-२४ धीरज (को)
धृतिः—१०-३४; १३-६, १६-३; १८-३३, ३४, ३५, ४३ धीरज, धैर्य, धृति
धृतेः—१८-२९ धीरजका, धृतिका
धृत्या—१८-३३, ३४ धैर्यसे, धृतिसे; १८-५१ दृढ़तापूर्वक
धृत्युत्साहसमन्वितः—१८-२६ धृति—दृढता और उत्साहवाला
धृष्टकेतुः—१-५ राजाका नाम
धृष्टद्युम्नः—१-१७ द्रुपदका पुत्र धृष्टद्युम्न

न

नराधमान्—१६-१६ अधम लोगों-को, नीचोंको
नराधमाः—७-१५ अधम मनुष्य
नराधिपम्—१०-२७ राजाको
नरैः—१७-१७ पुरुषोंसे, मनुष्यों-द्वारा
नवद्वारे—५-१३ नवद्वारवाले (नगररूपी शरीर) में, (दो कान, दो नाक, दो आंख, मुह, गुदा और उपस्थ इन नौ द्वारोंवाले,
नवानि—२-२२ नए
नश्यति—६-३८ (वह) नष्ट होता है
नश्यत्सु—८-२० नाश होते हुए, नाश होनेपर भी
नष्टः—४-२, १८-७३ नाशको पहुचा हुआ, नाशको प्राप्त
नष्टात्मान.—१६-९ नष्ट बुद्धि-वाले लोग, दुष्ट
नष्टान्—३-३२ नाश पाये हुओंको
नष्टे—१-४० नष्ट होने पर—से
नः—१-३२, ३३, ३६; २-६ हमारा, हमारे लिए, हमें, हमको
नातिमानिता—१६-३ निरभि-मानपन
नागानाम्—१०-२९ नागोंमें
नानाभावान्—१८-२१ जुदे-जुदे (विभक्त) भावोंको
नानावर्णाकृतीनि—११-५ जुदे-जुदे रंग और आकार-के—वाले
नानाविधानि—११-५ जुदे-जुदे प्रकारके
नानाशस्त्रप्रहरणाः—१-९ नाना प्रकारके शस्त्र धारण करने-वाले, नाना प्रकारके शस्त्रास्त्रवाले
नान्यगामिना—८-८ अन्य कही न दौड़ते हुए, और कही न दौड़ने देकर
नामयज्ञैः—१६-१७ केवल नाम मात्रके यज्ञद्वारा
नायकाः—१-७ नायक लोग
नारदः—१०-१३, २६ देवर्षि नारद
नारीणाम्—१०-३४ स्त्रियोंमें, नारीजातिके नामोंमें
नावम्—२-६७ वाहनको, नौकाको
नाशनम्—१६-२१ नाश करने-वाला
नाशयामि—१०-११ (मैं) नाश करता हूं

नाशाय—११-२९ नाशके लिए—अभिप्रायसे

नाशितम्—५-१६ नाश किया हुआ, नष्ट

नासाभ्यन्तरचारिणौ—५-२७ नाकके अंदर चलते हुए, नासिकाके द्वारा चलते हुए (जाते-आते)

नासिकाग्रम्—६-१३ नाककी नोकको, नासिकाग्रको

निगच्छति—९-३१, १[illegible]३६ पाता है, प्राप्त करता है

निगृहीतानि—२-६८ खींच ली हुई, वशमें की हुई

निगृह्णामि—९-१९ (मैं) पकड़ रखता हू, रोके रखता हू

निग्रहम्—६-३४ निरोध, अंकुश, वशमें करना

निग्रहः—३-३३ काबूमे रखना, बलात्कार

नित्यजातम्—२-२६ नित्य जन्म लेनेवालेको

नित्यतृप्तः—४-२० हमेशा सतुष्ट, सदा सतुष्ट

नित्यम्—२-२१ नित्य; २-२६, ३०; ३-१५, ३१; ९-६; १०-९; ११-५२; १३-९; १८-५२ हमेशा

नित्ययुक्तस्य—८-१४ निरंतर समाहितका, नित्ययुक्तका (को)

नित्ययुक्तः—७-१७ निरंतर समाहित, नित्य समभावी

नित्ययुक्ता —९-१४; १२-२ नित्य ध्यान धरनेवाले

नित्यवैरिणा—३-३९ सनातन शत्रुसे, नित्यके शत्रुद्वारा

नित्यशः—८-१४ हमेशा, निरतर

नित्यसत्त्वस्थः—२-४५ हमेशा सात्त्विक वृत्तिवाला, नित्य सत्य वस्तुमें स्थित

नित्यसन्न्यासी—५-३ सदा ही सन्न्यासी

नित्यस्य—२-१८ नित्यका, नित्य रहनेवालेका

नित्यः—२-२०, २४ नित्य

नित्याभियुक्तानाम्—९-२२ निरंतर समाहित चित्तवालोंका, नित्य मेरेमें ही रत रहे हुओंका

निद्रालस्यप्रमादोत्थम्—१८-३९ निद्रा, आलस्य और प्रमादमेसे उत्पन्न हुआ

निधनम्—३-३५ अंत, मौत

निधानम्—९-१८ भंडार; ११-१८, ३८ आधार, आश्रय-स्थान
निन्दन्तः—२-३६ निंदा करते हुए
निबद्धः—१८-६० बंधा हुआ
निबध्नन्ति—४-४१; ९-९; १४-५ (वे) बांधते है
निबध्नाति—१४-७, ८ (वह) बांधता है
निबन्धाय—१६-५ बंधनके लिए
निबध्यते—४-२२, ५-१२; १८-१७ (वह) बंधता है, बंधनमें पड़ता है
निबोध—१-७; १८-१३, ५० सुन, पहचान, समझ ले
निमित्तमात्रम्—११-३३ केवल निमित्तरूप
निमित्तानि—१-३१ शकुन, चिह्न, लक्षणोको
निमिषन्—५-९ आंख बंद करते हुए—मीचते हुए
नियतम्—१-४४ ठीक, अवश्य; ३-८, १८-९, २३ नियत, जो स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेके कारण अवश्य करने योग्य है ऐसा, इन्द्रियोंको नियममें रखकर किया हुआ (कर्म)
नियतमानसः—६-१५ जिसने अपना मन नियममें रखा है वह
नियतस्य—१८-७ नियत (कर्म) का
नियतात्मभिः—८-२ व्यवस्थित चित्तवालोंसे, संयमियोंद्वारा
नियताहाराः—४-३० आहारको नियममें रखनेवाले
नियताः—७-२० प्रेरित हुए, दौड़ाए हुए
नियमम्—७-२० नियमको, विधिको
नियम्य—३-७, ४१; ६-२६; १८-५१ नियममें, वशमें रखकर
नियोक्ष्यति—१८-५९ जोड़ेगा, प्रेरित करेगा, बलात् घसीट लें जायगा
नियोजयसि—३-१ (तू) प्रेरित करता है, (में) लगाता है
नियोजितः—३-३६ नियुक्त, प्रेरित
निरग्निः—६-१ यज्ञादिके लिए अग्नि न रखनेवाला, अग्निका त्याग करनेवाला
निरहंकारः—२-७१; १२-१३ अहंकाररहित
निराशीः—३-३०; ४-२१;

१५-६ (वे) पीछे लौटते हैं, फिर जन्म लेते हैं
निवर्तितुम्—१-३९ हटनेके लिए, बचनेके लिए
निवसिष्यसि—१२-८ निवास करेगा
निवातस्थ—६-१९ वायुरहित स्थानमें रहा हुआ
निवास—९-१८ (प्राणियोका) वासस्थान, निवास
निवृत्तानि—१४-२२ नष्ट होनेपर, प्राप्त न होनेपर, निवृत्त होनेपर
निवृत्तिम्—१६-७, १८-३० अकर्तव्य, निवृत्तिको
निवेशय—१२-८ प्रवेश करा, धारण कर, लगा
निशा—२-६९ रात्रि
निश्चयम्—१८-४ निश्चय, निर्णय
निश्चयेन—६-२३ दृढतापूर्वक निश्चयसे
निश्चरति—६-२६ चलायमान होता, भागता है
निश्चला—२-५३ निश्चल, स्थिर
निश्चितम्—२-७, १८-६ निश्चयपूर्वक, निश्चित, तय
निश्चिता:—१६-११ निश्चयवान, निश्चय करनेवाले
निश्चित्य—३-२ तय करके, निश्चयपूर्वक
निष्ठा—३-३; १७-१; १८-५० स्थिति, मार्ग, अवस्था, निष्ठा, गति
निस्त्रैगुण्य—२-४५ तीनो गुणोसे रहित, तीनो गुणोंसे अलिप्त
निहता—११-३३ हनन किये हुए, मारे हुए
निहत्य—१-३६ मारकर, हनन करके
निःश्रेयसकरौ—५-२ मोक्षदायक, परमकल्याणकारक
निःस्पृह—२-७१, ६-१८ इच्छारहित
नीति—१०-३८ राजनीति, नीति; १८-७८ न्याय, न्यायसगत बर्ताव, नीति
नु—१-३५, २-३६ मात्र, के द्वारा
नृलोके—११-४८ नरलोकमें, मृत्युलोकमें
नृषु—७-८ लोगोमे, पुरुषोमे
नैष्कर्म्यसिद्धिम्—१८-४९ निष्कर्मभावकी प्राप्तिको, नैष्कर्म्य-

पूर्वजन्मसंस्कार—स्वभावका, प्रकृतिका

प्रकृत्या—७-२०, १३-२६ प्रकृति-द्वारा

प्रजन.—१०-२८ प्रजोत्पत्ति करनेवाला

प्रजहाति—२-५५ (वह) तजता है, त्यागता है

प्रजहीहि—३-४१ छोड़ ('मार' इस अर्थका 'प्रजहि' पाठ भी है)

प्रजानाति—१८-३१ (वह) जानता है, समझता है

प्रजानामि—११-३१ (मैं) जानता हूं

प्रजापति.—३-१०, ११-३९ ब्रह्मा, प्रजापति

प्रजा.—३-१०, २४ लोगोंको, प्रजाको; १०-६ प्रजा, संतति

प्रज्ञा—२-५७, ५८, ६१, ६८ बुद्धि

प्रज्ञाम्—२-६७ बुद्धिको

प्रज्ञावादान्—२-११ पंडिताईके वचन—बोल

प्रणम्य—११-१४, ३५, ४४ प्रणाम करके

प्रणयेन—११-४१ स्नेहसे, प्रेमसे

प्रणव.—७-८ ओंकार, ॐ

प्रणश्यति—२-६३; ६-३०; ९-३१ (वह) नष्ट होता है

प्रणश्यन्ति—१-४० (वे) नाशको प्राप्त होते हैं

प्रणश्यामि—६-३० (मैं) नाशको प्राप्त होता हूं (परोक्ष—दूर—होता हूं)

प्रणष्ट:—१८-७२ नष्ट

प्रणिधाय—११-४४ नीचा करके, नवाकर

प्रणिपातेन—४-३४ नमस्कार-द्वारा, विनयपूर्वक, नम्रता-पूर्वक

प्रतपन्ति—११-३० तपता है, तपा रहा है

प्रतापवान्—१-१२ प्रतापी

प्रति—२-४३ तरफ, लिए, के वास्ते

प्रतिजानीहि—९-३१ (तू) निश्चय-पूर्वक जान

प्रतिजाने—१८-६५ (मैं) प्रतिज्ञा करता हूं

प्रतिपद्यते—१४-१४ (वह) पाता है, प्राप्त होता है

प्रतियोत्स्यामि—२-४ (मैं) सामने आऊं, लड़ूं (सामना करूंगा, लड़ूंगा)

प्रतिष्ठा—१४-२७ स्थान, स्थिति

प्रमाणम्—३-२१; १६-२४ प्रमाण

प्रमाथि—६-३४ मथनेवाली, क्षोभ-कारक

प्रमाथीनि—२-६० मंथन करने-वाली

प्रमादमोहौ—१४-१७ प्रमाद (असावधानी) और मोह

प्रमादः—१४-१३ प्रमाद, असावधानी

प्रमादात्—११-४१ गफलतसे, भूलसे

प्रमादालस्यनिद्राभिः—१४-८ प्रमाद (कर्तव्य न करना, अकर्तव्य करना), आलस (उत्साह-प्रतिबंध) और निद्रा-द्वारा, असावधानी, आलस और निद्रासे (-के पाशसे)

प्रमादे—१४-९ कर्तव्यशून्यतामें

प्रमुखे—२-६ सामने

प्रमुच्यते—५-३; १०-३ (वह) छूटता है, मुक्त होता है

प्रयच्छति—९-२६ (वह) देता है, अर्पण करता है

प्रयतात्मनः—९-२६ नित्य शुद्ध चित्तवाले पुरुषकी, प्रयत्न-शील मनुष्यकी

प्रयत्नात्—६-४५ विशेष प्रयत्नसे

प्रयाणकाले—७-३०; ८-२, १० मृत्युसमयमें

प्रयाताः—८-२३, २४ गये हुए, मृत

प्रयाति—८-५, १३ (वह) जाता है, मरता है

प्रयुक्तः—३-३६ प्रेरा हुआ, प्रेरित किया हुआ

प्रयुज्यते—१७-२६ (वह) प्रयुक्त होता है, का प्रयोग होता है

प्रलपन्—५-९ बोलता हुआ

प्रलयम्—१४-१४, १५ प्रलय, मृत्यु, मौत (को)

प्रलयः—७-६; ९-१८ नाश, मरण, नाशका कारण

प्रलयान्ताम्—१६-११ मौतके साथ अंत पानेवाली, प्रलयतक जिसका अंत ही नही ऐसी

प्रलये—१४-२ प्रलयकालमें

प्रलीनः—१४-१५ मृत्यु-प्राप्त, मृत, मरा हुआ

प्रलीयते—८-१९ (वह) लय होता है, नाशको प्राप्त होता है

प्रलीयन्ते—८-१८ (उनका) प्रलय होता है, (वे) लय होते हैं
प्रवक्ष्यामि—४-१६, ६-१; १३-१२; १४-१ (मैं) कहूंगा, ठीक कहूंगा
प्रवक्ष्ये—८-११ (मैं) कहूंगा, वर्णन करूंगा
प्रवदताम्—१०-३२ वाद (विवाद) करनेवालोंका
प्रवदन्ति—२-४२, ५-४ (वे) कहते है, बोलते है
प्रवर्तते—५-१४, १०-८ (वह) चलता है, बरतता है, करता है
प्रवर्तन्ते—१६-१०; १७-२४ (वे) चलते है, बरतते हैं
प्रवर्तितम्—३-१६ चलाए हुए
प्रविभक्तम्—११-१३ जुदा-जुदा विभागोंमें पडे हुए, विभक्त हुए
प्रविभक्तानि—१८-४१ भिन्न-भिन्न—जुदा किए हुए
प्रविलीयते—४-२३ (वह) लय—नाशको—प्राप्त होता है
प्रविशन्ति—२-७० (वे) प्रवेश करते हैं
प्रवृत्तः—११-३२ प्रवृत्त हुआ
प्रवृत्तिम्—११-३१; १४-२२; १६—७; १८-३० चेष्टा, व्यापार, राजसी कार्य, प्रवृत्तिको
प्रवृत्तिः—१४-१२ प्रवृत्ति; १५-४ संसार, माया, प्रवृत्ति; १८-४६ उत्पत्ति, व्यापार, प्रवृत्ति
प्रवृत्ते—१-२० प्रवृत्त होनेपर, चालू होनेपर
प्रवृद्धः—११-३२ वृद्धि पाया हुआ
प्रवृद्धे—१४-१४ वृद्धि पाये हुएमें, वृद्धि पानेपर
प्रवेष्टुम्—११-५४ प्रवेश करनेके लिए, सायुज्य मुक्ति पानेके लिए
प्रव्यथितम्—११-२०, ४५ भयभीत हुआ, त्रस्त, व्याकुल
प्रव्यथितान्तरात्मा—११-२४ जिसका आत्मा व्याकुल हुआ है ऐसा
प्रव्यथिताः—११-२३ भयभीत, त्रस्त (हो गए है)
प्रशस्ते—१७-२६ श्रेष्ठ, अच्छे
प्रशान्तमनसम्—६-२७ जिसका मन अच्छी प्रकार शांत हुआ है उसे, शांतचित्तको

प्रशान्तस्य—६-७ शांतचित्तका, संपूर्ण रीतिसे शांत हुएका

प्रशान्तात्मा—६-१४ जिनका ग्रंतःकरण पूर्ण शांत है ऐसा (पूर्ण शांतिसे युक्त)

प्रसक्ताः—१६-१६ आसक्त, मस्त हुए

प्रसङ्गेन—१८-३४ प्रसंगके आनेपर, आसक्तिसे (–पूर्वक)

प्रसन्नचेतसः—२-६५ प्रसन्न चित्तवालेकी, प्रसन्नता प्राप्त किये हुएकी

प्रसन्नात्मा—१८-५४ प्रसन्नचित्त

प्रसन्नेन—११-४७ प्रसन्न होनेवालेके द्वारा, प्रसन्न होकर

प्रसभम्—२-६० बलात्कारसे; ११-४१ अनुचित रीतिसे

प्रसविष्यध्वम्—३-१० (तुम) वृद्धिको प्राप्त होओ

प्रसादये—११-४४ (मैं) प्रसन्न करता हू, प्रसन्न होनेकी प्रार्थना करता हू

प्रसादम्—२-६४ शांति, प्रसन्नता (को)

प्रसादे—२-६५ प्रसादमें, चित्तप्रसन्नतासे, चित्त प्रसन्न होनेपर

प्रसिद्धयेत्—३-८ (वह) सिद्ध हो, चले

प्रसीद—११-२५, ३१, ४५ (तू) प्रसन्न हो

प्रसृता—१५-४ प्रसृत, प्रसार की हुई

प्रसृताः—१५-२ प्रसृत है

प्रहसन्—२-१० हंसते-हंसते

प्रहास्यसि—२-३९ (तू)—से छूटेगा, छोडेगा, तोडेगा

प्रहृष्यति—११-३६ (वह) हर्ष पाता है

प्रहृष्येत्—५-२० (वह) हर्षित हो, सुख माने

प्रह्लाद—१०-३० भक्त प्रह्लाद

प्राकृतः—१८-२८ पामर, असंस्कारी

प्राक्—५-२३ पहले

प्राञ्जलयः—११-२१ जिनके हाथ जुडे है ऐसे, हाथ जोड़कर, हाथ जोड़े हुए

प्राणकर्माणि—४-२७ प्राणकर्मोंको

प्राणम्—४-२९; ८-१०, १२ प्राणवायुको, प्राणको

प्राणान्—१-३३; ४-३० प्राणोको,

प्राणापानगती—४-२६ प्राण और अपान वायुकी (दो) गतियोंको
प्राणापानसमायुक्तः—१५-१४ प्राण और अपान वायुसे युक्त (होकर)
प्राणापानौ—५-२७ प्राण और अपान वायुको
प्राणायामपरायणाः—४-२६ प्राणायाममें तत्पर रहनेवाले
प्राणिनाम्—१५-१४ प्राणियोंके
प्राणे—४-२६ प्राणवायुमें
प्राणेषु—४-३० प्राणोंमें
प्राधान्यतः—१०-१६ मुख्यरूपसे, मुख्य-मुख्य
प्राप्तः—१८-५० प्राप्त
प्राप्नुयात्—१८-७१ (वह) प्राप्त करे
प्राप्नुवन्ति—१२-४ (वे) प्राप्त करते है
प्राप्य—२-५७, ७२; ५-२०; ६-४१; ८-२१, २५; ६-३३ प्राप्त करके, पाकर
प्राप्यते—५-५ प्राप्त किया जाता है
प्राप्स्यसि—२-३७; १८-६२ (तू) पायेगा, प्राप्त करेगा
प्राप्स्ये—१६-१३ (मैं) पाऊंगा, पूरा करूंगा
प्रारभते—१८-१५ (वह) आरंभ करता है
प्रार्थयन्ते—६-२० (वे) प्रार्थना करते हैं, मांगते हैं
प्राह—४-१ कहा
प्राहुः—६-२; १३-१; १५-१; १८-२, ३ (वे) कहते हैं
प्रियकृत्तम.—१८-६६ अधिक प्रिय करनेवाला (भक्त—सेवक)
प्रियचिकीर्षवः—१-२३ प्रिय करनेकी इच्छावाले
प्रियतरः—१८-६६ अधिक प्रिय
प्रियम्—५-२० प्रिय, इष्ट वस्तु
प्रियहितम्—१७-१५ (कर्णको) प्रिय और (परिणाममें) हितकर
प्रियः—७-१७, ६-२६; ११-४४, १२-१४, १५, १६, १७, १६; १७-७; १८-६५ प्रिय, इष्ट
प्रिया—१२-२० प्रिय
प्रियाय—११-४४ प्रियजनके लिए
प्रीतमना—११-४६ प्रसन्न मनवाला, शांतचित्त

प्रीतिपूर्वकम्—१०-१० प्रेमसहित, प्रेमपूर्वक
प्रीतिः—१-३६ सुख, आनद
प्रीयमाणाय—१०-१ संतोषीके लिए, प्रियजनके लिए
प्रेतान्—१७-४ प्रेतोंको
प्रेत्य—१७-२८; १८-१२ परलोकमें, मृत्युको प्राप्त होकर
प्रोक्तम्—८-१; १३-११; १७-१८; १८-३७ कहा हुआ, कहाता है
प्रोक्तवान्—४-१, ४ (वह) कहाता था; (उसने) कहा
प्रोक्तः—४-३; ६-३३, १०-४०; १६-६ कहा हुआ है
प्रोक्ता—३-३ कही गई है
प्रोक्तानि—१८-१३ कहे गए, कहे हुए
प्रोच्यते—१८-१९ कहे जाते है
प्रोच्यमानम्—१८-२९ कहे हुएको, कहे गयेको
प्रोतम्—७-७ पिरोया हुआ, गूथा हुआ

फ

फलम्—२-५१, ५-४; ७-२३; ६-२६; १४-१६; १७-१२, २१, २५; १८-६, १२ फल, फलको
फलहेतवः—२-४९ फलके हेतु, फलके उद्देश्यसे कर्म करनेवाले
फलाकाङ्क्षी—१८-३४ फलकी आकांक्षा—इच्छा—रखनेवाला, फलेच्छावाला
फलानि—१८-६ फलोंको
फले—५-१२ फलमें
फलेषु—२-४७ फलोमे

ब

बत—१-४५ खेददर्शक उद्गार, (कैसी दु:खकी बात है!)
बद्धाः—१६-१२, बधे हुए, फंसे हुए
बध्नाति—१४-६ (वह) बाधता है
बध्यते—४-१४ (वह) बंधता है
बन्धम्—१८-३० बधनको
बन्धात्—५-३ बधनसे
बन्धुः—६-५, ६ भाई, बंधु, सगा, मित्र
बन्धून्—१-२७ भाइयोंको बांधवोंको
बभूव—२-९ (वह) हुआ

भावयन्तः—३-११ पोषण करके
भावयन्तु—३-११ पोषण करें
भावसमन्विताः—१०-८ भावना-वाले, प्रेमयुक्त, भाव-पूर्वक
भावसंशुद्धिः—१७-१६ अंतः-करणकी निर्मलता, भावना-शुद्धि
भावः—२-१६ अस्तित्व, हस्ती; ८-४, २० भाव, तत्त्व, स्वरूप; १८-१७ भाव, भावना
भावाः—७-१२ भाव, पदार्थ; १०-५ भाव, भावना
भावेषु—१०-१७ पदार्थोंमें, भावोंमें, रूपोंमें
भावैः—७-१३ भावोंसे, स्वभावों-से
भाषसे—२-११ (तू) बोलता है
भाषा—२-५४ लक्षण, व्याख्या
भासयते—१५-६, १२ प्रका-शित करता है
भासः—११-१२ तेजका, कांतिका, ११-३० तेज, प्रकाश
भास्वता—१०-११ प्रकाशमय, उज्ज्वल (ज्ञानदीप) से
भाः—११-१२ तेज
भिन्ना—७-४ भेदवाली, भिन्न
भीतभीतः—११-३५ भयभीत हुआ
भीतम्—११-५० भयभीत (अर्जुन) को
भीतानि—११-३६ भयभीत हुए
भीताः—११-२१ भयभीत होकर
भीमकर्मा—१-१५ पराक्रमी, भयानक कर्मवाला
भीमाभिरक्षितम्—१-१० भीम-द्वारा रक्षित
भीमार्जुनसमाः—१-४ भीम और अर्जुनके समान
भीष्मद्रोणप्रमुखतः—१-२५ भीष्म और द्रोणके सामने
भीष्मम्—१-११; २-४; ११-३४ भीष्मको
भीष्मः—१-८; ११-२६ भीष्म-पितामह
भीष्माभिरक्षितम्—१-१० भीष्म-द्वारा रक्षित (सेना)
भुक्त्वा—९-२१ भोगकर
भुङ्क्ते—३-१२; १३-२१ (वह) भोगता है
भुङ्क्ष्व—११-३३ (तू) भोग
भुञ्जते—३-१३ (वे) भोगते हैं, खाते हैं

भुञ्जानम्—१५-१० भोगनेवालेको

भुञ्जीय—२-५ मैं भोगूं

भुवि—१८-६९ पृथ्वीमें

भूतगणान्—१७-४ भूतगणोंको

भूतग्रामम्—९-८ प्राणियोंके समुदायमात्रको—सारे समुदायको; १७-६ (पञ्च) महाभूतोंको

भूतग्रामः—८-१९ भूतसमुदाय, प्राणियोंका समुदाय

भूतपृथग्भावम्—१३-३० प्राणियोंका नानात्व—अनेकत्व, जीवोंके भिन्न-भिन्न अस्तित्व

भूतप्रकृतिमोक्षम्—१३-३४ प्रकृतिके बंधनसे प्राणियोंकी मुक्ति

भूतभर्तृ—१३-१६ प्राणियोंका पोषण करनेवाला

भूतभावन—१०-१५ हे प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले, जीवोंके पिता

भूतभावनः—९-५ भूतोंको उत्पन्न करनेवाला

भूतभावोद्भवकरः—८-३ सृष्टि उत्पन्न करनेवाला, प्राणीमात्रको उत्पन्न करनेवाला

भूतभृत्—९-५ भूतोंको धारण करनेवाला, जीवोंका भरण करनेवाला

भूतमहेश्वरम्—९-११ भूतोंके महेश्वर—स्वामीको, प्राणीमात्रके महेश्वर (रूप)को

भूतविशेषसंघान्—११-१५ भूतविशेषके समुदायको, जुदे-जुदे प्रकारके प्राणियोंके समुदायोंको

भूतसर्गौ—१६-६ प्राणियोंकी दो सृष्टियां (संपत्)

भूतस्थः—९-५ जीवोंमें रहा हुआ

भूतम्—१०-३९ भूत, अस्तित्ववाला कोई भी, भूतमात्र

भूतादिम्—९-१३ भूतोंके कारणरूपको, प्राणियोंके आदिकारणको

भूतानाम्—४-६; १०-५, २०, २२; ११-२; १३-१५; १८-४६ भूतमात्रका, भूतोंका, प्राणियोंका

भूतानि—२-२८, ३०, ६९; ३-१४, ३३; ४-३५; ७-६, २६; ८-२२; ९-५, ६; १५-१३, १६ भूत, प्राणी, भूतमात्र; २-३४ लोग; ९-२५ भूतोंको, भूतप्रेतादि लोकको

भूतिः—१८-७८ उत्तरोत्तर ऐश्वर्यकी वृद्धि, वैभव

भूतेज्याः—९-२५ विनायकादि भूतगणकी पूजा करनेवाले, भूतप्रेतादिको पूजनेवाले

भूतेश—१०-१५ हे भूतोंके पति, जीवोंके ईश्वर

भूतेषु—७-११; ८-२०; १३-१६, १७; १६-२; १८-२१, ५४ प्राणियोंमें, प्राणियोंके विषयमें

भूत्वा—२-२०, ३५, ४८; ३-३०; ८-१९; ११-५०; १५-१३, १४ होकर, उत्पन्न हो-होकर

भूमिः—७-४ पृथ्वी (तन्मात्रा)

भूमौ—२-८ भूमिमें, इस लोकमें

भूयः—२-२०; ६-४३; १०-१, १८; ११-३५, ३९, ५०; १३-२३; १४-१; १५-४; १८-६४ फिरसे, अब फिर; ७-२ अधिक

भूः—२-४७ देखो, 'मा भूः' (न होओ)

भृगुः—१०-२५ भृगु ऋषि

भेदम्—१७-७; १८-२९ भेदको

भेर्यः—१-१३ भेरियां, नगाड़े

भैक्ष्यम्—२-५ भिक्षा, भिक्षान्न

भोक्ता—९-२४; १३-२२ भोगनेवाला, भोक्ता

भोक्तारम्—५-२९ भोक्ताको

भोक्तुम्—२-५ खानेको, खाना

भोक्तृत्वे—१३-२० भोगमें

भोक्ष्यसे—२-३७ (तू) भोगेगा

भोगान्—२-५; ३-१२ भोगोंको

भोगाः—१-३३; ५-२२ भोग

भोगी—१६-१४ विषयभोग जिसे प्राप्त हुए हों ऐसा व्यक्ति, भोगी

भोगैश्वर्यगतिम्—२-४३ भोग और ऐश्वर्य प्राप्त करनेके (लिए)

भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्—२-४४ भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त हुओंकी

भोगैः—१-३२ भोगोंसे

भोजनम्—१७-१० आहार, भोजन

भ्रमति—१-३० (वह) फिरता है, घूमता है

भ्रातृन्—१-२६ भाइयोंको

भ्रामयन्—१८-६१ भ्रमण कराता हुआ, घुमाता हुआ

भ्रुवोः—५-२७; ८-१० (दो) भृकुटियोंके (बीच)

म

दया करके, मुझपर अनुग्रह करनेके लिए
मदर्थम्—१२-१० मेरे लिए, मेरे निमित्त
मदर्थे—१-९ मेरे लिए
मदर्पणम्—९-२७ मुझे अर्पण (कर)
मदम्—१८-३५ मद (को)
मदाश्रयः—७-१ मेरे आश्रयमें स्थित हुआ, मेरा आश्रय लेकर स्थित
मद्गतप्राणाः—१०-९ मुझमें जिनकी इन्द्रिया स्थिर हो गई है, मुझे प्राण अर्पण करनेवाले
मद्गतेन—६-४७ मुझमें पिरोये हुए (मनके) द्वारा
मद्भक्तः—९-३४; ११-५५; १२-१४, १६; १३-१८; १८-६५ मेरा भक्त
मद्भक्ताः—७-२३ मेरे भक्त, मेरा भजन करनेवाले
मद्भक्तिम्—१८-५४ मेरी भक्तिको
मद्भक्तेषु—१८-६८ मेरे भक्तोंमें
मद्भावम्—४-१०; ८-५; १४-१९ मेरे भावको, मेरे स्वरूपको
मद्भावाय—१३-१८ मेरे भावको
मद्भावाः—१०-६ मुझमें भाववाले
मद्याजिनः—९-२५ मेरी पूजा करनेवाले, मुझे पूजनेवाले, भजनेवाले
मद्याजी—९-३४; १८-६५ मेरी पूजा करनेवाला, मेरे निमित्त यज्ञ करनेवाला
मद्योगम्—१२-११ मेरे निमित्त कर्म करने भरकी, मेरे साथ योग साधनेकी
मद्व्यपाश्रयः—१८-५६ मेरा शरणागत, मेरा आश्रय लेनेवाला
मधुसूदन—१-३५; २-४; ६-३३; ८-२ हे मधुसूदन कृष्ण
मधुसूदनः—२-१ मधुसूदन कृष्ण
मध्यम्—१०-२०, ३२; ११-१६ मध्य स्थिति, मध्य
मध्ये—१-२१, २४; २-१०; ८-१०; १४-१८ बीचमें, मध्यमें
मनवः—१०-६ मनु
मनवे—४-१ (अपने—विवस्वानके पुत्र) मनुको

मेधा—१०-३४ बुद्धि
मेधावी—१८-१० आत्मज्ञानी, बुद्धिमान
मेरुः—१०-२३ मेरु पर्वत
मैत्रः—१२-१३ मित्रभाववाला
मोक्षकाङ्क्षिभिः—१७-२५ मुमुक्षुओंसे, मोक्षेच्छुओंद्वारा
मोक्षपरायणः—५-२८ मोक्षके विषयमें परायण
मोक्षयिष्यामि—१८-६६ (मैं) मुक्त करूंगा
मोक्षम्—१८-३० मोक्षको
मोक्ष्यसे—४-१६; ९-१, २८ (तू) मुक्ति पायेगा, बचेगा
मोघकर्माणः—९-१२ व्यर्थ कर्म करनेवाले
मोघज्ञाना—९-१२ मिथ्या ज्ञानवाले
मोघम्—३-१६ व्यर्थ, फिजूल
मोघाशा—९-१२ व्यर्थ आशावाले
मोदिष्ये—१६-१५ (मैं) आनंद मानूंगा
मोहकलिलम्—२-५२ मोहरूपी कीचड़को
मोहजालसमावृताः—१६-१६ मोहजालमें फंसे हुए
मोहनम्—१४-८; १८-३९ मोहकारक, मोहमें डालनेवाला, मूर्च्छा प्राप्त करानेवाला
मोहम्—४-३५; १४-२२ मोह (को)
मोहयसि—३-२ (तू) भ्रमित करता है, शंकाशील बनाता है
मोहः—११-१; १४-१३; १८-७३ मोह, मूढ़ता
मोहात्—१६-१०; १८-७, २५, ६० मोहसे, मोहके वश होकर
मोहितम्—७-१३ मोहग्रस्त
मोहिताः—४-१६ मोहग्रस्त
मोहिनीम्—९-१२ मोहमयी, मोहमें रखनेवाली (को)
मौनम्—१०-३८; १७-१६ मौन, वाणीका संयम
मौनी—१२-१९ मौन रखनेवाला
म्रियते—२-२० मरता है

य

यक्षरक्षसाम्—१०-२३ यक्षों और राक्षसोंमें
यक्षरक्षांसि—१७-४ यक्षों और राक्षसोंको

यक्ष्ये—१६-१५ (मैं) यज्ञ करूंगा
यच्छ्रद्ध—१७-३ जैसी श्रद्धावाला
यजन्तः—९-१५ पूजन करते हुए
यजन्ति—९-२३ (वे) भजते हैं, पूजा करते हैं
यजन्ते—४-१२; ९-२३, १६-१७, १७-१ ४ (वे) पूजते हैं, यज्ञ करते हैं, भजते हैं
यजुः—९-१७ यजुर्वेद
यज्ञक्षपितकल्मषाः—४-३० यज्ञ-द्वारा जिनके पाप क्षीण हो गये हैं, नष्ट हो गये है वे
यज्ञतपसाम्—५-२९ यज्ञ और तपका
यज्ञतपःक्रियाः—१७-२५ यज्ञ और तपरूपी क्रियाएं
यज्ञदानतपःकर्म—१८-३, ५ यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म
यज्ञदानतपःक्रियाः—१७-२४ यज्ञ, दान और तपरूपी क्रियाए
यज्ञभाविताः—३-१२ यज्ञ-द्वारा संतुष्ट देवगण
यज्ञम्—४-२५; १७-१२, १३ यज्ञको
यज्ञविदः—४-३० यज्ञ जाननेवाले
यज्ञशिष्टामृतभुजः—४-३१ यज्ञ-मेंसे बचे हुए अमृतका पान करनेवाले
यज्ञशिष्टाशिनः—३-१३ यज्ञमें-से बाकी रहा हुआ खाने-वाले
यज्ञः—३-१४; ९-१६; १६-१, १७-७, ११; १८-५ वैश्वदेवादि स्मार्त कर्म, यज्ञ
यज्ञात्—३-१४ यज्ञसे, यज्ञमें-से; ४-३३ यज्ञकी अपेक्षा
यज्ञानाम्—१०-२५ यज्ञोंमें
यज्ञाय—४-२३ यज्ञके लिए, यज्ञार्थ
यज्ञार्थात्—३-९ यज्ञार्थ—ईश्वरप्रीत्यर्थ—किये हुए (कर्म)के सिवा, निष्काम रहकर किये हुए विहित कर्मके सिवा
यज्ञाः—४-३२, १७-२३ यज्ञ
यज्ञे—३-१५, १७-२७ यज्ञमें
यज्ञेन—४-२५ यज्ञद्वारा
यज्ञेषु—८-२८ यज्ञोंमें
यज्ञैः—९-२० यज्ञोंद्वारा
यत्—१-४५ जिससे कि २-६ कि; २-७, ८ इत्यादि जो, जिसे, १५-८, ८ जो, जब

यतचित्तस्य—६-१९ नियत चित्त-वालेका, स्थिरचित्तका
यतचित्तात्मा—४-२१; ६-१० जिसका अंतःकरण और देह नियममें—काबूमें—है, जिस-का मन अपने वशमें है वह, चित्त स्थिर करके
यतचित्तेन्द्रियक्रियः—६-१२ जिसने चित्तकी और इंद्रियोकी क्रियाए नियममें रखी है, वह चित्त और इंद्रियोको वश करके
यतचेतसाम्—५-२६ जिन्होने अपने मनको वशमे किया है (उन यतियोका)
यतत—२-६० प्रयत्नसे करने-वालेकी
यतता—६-३६ यत्नवानसे, यत्न करनेवालेके द्वारा
यतताम्—७-३ प्रयत्न करने-वालोमें
यतति—७-३ (वह) यत्न करता है
यतते—६-४३ (वह) प्रयत्न करता है
यतन्तः—९-१४, १५-११ प्रयत्न करनेवाले
यतन्ति—७-२९ (वे) प्रयत्न करते हैं, मंथन करते हैं
यतमानः—६-४५ यत्न करता हुआ
यतयः—४-२८; ८-११ यति, प्रयत्नशील याज्ञिक, मुनि
यतवाक्कायमानसः—१८-५२ वाणी, शरीर और मनको नियममें रखनेवाला—रखकर
यतः—६-२६; १३-३; १५-४; १८-४६, जहांसे, जिसमेंसे, जिसके द्वारा
यतात्मवान्—१२-११ सयमी, मनको काबूमे रखनेवाला, यत्नपूर्वक
यतात्मा—१२-१४ इंद्रियनिग्रही
यतात्मानः—५-२५ जितेन्द्रिय, वे जिन्होने मनके ऊपर काबू पा लिया है
यतीनाम्—५-२६ यतियोका
यतेन्द्रियमनोबुद्धिः—५-२८ जिसने इंद्रिय, मन तथा बुद्धिको वशमें कर लिया है, इंद्रिय, मन और बुद्धिको वशमें करके
यत्प्रभावः—१३-३ जैसे प्रभाव-वाला, कैसे प्रभाववाला
यत्र—६-२०, २१, १८-३६, ७८ जहां, जिसमें, जिस काल; ८-२३ जब, जिस समय

यादव—११-४१ हे यादव-कृष्ण
यादसाम्—१०-२९ जलचरोंमें
यादृक्—१३-३ जैसा
यान्—२-६ जिन्हें
यान्ति—३-३३; ४-३१; ७-२३, २७; ८-२३; ९-७, २५, ३२; १३-३४; १६-२० (वे) जाते हैं, अनुसरण करते हैं, प्राप्त करते हैं
याभिः—१०-१६ जिनके द्वारा
याम्—२-४२; ७-२१ जिसे
यावत्—१-२२ जिससे, जबतक; १३-२६ जो कुछ
यावान्—२-४६; १८-५५ जितना, जैसा
यास्यसि—२-३५; ४-३५ (तू) जायगा, प्राप्त होगा
याः—१४-४ जो
युक्तचेतसः—७-३० वे जिनका अंतःकरण युक्त हुआ है, समत्वको प्राप्त हुए
युक्तचेष्टस्य—६-१७ यथायोग्य नियमित चेष्टावाले
युक्ततमः—६-४७ उत्तम योगी
युक्ततमाः—१२-२ उत्तम योगी
युक्तस्वप्नावबोधस्य—६-१७ जिसका सोना-जागना नियमित है, सोने और जागनेमें प्रमाण रखनेवाले
युक्तः—२-३९; ७-२२; ८-११; १८-५१—से युक्त, वाला; २-६१; ४-१८; ५-८; ६-१४, १८ युक्त, योगी; ३-२६; ५-१२, २३ समतावान मनुष्य, समत्व रखनेवाला; ६-८ ईश्वरपरायण मनुष्य
युक्तात्मा—७-१८ निष्काम कर्मयोगी
युक्ताहारविहारस्य—६-१७ जिसका खान-पान और घूमना-फिरना यथायोग्य है, आहार-विहारमें प्रमाण रखनेवाला
युक्ते—१-१४ युक्त, जुड़े हुए
युक्तैः—१७-१७ एकाग्र चित्तवालोंसे, समभावी पुरुषोंद्वारा
युक्त्वा—९-३४ जोड़कर
युगपत्—११-१२ एक ही समय, एक साथ
युगसहस्रान्ताम्—८-१७ हजार युग अवधिवाली

येषाम्—१-३३, २-३५; ५-१६, १६; ७-२८; १०-६ जिनके

योक्तव्यः—६-२३ साधने योग्य, साधन करना चाहिये

योगक्षेमम्—९-२२ योगक्षेम, योग=न मिलनेवालेका मिलना, क्षेम=मिले हुएकी रक्षा

योगधारणाम्—८-१२ योगावस्थाको, समाधियोगको

योगबलेन—८-१० योगबलसे

योगभ्रष्टः—६-४१ योगसे विचलित, योगभ्रष्ट

योगमायासमावृतः—७-२५ योगमायासे समावृत, (योगमाया—गुणोंका संघटन और प्रकाशन)

योगयज्ञाः—४-२८ योगरूपी यज्ञ करनेवाले, अष्टांगयोग साधनेवाले

योगयुक्तः—५-६, ७; ८-२७ कर्मयोगका आचरण करनेवाला, समत्ववाला, वह जिसने योग साधा है, योगसे युक्त

योगयुक्तात्मा—६-२९ जिसने योग साधा है ऐसा पुरुष, योगी

योगवित्तमाः—१२-१ योगवेत्ताओंमें उत्तम, श्रेष्ठ योगी

योगसंज्ञितम्—६-२३ योग नामवालेको

योगसंन्यस्तकर्माणम्—४-४१ जिसने समत्वरूपी योगद्वारा कर्म (फल) का त्याग किया है उसे

योगसंसिद्धः—४-३८ कर्मयोगमें जिसने सिद्धि—यश प्राप्त किया है ऐसा पुरुष, योगमें—समत्वमें पूर्ण मनुष्य

योगसंसिद्धिम्—६-३७ योगके फल—मोक्षको, योगकी सफलताको

योगसेवया—६-२० योगके अनुष्ठानसे—सेवनसे

योगस्थः—२-४८ योगमें स्थिर, योगस्थ

योगस्य—६-४४ योगका

योगम्—२-५३; ४-१, ४२ योग; ५-१, ५; ६-२, ३, १२, १९; ७-१; कर्मयोगको, योगको; ९-५; १०-७, १८; ११-८; घटना, युक्ति, शक्तिको; १८-७५ योगको

योनिषु—१६-१६ योनियोंमें
योनिः—१४-३, ४ गर्भस्थान, उत्पत्तिस्थान
यौवनम्—२-१३ युवावस्था, यौवन

र

रक्षांसि—११-३६ राक्षस
रजसः—१४-१६ रजोगुणका, १४-१७ रजोगुणसे
रजसि—१४-१२, १५ रजोगुणम
रजः—१४-५, ७, ६, १०; १७-१ रजोगुण, रजस्
रजोगुणसमुद्भवः—३-३७ रजोगुणसे उत्पन्न
रणसमुद्यमे—१-२२ रणसमारम्भमें, रणसंग्राममें
रणात्—२-३५ रणसे
रणे—१-४६; ११-३४ रणमें
रताः—५-२५; १२-४ रत, लगे रहनेवाले
रथम्—१-२१ रथको
रथोत्तमम्—१-२४ उत्तम रथको
रथोपस्थे—१-४७ रथमें, रथके पिछले भागमें
रमते—५-२२; १८-३६ (तू वह) रमता है
रमन्ति—१०-६ (वे) आनंदमें रहते हैं
रविः—१०-२१; १३-३३ सूर्य
रसनम्—१५-६ जीभ, स्वादेंन्द्रिय
रसवर्जम्—२-५६ रस को छोड़कर—रस नहीं जाता
रसः—२-५६; ७-८ रस
रसात्मकः—१५-१३ रसवाला, रसरूपी
रस्याः—१७-८ रसदार
रहसि—६-१० एकांतमें
रहस्यम्—४-३ गुप्त बात, सार, मर्मकी बात
राक्षसीम्—६-१२ राक्षसी (को)
रागद्वेषवियुक्तैः—२-६४ रागद्वेषरहित (द्वारा)
रागद्वेषौ—३-३४ रागद्वेष; १८-५१ रागद्वेषको
रागात्मकम्—१४-७ इच्छा उत्पन्न करनेवाला, रागरूपी
रागी—१८-२७ रागोंसे भरा हुआ, रागी
राजगुह्यम्—६-२ गूढ़ वस्तुओंमें—गुह्योंमें राजा—श्रेष्ठ
राजन्—११-६; १८-७६, ७७ हे राजा

ल

व

विज्ञाय—१३-१८ जानकर
विततः—४-३२ विस्तारित, वर्णित, वर्णन किये हुए
वित्तेशः—१०-२३ कुबेर
विदधामि—७-२१ (मैं) देता हूं, करता हूं
विदितात्मनाम्—५-२६ आत्मज्ञानियोंका, जिन्होंने अपनेको पहचाना है उनका
विदित्वा—२-२५, ८-२८ जानकर
विदुः—४-२; ७-२९, ३०, ८-१७; १०-२, १४, १३-३४, १३-७, १८-२ (वे) जानते थे, जानते है
विद्धि—२-१७, ३-१५, ३२, ३७, ४-१३, ३२, ३४; ३-२, ७-५, १०, १२, १०-२४, २७, १३-२, १९, २६, १४-७, ८, १५-१२, १७-६, १२, १८-२०, २१ (तू) जान समझ
विद्मः—२-६ (हम) जानते है
विद्यते—२-१६, ३१, ४०; ३-१७; ४-३८, ६-४०, ८-१६; १६-७ (वह) होता है, है
विद्यात्—६-२३; १४-११ (उन्हें) जानना चाहिए, (वे) जानें
विद्यानाम्—१०-३२ विद्याओंमें
विद्याम्—१०-१७ (मैं) जानू, पहचानू
विद्याविनयसंपन्ने—५-१८ विद्या और विनयवालोंमें, विद्वान और विनयवानके विषयमें
विद्वान्—३-२५, २६ ज्ञानी, समझदार पुरुष
विधानोक्ताः—१७-२४ शास्त्रविहित, शास्त्रमें कही हुई
विधिदृष्टः—१७-११ विधिपूर्वक
विधिहीनम्—१७-१३ विधिरहित
विधीयते—२-४४ (वह) स्थिर हो सकती है, की जा सकती है
विधेयात्मा—२-६४ जिसका मन अपने काबूमें है वह
विनङ्क्ष्यसि—१८-५८ (तू) नाशको प्राप्त होगा
विनद्य—१-१२ आवाज करके, बजाकर

विभूतेः—१०-४० विभूतिका
विमत्सरः—४-२२ ईर्ष्या-रहित, द्वेषरहित
विमुक्तः—९-२८; १४-२०; १६-२२ मुक्त
विमुक्ता—१५-५ मुक्त
विमुच्य—१८-५३ छोड़कर
विमुञ्चति—१८-३५ (वह) तजता है, छोड़ता है
विमुह्यति—२-७२ (वह) मोहग्रस्त होता है
विमूढः—६-३८ मूढ़, गड़बड़में पड़ा हुआ, भूलमें पड़ा हुआ
विमूढभावः—११-४९ विमूढ़-चित्तता, परेशानी
विमूढात्मा—३-६ मूढ़ पुरुष
विमूढाः—१५-१० मूर्ख
विमृश्य—१८-६३ भली प्रकारसे विचार करके
विमोक्षाय—१६-५ मोक्षके लिए
विमोक्ष्यसे—४-३२ (तू) मुक्त होगा, मोक्ष प्राप्त करेगा
विमोहयति—३-४० (वह) विविध प्रकारसे मोहमें डालता है, मूर्च्छित करता है
विराटः—१-४, १७ मत्स्य-देशका राजा
विलग्नाः—११-२७ चिपटे हुए, लिपटे हुए
विवस्वतः—४-४ सूर्यका, विवस्वानका
विवस्वते—४-१ सूर्यको, विवस्वानको
विवस्वान्—४-१ सूर्य
विविक्तदेशसेवित्वम्—१३-१० एकांत स्थलका सेवन करने-की वृत्ति
विविक्तसेवी—१८-५२ एकांत-सेवी
विविधा—१७-२५; १८-१४ जुदी-जुदी, विविध
विविधैः—१३-४ जुदे-जुदे, विविध प्रकारके (द्वारा)
विवृद्धम्—१४-११ बढ़ा हुआ
विवृद्धे—१४-१२, १३ बढ़े हुएमें, वृद्धि पाये हुए (में)
विशते—१८-५५ (वह) प्रवेश करता है
विशन्ति—८-११; ९-२१; ११-२१, २७, २८, २९; (वे) प्रवेश करते हैं
विशालम—९-२१ विस्तीर्ण, विशाल
विशिष्टाः—१-७ मुख्य, खास-खास

विसर्गः—८-३ त्याग, क्रिया, व्यापार
विसृजन्—५-९ (मलादिका) त्याग करता हुआ, छोड़ता हुआ
विसृजामि—९-७, ८ (मैं) उत्पन्न करता हूं, सर्जन करता हूं
विसृज्य—१-४७ छोड़कर, अलग रखकर
विस्तरशः—११-२; १६-६ विस्तारपूर्वक
विस्तरस्य—१०-१९ विस्तारकी
विस्तरः—१०-४० विस्तार
विस्तरेण—१०-१८ विस्तारसे —पूर्वक
विस्तारम्—१३-३० विस्तारको
विस्मयः—१८-७७ आश्चर्य
विस्मयाविष्टः—११-१४ आश्चर्य-में लीन, आश्चर्यचकित
विस्मिता.—११-२२ विस्मित, आश्चर्यचकित
विहाय—२-२२, ७१ छोड़कर, अलग डालकर
विहारशय्यासनभोजनेषु—११-४२ खेलते, सोते, बैठते और खाते हुए
विहितान्—७-२२ निर्मित की हुई (को)
विहिताः—१७-२३ निर्माण किये हुए
वीक्षन्ते—११-२२ (वे) देखते हैं, निरीक्षण करते हैं
वीतरागभयक्रोधः—२-५६ जिसके राग, भय और क्रोध दूर हो गये है वह
वीतरागभयक्रोधा.—४-१० जिनके राग, भय और क्रोध दूर हो गये हैं वे; राग, भय और क्रोधसे रहित
वीतरागाः—८-११ जिन्होंने रागद्वेषादिका त्याग किया है वे, वीतरागी
वीर्यवान्—१-५, ६ बलवान, शूरवीर
वृकोदर.—१-१५ भेड़ियेके समान पेटवाला—भीम
वृजिनम्—४-३६ पाप (समुद्र) को
वृष्णीनाम्—१०-३७ यादवोंमें, वृष्णिकुलमें
वेगम्—५-२३ जोरको, वेगको
वेत्ता—११-३८ जाननेवाला, ज्ञाता
वेत्ति—२-१९; ४-९; ६-२१;

व्यतितरिष्यति—२-५२ (वह) पार उतर जायगा
व्यतीतानि— ४-५ हो चुके, बीत गये
व्यथन्ति—१४-२ (वे) नाशको प्राप्त होते हैं, व्यथा पाते हैं
व्यथयन्ति—२-१५ (वे) पीड़ा देते हैं, व्याकुल करते हैं
व्यथा—११-४९ अकुलाहट, व्यथा
व्यथिष्ठाः—११-३४ देखो 'मा व्यथिष्ठा.' (न व्यथित हो)
व्यदारयत्—१-१९ (उसने) चीर डाला
व्यनुनादयन्—१-१९ गुंजा देनेवाला
व्यपाश्रित्य—९-३२ आश्रय लेकर
व्यपेतभी—११-४९ जिसका भय चला गया है वह, भयरहित
व्यवसाय.—१०-३६; १८-५९ निश्चय
व्यवसायात्मिका—२-४१, ४४ निश्चयवाली, निश्चयात्मक
व्यवसित—९-३० यथार्थ संकल्पवाला, निश्चयवाला
व्यवसिता—१-४५ तैयार हुए
व्यवस्थितान्—१-२० सज्ज, सजे हुए
व्यवस्थितौ—३-३४ (दो) रहते हैं
व्यात्ताननम्—११-२४ खुले हुए मुखवालेको
व्याप्तम्—११-२० व्याप्त (है)
व्यामिश्रेण—३-२ मिश्र, दो अर्थवाली
व्याप्य—१०-१६ व्याप्त होकर
व्यासप्रसादात्—१८-७५ व्यासकी कृपासे
व्यासः—१०-१३, ३७ व्यास मुनि
व्याहरन्—८-१३ उच्चारण करता हुआ, जपता हुआ
व्युदस्य—१८-५१ छोड़कर, तजकर, जीतकर
व्यूढम्—१-२ व्यूहके आकारमें
व्यूढाम्—१-३ सज्ज, व्यूहाकार (को)
व्रज—१८-६६ (तू) जा
व्रजेत—२-५४ (वह) चलता है, बरतता है, चले, बरते

श

शक्नोति—५-२३ (वह) सकता है, समर्थ है
शक्नोमि—१-३० (मैं) सकता हूं, समर्थ हूं
शक्नोषि—१२-९ (तू) सकता है, समर्थ है

समाहितः—६-७ सम-स्थिर रहा हुआ,—रहता है, एक समान
समाः—६-४१ संवत्सर
समितिञ्जयः—१-८ युद्धमें जय प्राप्त करनेवाला
समिद्धः—४-३७ सुलगा हुआ, प्रज्वलित
समीक्ष्य—१-२७ ध्यानपूर्वक देखकर
समुद्रम्—२-७०; ११-२८ सागरको
समुद्धर्ता—१२-७ बचानेवाला, उद्धार करनेवाला
समुपस्थितम्—१-२८ इकट्ठा हुए (को); २-२ उत्पन्न हुआ, उपस्थित हुआ
समुपाश्रित —१८-५२ आश्रय लेकर रहनेवाला, आश्रय लिया हुआ
समृद्धवेगाः—११-२६, २९ बढ़ते जाते वेगवाले (होकर), बढ़ते हुए वेगमें
समृद्धम्—११-३३ समृद्धिवाला, धन-धान्यसे भरा हुआ
समे—२-३८ समान (दो)
समौ—५-२७ समान, समभावी, एक समान (दो)
संपत्—१६-५ संपत्ति
संपदम्—१६-३, ४, ५ सम्पत्तिको
संपद्यते—१३-३० होती है
संपश्यन्—३-२० देखकर,—का विचार करते हुए
संप्रकीर्तितः—१८-४ वर्णन किया गया है, कहा गया है
संप्रतिष्ठा—१५-३ पाया, नींव
संप्रवृत्तानि—१४-२२ प्राप्त होनेपर, आ जानेपर
संप्रेक्ष्य—६-१३ अच्छी तरह निगाह डालकर, नजर टिकाकर, देखकर
संप्लुतोदके—२-४६ सरोवरमें (से)
संबन्धिनः—१-३४ सगे—संबंधी
संभवन्ति—१४-४ (वे) उत्पन्न होते हैं
संभवः—१४-३ उत्पत्ति
संभवामि—४-६, ८ (मैं) जन्म लेता हूँ
संभावितस्य—२-३४ प्रतिष्ठित-का, मान पाये हुएका (को)
संमोहम्—७-२७ मूर्च्छाको
संमोहः—२-६३ अविवेक, मूढ़ता
संमोहात्—२-६३ संमोहसे, मूढ़तासे

सर्वशः—१-१८ सबने; २-५८, ६८ सब ओरसे; ३-२३, २७; ४-११; १०-२; १३-२९ सबोंने, सर्व प्रकारसे

सर्वसंकल्पसंन्यासी—६-४ सब संकल्पोंका त्याग करनेवाला

सर्वस्य—२-३०; ७-२५; ८-९, १०-८; १३-१७; १५-१५; १७-३, ७ सबका (—को)

सर्वहरः—१०-३४ सबका संहारकर्ता, सबको हरण करनेवाला

सर्वः—३-५; ११-४० सर्व, सारे

सर्वाणि—२-३०, ६१; ३-३०; ४-५, २७; ७-६; ९-६; १५-१६ सब, सबोंको

सर्वान्—१-२७; २-५५, ७१; ४-३२; ६-२४, ११-१५ सबको

सर्वारम्भपरित्यागी—१२-१६; १४-२५ सब आरंभका त्याग करनेवाला, सकल्पमात्रका जिसने त्याग किया है वह

सर्वारम्भाः—१८-४८ सब कर्म

सर्वार्थान्—१८-३२ सब वस्तुओंको

सर्वाश्चर्यमयम्—११-११ सब प्रकारसे आश्चर्यमयको

सर्वाः—८-१८; ११-२०; १५-१३ सब

सर्वे—१-६, ९, ११, ३३; २-१२, ७०; ४-१९, ३०; ७-१८; १०-१३; ११-२२, २६, ३२, ३६; १४-१ सब

सर्वेन्द्रियगुणाभासम्—१३-१४ जिनमें सब इंद्रियोंके गुणोंका आभास होता है वह

सर्वेन्द्रियविवर्जितम्—१३-१४ इंद्रियोंसे रहित, बिना सब इंद्रियका

सर्वेभ्यः—४-३६ सबसे

सर्वेषाम्—१-२५; ६-४७ सबका, सबमें

सर्वेषु—१-११; २-४६, ८-७, २० २७, १३-२७; १८-२१, ५४ सबमें

सर्वैः—१५-१५ सबके द्वारा

सविकारम्—१३-६ विकारसहित (क्षेत्र)

सविज्ञानम्—७-२ अनुभवयुक्त, विज्ञानसहित

सव्यसाचिन्—११-३३ हे बाए हाथसे बाण चला सकनेवाले (अर्जुन)

सक्षरम्—१-४७ वर्णसहित (को)
सह—१-२२; ११-२६; १३-२३ साथ, सहित
सहजम्—१८-४८ जन्मसे प्राप्त हुए, सहज प्राप्त
सहदेव—१-१६ सहदेव, पांडवोंमें पांचवा भाई
सहयज्ञा:—३-१० यज्ञसहित
सहसा—१-१३ एकाएक, एक साथ
सहस्रकृत्व.—११-३९ हजारो बार
सहस्रबाहो—११-४६ हे हजार हाथवाले
सहस्रयुगपर्यन्तम्—८-१७ हजारो युगतकका
सहस्रश —११-५ हजारोकी सख्या-में
सहस्रेषु—७-३ हजारोमे
सयतेन्द्रिय —४-३९ जिसने अपनी इद्रिया वशमें रखी है वह, जितेद्रिय
सयमताम्—१०-२९ नियमन करनेवालोमे, दड देनेवालोमे
सयमाग्निषु—४-२६ सयमरूपी अग्नियोंमें
सयमी—२-६९ योगी, सयमी
संयम्य—२-६१; ३-६, ६-१४ संयममें रखकर, वश-में रखकर; ८-१२ रोककर, बद करके
संयाति—२-२२ (वह) जाता है, प्राप्त करता है; १५-८ जाता है
संवादम्—१८-७०, ७४, ७६ सवादको
सवृत्त—११-५१ शात हुआ—हुआ हू
सशयम्—४-४२; ६-३९ सशयको
संशयस्य—६-३९ सशयका
सशय —८-५; १०-७; १२-८ शंका, सशय
सशयात्मन:—४-४० शंकाशीलका
सशयात्मा—४-४० शंकाशील
सशितव्रता.—४-२८ तीक्ष्ण व्रत करनेवाले, कठिन व्रतधारी
सशुद्धकिल्बिष:—६-४५ जिसके पाप धुल गये है वह, पापमुक्त
सश्रिता.—१६-१८—का आश्रय लेनेवाले
संसारेषु—१६-१९ ससारमें, लोकमे
संसिद्धिम्—३-२०; ८-१५; १८-४५ ज्ञानको, मोक्षको, परम सिद्धिको

निष्पक्षपाती (तटस्थ), दोनो (पक्ष) का भला चाहनेवाला, द्वेष्य और बधुओमें
सूक्ष्मत्वात्—१३-१५ सूक्ष्मताके कारण
सूतपुत्र:—११-२६ सूतपुत्र कर्ण
सूत्रे—७-७ डोरीमें, सूत्रमे
सूयते—९-१० (वह) उत्पन्न करता है
सूर्यसहस्रस्य—११-१२ हजार सूर्यका
सूर्य —१५-६ सूरज
सृजति—५-१४ (वह) उत्पन्न करता है, रचता है
सृजामि—४-७ (मै) उत्पन्न करता हू
सृती—८-२७ (दो) मार्ग
सृष्टम्—४-१३ सिरजा है, उत्पन्न किया है
सृष्ट्वा—३-१० उत्पन्न करके
सेनयोः—१-२१, २४, २-१० दोनो सेनाओकी, १-२७ दोनो सेनाओमे
सेनानीनाम्—१०-२४ सेनापतियोमें
सेवते—१४-२६ (वह) सेवा करता है
सेवया—४-३४ सेवाद्वारा, सेवा करके
सैन्यस्य—१-७ सेनाका
सोढुम्—५-२३; ११-४४ सहन करनेकी
सोमः—१५-१३ चंद्र
सोमपाः—९-२० सोमरस पीनेवाले
सौक्ष्म्यात्—१३-३२ सूक्ष्मताके कारण
सौभद्र:—१-६, १८ सुभद्राका पुत्र अभिमन्यु
सौमदत्ति:—१-८ सोमदत्तका पुत्र, (दूसरा नाम भूरिश्रवा)
सौम्यत्वम्—१७-१६ सुजनता, सौम्यता
सौम्यवपु:—११-५० शातमूर्ति, प्रसन्नदेह
सौम्यम्—११-५१ शात, सौम्य
स्कन्द —१०-२४ देवोके सेनापति कार्तिकस्वामी
स्तब्ध:—१८-२८ अक्खड, झक्की
स्तब्धा:—१६-१७ अक्खड़
स्तुतिभि:—११-२१ स्तोत्रोद्वारा
स्तुवन्ति—११-२१ (वे) स्तुति करते है, यश गाते हैं
स्तेनः—३-१२ चोर, तस्कर

स्त्रियः—९-३२ स्त्रियां
स्त्रीषु—१-४१ स्त्रियोंमें
स्थाणुः—२-२४ स्थिर
स्थानम्—५-५; ८-२८; ९-१८; १८-६२ पद, स्थिति, स्थान
स्थाने—११-३६ योग्य है, उचित स्थानपर है
स्थापय—१-२१ खड़ा रखो
स्थापयित्वा—१-२४ स्थापन करके, खड़ा रखकर
स्थावरजङ्गमम्—१३-२६ अचर और चर, स्थावर-जंगम
स्थावराणाम्—१०-२५ स्थिर वस्तुओंमें, स्थावरोंमें
स्थास्यति—२-५३ (वह)स्थिर होगा—रहेगा
स्थितप्रज्ञस्य—२-५४ स्थिर बुद्धिवालेकी, स्थितप्रज्ञकी
स्थितप्रज्ञः—२-५५ स्थितप्रज्ञ
स्थितधीः—२-५४, ५६ स्थिर बुद्धिवाला
स्थितम्—५-१९; १३-१६, १५-१० रहा हुआ, स्थिर
स्थितः—५-२०; ६-१०, १४, २१, २२; १०-४२; १८-७३ रहा हुआ, स्थिर
स्थितान्—१-२६ खड़े हुए (को)
स्थिताः—५-१९ स्थिर, स्थिर हुए हैं
स्थितिम्—६-३३ स्थितिको
स्थितिः—२-७२ निष्ठा, स्थिति; १७-२७ दृढ़ता, स्थिरता, स्थिर भावना
स्थितौ—१-१४ बैठे हुए (दो)
स्थित्वा—२-७२ रहकर, स्थिर होकर
स्थिरबुद्धिः—५-२० स्थिर बुद्धि-वाला
स्थिरम्—६-११; १२-९ स्थिर, अचल
स्थिरमतिः—१२-१९ स्थिर बुद्धि-वाला
स्थिरः—६-१३ स्थिर
स्थिराम्—६-३३ स्थिर (को)
स्थिराः—१७-८ पौष्टिक
स्थैर्यम्—१३-७ स्थिरता
स्निग्धाः—१७-८ स्निग्ध, चिकना-हटवाले, चिकने
स्पर्शनम्—१५-९ स्पर्शेन्द्रिय, त्वचा
स्पर्शान्—५-२७ इंद्रियोंके विषयोंवाले स्पर्शको, विषय-भोगोंको
स्पृशन्—५-८ छूता हुआ, स्पर्श करता हुआ

स्पृहा—४-१४; १४-१२ तृष्णा, लालसा, इच्छा
स्म—२-३ निषेधवाची 'मा' के साथ आनेवाला अतिरिक्त उपपद; देखो 'मा' (स्म गम:) में
स्मरति—८-१४ (वह) याद करता है, स्मरण करता है
स्मरन्—३-६; ८-५, ६ याद करता हुआ, चिंतन करता हुआ
स्मृतम्—१७-२०, २१; १८-३८ स्मृतिमें कहा हुआ, कहा गया है
स्मृतः—१७-२३ स्मरण किया हुआ, स्मृतिमें कहा हुआ, कहा गया है
स्मृता—६-१९ कही हुई, कही गई है
स्मृतिभ्रंशात्—२-६३ स्मृति भ्रांत होनेसे,
स्मृतिविभ्रमः—२-६३ स्मृति भ्रांत होना, होश गुम होना
स्मृतिः—१०-३४; १५-१५ स्मरणशक्ति, स्मृति; १८-७३ भान
स्यन्दने—१-१४ रथमें
स्यात्—१-३६; २-७; ३-१७; १०-३१; ११-१२; १५-२०; १८-४० (वह) हो
स्याम्—३-२४; १८-७० (मैं) होऊं
स्याम—१-३७ (हम) हों
स्युः—९-३२ (वे) हों
स्रसते—१-३० (वह) खिसक जाता है, गिरता है
स्रोतसाम्—१०-३१ नदियोंमें
स्वकर्मणा—१८-४६ अपने कर्मसे
स्वकर्मनिरतः—१८-४५ अपने कर्ममें रत हुआ
स्वकम्—११-५० अपने (रूप)को
स्वचक्षुषा—११-८ अपनी (प्राकृत) आंखोंद्वारा, चर्म-चक्षुद्वारा
स्वजनम्—१-२८, ३१, ३७, ४५ स्वजनको, सगे-संबंधियोंको
स्वतेजसा—११-१९ अपने तेजसे
स्वधर्मम्—२-३१, ३३ स्वधर्मको
स्वधर्मः—३-३५; १८-४७ स्वधर्म, अपना धर्म
स्वधर्मे—३-३५ स्वधर्ममें
स्वधा—९-१६ पितरोंको चढ़ाया जानेवाला अन्न, (यज्ञद्वारा) पितरोंका आधार

स्वनुष्ठितात्—३-३५, १८-४७ अच्छी तरह अनुष्ठान किये हुए की अपेक्षा सुलभ—सुकर की अपेक्षा
स्वपन्—५-८ सोता हुआ
स्वप्नम्—१८-३५ निद्राको
स्वबान्धवान्—१-३७ अपने बांधवोंको
स्वभावजम्—१८-४२, ४३, ४४ पूर्वसंस्कारसे उत्पन्न, स्वभाव-जन्य, स्वाभाविक
स्वभावजा—१७-२ स्वभावके साथ जन्मी हुई, स्वभाव-सहज, स्वभावतः
स्वभावजेन—१८-६० स्वभाव-जन्य (द्वारा)
स्वभावनियतम्—१८-४७ स्व-भावसिद्ध, स्वभावानुरूप
स्वभावप्रभवैः—१८-४१ स्वभाव-जन्य—प्रकृतिसे उत्पन्न हुए (गुणोंके द्वारा)
स्वभावः—५-१४, ८-३ आत्मा-का मूल स्वरूप, प्रकृति
स्वम्—६-१३ अपना
स्वयम्—४-३८, १०-१३, १५; १८-७५ अपने आप, खुद
स्वया—७-२० अपनी (प्रकृति द्वारा)
स्वर्गतिम्—९-२० स्वर्गकी गति-को, स्वर्गप्राप्तिको
स्वर्गद्वारम्—२-३२ स्वर्गका दरवाजा
स्वर्गपराः—२-४३ स्वर्गको श्रेष्ठ माननेवाले
स्वर्गम्—२-३७ स्वर्गको
स्वर्गलोकम्—९-२१ स्वर्गलोकको
स्वल्पम्—२-४० थोड़ा, (यत्किंचित् पालन)
स्वस्ति—११-२१ भला हो, कल्याण हो
स्वस्थः—१४-२४ आत्मस्थ, स्वस्थ
स्वस्याः—३-३३ अपनी
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः—४-२८ वेदा-भ्यास और शास्त्रज्ञानरूपी यज्ञ करनेवाले, स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ करनेवाले
स्वाध्यायः—१६-१ वेदादिका अभ्यास, स्वाध्याय
स्वाध्यायाभ्यसनम्—१७-१५ वेदोंका, धर्मग्रंथोंका अभ्यास
स्वाम्—४-६, ९-८ अपनी (प्रकृति) को
स्वे—१८-४५ अपनेमें
स्वेन—१८-६० अपने (द्वारा)

ह

ह—२-६ एक उपपद है
हतम्—२-१६ मारे हुए (को)
हत:—२-३७; १६-१४ मारा हुआ
हतान्—११-३४ मारे हुओंको
हत्वा—१-३१, ३६, ३७, २-५, ६, १८-१७ मारकर, हनन करके
हनिष्ये—१६-१४ (मैं) मारूंगा
हन्त—१०-१६ अब, अच्छा
हन्तारम्—२-१६ मारनेवाले (को)
हन्ति—२-१६, २१, १८-१७ (वह) मारता है, हनन करता है
हन्तुम्—१-३५, ३७, ४५ मारनेको
हन्यते—२-१६, २० (वह) मारा जाता है, हनन किया जाता है
हन्यमाने—२-२० हनन होनेपर, नाश होनेपर, नाश होनेसे
हन्यु:—१-४६ (वे) मारें, मार डाले
हयै:—१-१४ घोड़ोंद्वारा
हरति—२-६७ (वह) हरण कर लेता है, खीच ले जाता है
हरन्ति—२-६० (वे) हर लेते है
हरि:—११-६ कृष्ण
हरे:—१८-७७ हरिका, कृष्णका
हर्षशोकान्वित:—१८-२७ हर्ष और शोकसे घिरा हुआ, हर्ष और शोकवाला
हर्षम्—१-१२ आनंद (को) हर्ष (को)
हर्षामर्षभयोद्वेगै:—१२-१५ हर्ष, अमर्ष (क्रोध), भय और उद्वेगसे
हवि—४-२४ बलि, हवनकी वस्तु
हस्तात्—१-३० हाथसे
हस्तिनि—५-१८ हाथीमें
हानि—२-६५ नाश
हि—१-११ इत्यादि, एक पादपूरक उपपद, सचमुच, कारण कि; 'पर' के अर्थमें भी कभी-कभी उपयोगमे आता है
हितकाम्यया—१०-१ हितेच्छासे, हितके लिए
हितम्—१८-६४ लाभ, हित
हित्वा—२-३३ छोड़कर, खोकर
हिनस्ति—१३-२८ (वह) नाश करता है, घात करता है
हिमालय:—१०-२५ हिमालय पर्वत

हिंसात्मकः—१८-२७ हिंसक स्वभाववाला, हिंसावान
हिंसाम्—१८-२५ हिंसा—पर-पीडनको
हुतम्—४-२४ होमा हुआ; ९-१६ हवन, हवनद्रव्य; १७-२८ हवन किया हुआ, यज्ञ
हृतज्ञानाः—७-२० जिनका ज्ञान हरा गया है वे
हृत्स्थम्—४-४२ हृदयमें रहे हुए
हृदयदौर्बल्यम्—२-३ हृदयकी दुर्बलता
हृदयानि—१-१९ हृदयोंको
हृदि—८-१२; १३-१७; १५-१५ हृदयमें
हृद्देशे—१८-६१ हृदयस्थानमें, हृदयमें
हृद्याः—१७-८ हृदयको प्रिय, मनको प्रिय लगे ऐसे
हृषितः—११-४५ आनंदित
हृषीकेश—११-३६; १८-१ हे इंद्रियोंके ईश—कृष्ण
हृषीकेशम्—१-२१; २-९ हृषीकेशको
हृषीकेशः—१-१५, २४; २-१० कृष्ण
हृष्टरोमा—११-१४ रोमांचित
हृष्यति—१२-१७ (वह) हर्षित होता है
हृष्यामि—१८-७६, ७७ (मैं) हर्षित होता हूं, प्रसन्न होता हूं
हे—११-४१ हे, संबोधनार्थक उपपद
हेतवः—१८-१५ कारण, हेतु
हेतुना—९-१० हेतुसे, कारणसे
हेतुमद्भिः—१३-४ कार्यकारण-के हेतुवाले (के द्वारा), युक्ति-वाले (के द्वारा), उदाहरण तर्क (के द्वारा)
हेतुः—१३-२० कारण, हेतु
हेतोः—१-३५ कारणसे, हेतुसे
ह्रियते—६-४४ (वह) खिंचता है
ह्रीः—१६-२ अकार्यमें लज्जा, मर्यादा, व्रीड़ा

गीता-माता

[गीता-संबंधी विविध विचार]

गीता-माता

: १ :

गीता-माता

गीता शास्त्रोका दोहन है। मैंने कही पढा था कि सारे उपनिषदोका निचोड़ उसके ७०० श्लोकोमे आ जाता है। इसलिए मैंने निश्चय किया कि कुछ न हो सके तो भी गीताका ज्ञान प्राप्त कर लू। आज गीता मेरे लिए केवल बाइबिल नही है, केवल कुरान नही है, मेरे लिए वह माता हो गई है। मुझे जन्म देनेवाली माता तो चली गई, पर संकटके समय गीतामाता के पास जाना मै सीख गया हू। मैंने देखा है कि जो कोई इस माताकी शरण जाता है, उसे ज्ञानामृतसे वह तृप्त करती है।

कुछ लोग कहते है कि गीता तो महा गूढ ग्रथ है। स्व० लोकमान्य तिलकने अनेक ग्रथोका मनन करके पडितकी दृष्टिसे उसका अभ्यास किया और उसके गूढ अर्थोको वे प्रकाशमे लाये। उसपर एक महाभाष्यकी रचना भी की। तिलक महाराजके लिए यह गूढ ग्रथ था; पर हमारे जैसे साधारण मनुष्यके लिए वह गूढ नही है। सारी गीताका वाचन आपको कठिन मालूम हो तो आप केवल पहले तीन अध्याय पढ ले। गीताका सब सार इन तीन अध्यायोमे आ जाता है। बाकीके अध्यायोंमे वही बात अधिक विस्तारसे और अनेक दृष्टियोंसे सिद्ध की गई है। यह भी किसीको कठिन मालूम हो तो इन तीन अध्यायोमेसे कुछ ऐसे श्लोक

छांटे जा सकते हैं[1] जिनमे गीताका निचोड़ आ जाता है। तीन जगहोंपर तो गीतामें यह भी आता है कि सब धर्मोंको छोड़कर तू केवल मेरी ही शरण ले। इससे अधिक सरल और सादा उपदेश और क्या हो सकता है? जो मनुष्य गीतामेंसे अपने लिए आश्वासन प्राप्त करना चाहे तो उसे उसमेंसे वह पूरा-पूरा मिल जाता है। जो मनुष्य गीताका भक्त होता है, उसके लिए निराशाकी कोई जगह नहीं है, वह हमेशा आनंदमे रहता है।

पर इसके लिए बुद्धिवाद नही, बल्कि अव्यभिचारिणी भक्ति चाहिए। अब तक मैंने एक भी ऐसे आदमीको नहीं जाना जिसने गीताका अव्यभिचारिणी भक्तिसे सेवन किया हो और जिसे गीतासे आश्वासन न मिला हो। तुम विद्यार्थी लोग कही परीक्षामें फेल हो जाते हो तो निराशाके सागरमें डूब जाते हो। गीता निराश होनेवालोंको पुरुषार्थ सिखाती है, आलस्य और व्यभिचारका त्याग बताती है। एक वस्तुका ध्यान करना, दूसरी चीज बोलना और तीसरीको सुनना इसको व्यभिचार कहते हैं। गीता सिखाती है कि पास हो या फेल, दोनो चीजें समान हैं। मनुष्यको केवल प्रयत्न करनेका अधिकार है, फलपर कोई अधिकार नही। यह आश्वासन मुझे कोई नही दे सकता, वह तो अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त होता है। सत्याग्रहीकी हैसियतसे मै कह सकता हूं कि इसमेंसे नित्य ही मुझे कुछ-न-कुछ नई वस्तु मिलती रहती है। कोई मुझे कहेगा कि यह तुम्हारी मूर्खता है तो मैं उसे कहूंगा कि मै अपनी इस मूर्खतापर अटल रहूंगा। इसलिए सब विद्यार्थियोंसे मै कहूंगा कि सबेरे उठकर तुम इसका अभ्यास करो। तुलसीदासका मैं भक्त हूं; पर तुम लोगोंको इस समय मैं तुलसी-

---

[1] गांधीजी ने स्वयं चुने हुए श्लोकोंका एक संग्रह 'गीता प्रवेशिका'-के नामसे किया था, जो इस पुस्तकमें अन्यत्र दिया गया है।

वास नहीं सुझाता हूं। विद्यार्थीकी हैसियतसे तो तुम गीताका ही अभ्यास करो, पर द्वेष-भावसे नहीं, भक्ति-भावसे। तुम उसमें भक्तिपूर्वक प्रवेश करोगे तो जो तुम्हें चाहिए वह उसमेंसे मिलेगा। अठारहों अध्याय कंठ करना कोई खेल नहीं है, पर करने जैसी चीज तो है ही। तुम एक बार उसका आश्रय लोगे तो देखोगे कि दिनोंदिन उसमें तुम्हारा अनुराग बढ़ेगा। फिर तुम कारागृहमें हो या जंगलमें, आकाशमें हो या अंधेरी कोठरीमें, गीताका रटन तो निरंतर तुम्हारे हृदयमें चलता ही रहेगा और उसमेंसे तुम्हें आश्वासन मिलेगा। तुमसे यह आधार तो कोई छीन ही नहीं सकता। इसके रटनमें जिसका प्राण जायगा उसके लिए तो वह सर्वस्व ही है, केवल निर्वाण नहीं, बल्कि ब्रह्म निर्वाण है।

: २ :

गीतासे प्रथम परिचय

विलायतमें रहते हुए कोई एक साल हुआ होगा, इस बीच दो थियोसाफिस्ट मित्रोंसे मुलाकात हुई। दोनों सगे भाई थे और अविवाहित थे। उन्होंने मुझसे गीताकी बात चलाई। उन दिनों वे एडविन आरनॉल्डकृत गीताके अंग्रेजी अनुवादको पढ़ रहे थे, पर मुझे उन्होंने अपने साथ संस्कृतमें, गीता पढ़नेके लिए कहा। मैं लज्जित हुआ, क्योंकि मैंने तो गीता न संस्कृतमें, न भाषामें ही पढ़ी थी। मुझे उनसे यह बात झेंपते हुए कहनी पड़ी, पर साथ ही यह भी कहा कि मैं आपके साथ पढ़ने के लिए तैयार हूं। यों तो मेरा संस्कृत ज्ञान नहींके बराबर है, फिर भी मैं इतना समझ सकूंगा कि अनुवाद कहीं गड़बड़ होगा तो वह बता सकूं। इस तरह इन

भाइयोंके साथ मेरा गीता-वाचन प्रारंभ हुआ। दूसरे अध्यायके अंतिम श्लोकोंमें :

ध्यायतो विषयान्पुंस: सगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते काम: कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोह: संमोहात्स्मृतिविभ्रम ।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥[1]

इन श्लोकोंका मेरे दिलपर गहरा असर हुआ। बस कानोंमें उनकी ध्वनि दिनरात गूंजा करती। तब मुझे प्रतीत हुआ कि भगवद्गीता तो अमूल्य ग्रंथ है। यह धारणा दिन-दिन अधिक दृढ़ होती गई, और अब तो तत्त्वज्ञानके लिए मैं उसे सर्वोत्तम ग्रथ मानता हू। निराशाके समय इस ग्रंथने मेरी अमूल्य सहायता की है। यो इसके लगभग तमाम अंग्रेजी अनुवाद मैं पढ गया हू, परन्तु एडविन आरनॉल्डका अनुवाद सबमे श्रेष्ठ मालूम होता है। उन्होने मूल ग्रथके भावोकी अच्छी रक्षा की है और तिसपर भी वह अनुवाद जैसा नही मालूम होता। फिर भी यह नही कह सकते कि इस समय मैंने भगवद्गीताका अच्छा अध्ययन कर लिया है। उसका रोजमर्रा पाठ तो वर्षों बाद शुरू हुआ।

'आत्मकथा,' नवा संस्करण
पृष्ठ ७१

---

[1] विषयका चिंतन करनेसे, पहले तो उसके साथ संग पैदा होता है और संगसे कामकी उत्पत्ति होती है। कामनाके पीछे-पीछे क्रोध आता है। फिर क्रोधसे संमोह, संमोहसे स्मृतिभ्रम और स्मृतिभ्रमसे बुद्धिका नाश होता है और अंतमें पुरुष खुद ही नष्ट हो जाता है।

: ३ :

गीताका अध्ययन

गीताका अध्ययन शुरू किया। एक छोटा-सा 'जिज्ञासुमंडल' भी बनाया गया और नियम-पूर्वक अध्ययन आरंभ हुआ। गीताजीके प्रति मेरा प्रेम और श्रद्धा तो पहले हीसे थी। अब उसका गहराईके साथ रहस्य समझनेकी आवश्यकता दिखाई दी। मेरे पास एक-दो अनुवाद रखे थे। उनकी सहायतासे मूल संस्कृत समझनेका प्रयत्न किया और नित्य एक या दो श्लोक कंठ करनेका निश्चय किया।

सुबहका दतौन और स्नानका समय मैं गीताजी कंठ करनेमें लगाता। दतौनमें १५ और स्नानमें २० मिनट लगते। दतौन अंग्रेजी रिवाजके मुताबिक खड़े-खड़े करता। सामने दीवारपर गीताजीके श्लोक लिखकर चिपका देता और उन्हें देख-देखकर रटता रहता। इस तरह रटे हुए श्लोक स्नान करने तक पक्के हो जाते। बीचमें पिछले श्लोकोंको भी दुहरा जाता। इस प्रकार मुझे याद पडता है कि १३ अध्याय तक गीता कण्ठ करली थी, पर बादमें कामकी झंझटें बढ़ गईं। सत्याग्रहका जन्म हो गया और उस बालक की परवरिशका भार मुझपर आ पड़ा, जिससे विचार करनेका समय भी उसके लालन-पालनमें बीता और कह सकते है कि अब भी बीत रहा है।

गीता-पाठका असर मेरे सहाध्यायियोंपर तो जो कुछ पड़ा हो वह वही बता सकते हैं, किन्तु मेरे लिए तो गीता आचारकी एक प्रौढ़ मार्गदर्शिका बन गई है। वह मेरा धार्मिक कोष हो गई है। अपरिचित अंग्रेजी शब्दके हिज्जे या अर्थको देखने के लिए जिस तरह मैं अंग्रेजी कोषको खोलता, उसी तरह आचार-संबंधी कठिनाइयों और उसकी अटपटी गुत्थियोंको गीताजीके द्वारा सुलझाता। उसके अपरिग्रह, समभाव इत्यादि शब्दोंने मुझे गिर-फ्तार कर लिया। यही धुन रहने लगी कि समभाव कैसे प्राप्त करूं, कैसे

उसका पालन करूं ? जो अधिकारी हमारा अपमान करे, जो रिश्वतखोर हैं, रास्ते चलते जो विरोध करते हैं, जो कलके साथी हैं, उनमें और उन सज्जनोंमें जिन्होंने हमपर भारी उपकार किया है, क्या कुछ भेद नहीं है ? अपरिग्रहका पालन किस तरह मुमकिन है ? क्या यह हमारी देह ही हमारे लिए कम परिग्रह है ? स्त्री-पुरुष आदि यदि परिग्रह नहीं तो फिर क्या है ? क्या पुस्तकोंसे भरी इन अलमारियोंमें आग लगा दूं ? पर यह तो घर जलाकर तीर्थ करना हुआ। अंदरसे तुरंत उत्तर मिला, "हां, घरबारको खाक किए बिना तीर्थ नही किया जा सकता।" इसमें अंग्रेजी कानूनके अध्ययनने मेरी सहायता की। स्नेल-रचित कानूनके सिद्धान्तोंकी चर्चा याद आई। ट्रस्टी शब्दका अर्थ, गीताजीके अध्ययनकी बदौलत अच्छी तरह समझमें आया। कानूनशास्त्रके प्रति मनमें आदर बढ़ा, उसके अंदर भी मुझे धर्मका तत्त्व दिखाई पडा। ट्रस्टी यो करोडोकी संपत्ति रखते हैं, फिरभी उसकी एक पाईपर उनका अधिकार नही होता। इसी तरह मुमुक्षुको अपना आचरण रखना चाहिए, यह पाठ मैंने गीताजीसे सीखा। अपरिग्रही होनेके लिए समभाव रखनेके लिए हेतुका और हृदयका परिवर्त्तन आवश्यक है, यह बात मुझे दीपककी तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी। बस, तुरंत रेवाशंकरभाईको लिखा कि बीमेकी पालिसी बंद कर दीजिए। कुछ रुपया वापस मिल जाय तो ठीक, नही तो खैर। बाल-बच्चो और गृहिणीकी रक्षा वह ईश्वर करेगा जिसने उनको और हमको पैदा किया है। यह आशय मेरे उस पत्रका था। पिताके समान अपने बडे भाईको लिखा, "आजतक मै जो कुछ बचाता रहा, आपके अर्पण करता रहा, अब मेरी आशा छोड़ दीजिए। अब जोकुछ बच रहेगा, वह यहीके सार्वजनिक कामोंमे लगेगा।"

आत्मकथा', नया सस्करण
पृष्ठ २६५

: ४ :

गीता-ध्यान

कल्पनाका चित्र कुछ भी खींचा हो और उसका ध्यान किया हो तो इसमें दोष नहीं देखता। लेकिन गीतामाताके ध्यानसे संतोष होता हो तो और क्या चाहिए ? गीताका ध्यान दो तरहसे हो सकता है : एक तो उसे माताके रूपमें माना है। इसलिए सामने माताकी तस्वीरकी जरूरत रहती हो तो या तो अपनी मामें ही, यदि वह मर गई हो तो, कामधेनुका आरोपण करके गीताके रूपमें मानकर उसका ध्यान करना चाहिए, या कोई भी काल्पनिक चित्र मनमें खींच लिया जाय। उसे गोमाताका रूप दिया हो तो भी काम चल सकता है। दूसरी तरह हो सके तो इसे मैं ज्यादा अच्छा समझता हू। हम हमेशा जो अध्याय बोलते हों, उसमेंसे या किसी भी अध्यायके किसी भी श्लोक या किसी शब्दका ध्यान धरना ही उसका चिन्तवन करना है। गीतामें जितने शब्द हैं उतने ही उसके आभूषण हैं और प्रियजनोंके आभूषणोंका ध्यान करना भी उन्हींका ध्यान धरनेके बराबर है। यही बात गीताकी है। लेकिन इसके सिवा किसीको और कोई ढंग मिल जाय तो भले ही वह उस ढगसे ध्यान धरे। जितने दिमाग उतनी ही विविधता होती है। कोई दो व्यक्ति एक ही तरीकेसे एक ही चीजका ध्यान नही करते। दोनोंके वर्णन और कल्पनामें कुछ-न-कुछ फर्क तो रहेगा ही।

छठे अध्यायके अनुसार जरा-सी भी की हुई साधना बेकार नही जाती और जहासे रह गई हो वहासे दूसरे जन्ममें आगे चलती है। इसी तरह जिसमें कल्याणमार्गकी तरफ मुडनेकी इच्छा तो जरूर हो मगर अमल करनेकी शक्ति न हो, उसे ऐसा मौका जरूर मिलेगा, जिससे दूसरे जन्ममें उसकी यह इच्छा दृढ हो। इस बारेमें भी मेरे मनमें कोई शंका नही है। मगर इसका यह अर्थ न किया जाय कि तब तो हम इस जन्ममें शिथिल रहे,

तो भी काम चलेगा। ऐसी इच्छा इच्छा नहीं है, या वह बौद्धिक है, मगर हार्दिक नहीं है। बौद्धिक इच्छाके लिए कोई स्थान ही नहीं है। वह मरनेके बाद नही रहती; पर जो इच्छा दिलमें पैठ जाती है उसके पीछे प्रयत्न तो होना ही चाहिए। मगर कई कारणोंसे और शरीरकी कमजोरीसे संभव है कि यह इच्छा इस जन्ममें पूरी न हो। और इस तरहका अनुभव हमें रोज होता है। मगर इस इच्छाको लेकर जीव देहको छोड़ता है और दूसरे जन्ममें इस जन्मकी उपाधियां कम होकर यह इच्छा फलती है या ज्यादा मजबूत तो होती ही है। इस तरह कल्याणकृत लगातार आगे बढता ही रहता है।

ज्ञानेश्वर महाराजने निवृत्तिनाथके जीते हुए उनका ध्यान धरा हो तो भले ही धरा हो; लेकिन इतना होनेपर भी मेरी पक्की राय है कि वह हमारे नकल करने लायक नहीं है। जिसका ध्यान करना है वह पूर्णता को पाया हुआ व्यक्ति होना चाहिए। जीवित व्यक्तिके लिए इस तरहका ख्याल करना बिलकुल बेजा और गैरजरूरी है। किन्तु यह हो सकता है कि ज्ञानेश्वर महाराजने शरीरधारी निवृत्तिनाथका ध्यान किया हो। मगर हम इस झगड़ेमें कहां पड़ें? और जब जीवित मूर्तिका ध्यान करनेका सवाल उठता है तब कल्पनाकी मूर्तिकी गुंजायश नही रहती। और इसका उल्लेख करके जवाब दिया हो तो इस जबाबसे बुद्धिभ्रंश होना संभव है।

पहले अध्यायमें जो नाम दिए है, वे सब नाम, मेरी रायमें, व्यक्तिवाचक होनेके बजाय गुणवाचक ज्यादा है। दैवी और आसुरी वृत्तियोके बीचकी लड़ाईका बयान करते हुए कविने वृत्तियोको मूर्तिमान बनाया है। इस कल्पनामें इस बातसे इनकार नहीं किया गया है कि पांडवों और कौरवोंके बीच हस्तिनापुर के पास सचमुच युद्ध हुआ होगा। मेरी ऐसी कल्पना है कि उस जमानेका कोई दृष्टान्त लेकर कविने इस महान ग्रंथकी रचना की है। इसमें भूल हो सकती है, या ये सब नाम ऐतिहासिक हों तो ऐतिहासिक

आरंभके लिए ये नाम लेना बेजा भी नहीं माना जा सकता। विषय-विचारके लिए पहला अध्याय जरूरी है, इसलिए गीता-पाठके वक्त उसे पढ़ लेना भी जरूरी है।

'महादेवभाईनी डायरी',
पहला भाग, पृष्ठ २२३
१८ जून १९३२

वह दिन याद आता है जब मि० बेकर मुझे वेलिंग्टन कन्वेन्शनमें ईसाई बनानेको ले गए। वे हमेशा मेरे साथ चर्चा करते थे। मैं उन्हें कहता कि आप मुझमें श्रद्धा जाग्रत कीजिए। जो भी अच्छा असर आप मुझ पर डालना चाहते हो, वह डालने देनेके लिए मैं तैयार हूं। इसलिए उन्होंने कहा कि वेलिंग्टन कन्वेन्शनमें चलो। वहां समर्थ लोग आएंगे। आप उनसे मिलेंगे तो आपको विश्वास हुए बिना रहेगा ही नहीं। सारे डब्बेमें गोरे बैठे थे और मैं अकेला ऊपरके बंकपर दबा हुआ बैठा था। वे लोग कहने लगे, "देखिए, हिक्स नदी आई, भव्य प्रदेश है। देखिए, सूर्योदयके दर्शन तो कीजिए!" मगर मैं उतरता ही न था। मैं तो ११ वें अध्यायका पाठ कर रहा था। बेकरने मुझसे पूछा, "क्या पढ़ रहे हैं?" मैंने कहा, "भगवद्गीता।" उन्हें लगा होगा कि कैसा मूर्ख है कि बाइबिल नहीं पढ़ता! मगर क्या करते? उन्हें मुझपर जबरदस्ती तो करनी न थी। कन्वेन्शनमें मेरेलिए विशेष प्रार्थना भी हुई। मगर मैं कोरा-का-कोरा ही लौटा।

'महादेवभाईनी डायरी'
पहला भाग, पृष्ठ २२७
१९ जून १९३२

: ५ :

गीतापर आस्था

....फिर एक 'विशालबुद्धि' पुरुष—गीताका प्रणेता उत्पन्न हुआ। उसने हिन्दू-समाजको गहरे तत्त्वज्ञानसे भरा और साथ ही हिन्दू-धर्मका ऐसा दोहन अर्पित किया कि जो मुग्ध जिज्ञासुको सहज ही समझमें आ सकता है। हिन्दू-धर्मका अध्ययन करनेकी इच्छा रखनेवाले प्रत्येक हिन्दूके लिए यह एकमात्र सुलभ ग्रंथ है और यदि अन्य सभी धर्मशास्त्र जलकर भस्म हो जायं तब भी इस अमर ग्रंथके सात सौ श्लोक यह बतानेके लिए पर्याप्त होंगे कि हिन्दू-धर्म क्या है और उसे जीवनमें किस प्रकार उतारा जाय। मैं सनातनी होनेका दावा करता हूं; क्योंकि चालीस वर्षोंसे उस ग्रंथके उपदेशोंको जीवनमें अक्षरशः उतारनेका मैं प्रयत्न करता आया हूं। गीताके मुख्य सिद्धान्तके विपरीत जो कुछ भी हो, उसे मैं हिन्दू-धर्मका विरोधी मानकर अस्वीकार करता हूं। गीतामें किसी भी धर्म या धर्म-गुरुके प्रति द्वेष नहीं। मुझे यह कहते बड़ा आनंद होता है कि मैंने गीताके प्रति जितना पूज्यभाव रखा है, उतने ही पूज्यभावसे मैंने बाइबिल, कुरान, जंदअवस्ता और संसारके अन्य धर्म ग्रन्थ पढे है। इस वाचनने गीताके प्रति मेरी श्रद्धाको दृढ़ बनाया है। उससे मेरी दृष्टि और उससे मेरा हिन्दू धर्म विशाल हुआ है। जैसे कि जरथुस्त, ईसा और मुहम्मदके जीवन-चरितको मैंने समझा है, वैसे ही गीताके बहुतसे वचनोंपर मैंने प्रकाश डाला है। इससे इन सनातनी मित्रोंने मुझे जो ताना दिया है, वह मेरे लिए तो आश्वासनका कारण बन गया है। मैं अपनेको हिन्दू कहनेमें गौरव मानता हूं; क्योंकि मेरे मनमें यह शब्द इतना विशाल है कि पृथ्वीके चारों कोनोंके पैगंबरोंके प्रति यह केवल सहिष्णुता ही नहीं रखता, वरन् उन्हें आत्मसात् कर देता है। इस जीवन-संहितामें कहीं भी अस्पृश्यताको स्थान हो, ऐसा

मैं नही देखता। इसके विपरीत, लोह-चुंबकके समान चित्ताकर्षक वाणीमें मेरी बुद्धिको स्पर्श करके और इसके भी आगे मेरे हृदयको पूर्णतया स्पर्श करके मेरे मनमें यह आस्था उत्पन्न करती है कि भूतमात्र एक रूप हैं, वे सभी ईश्वरमेंसे निकले हैं और उसीमे विलीन हो जानेवाले हैं। भगवती गीतामाताद्वारा उपदिष्ट सनातन धर्मके अनुसार जीवनका साफल्य बाह्य आचार और कर्मकांडमें नही, वरन् संपूर्ण चित्तशुद्धिमे और शरीर, मन और आत्मा-सहित समग्र व्यक्तित्वको परब्रह्मके साथ एकाकार कर देनेमें है। गीता के इस संदेशको अपने जीवनमें ओतप्रोत करके मैं करोड़ोंकी मानवमेदिनीके पास गया हूं और उन्होंने मेरी बातें सुनी हैं सो मेरी राजनीतिज्ञताके कारण अथवा मेरी वाणीकी छटाके कारण नही, बल्कि मेरा विश्वास है कि मुझे अपना, अपने धर्मका मानकर सुनी हैं। समयके साथ-साथ मेरी यह श्रद्धा अधिकाधिक दृढ़ होती गई है कि मैं सनातनधर्मी होनेका दावा करूं, यह चीज गलत नहीं और यदि ईश्वरकी इच्छा होगी तो वह मुझे इस दावेपर मेरी मृत्युकी मुहर लगा लेने देगा।

'महादेवभाईनी डायरी,'
भाग दो, पृष्ठ ४३५
८ नवंबर १९३२

: ६ :

गीताका अर्थ

एक मित्र इस प्रकार प्रश्न करते है :

"गीताका संदेश क्या है ? हिंसा या अहिंसा ? मालूम होता है कि यह झगड़ा हमेशा ही चलता रहेगा। यह बात और है कि हम गीतामें

किस संदेशको देखना चाहते हैं और उसमेंसे कौनसा संदेश निकालना चाहते हैं और यह दूसरी ही बात है कि उसको सीधे ही पढ़नेपर क्या छाप पड़ती है। जिसके दिलमें यह बात जम गई है कि अहिंसा-तत्त्व ही जीवन-संदेश है, उसके लिए तो यह प्रश्न गौण है। वह तो यही कहेगा कि गीतामेंसे अहिंसा निकलती हो तो मुझे वह ग्राह्य है। इतने भव्य ग्रंथमेंसे अहिंसा जैसा भव्य धार्मिक सिद्धान्त ही निकलना चाहिए; किन्तु यदि न निकलता हो तो गीताको भी रहने दीजिए। उसको आदरसे पूजेंगे; लेकिन उसे प्रमाण ग्रंथ नहीं मानेंगे।

"प्रथम अध्यायको पढ़नेपर यही प्रतीत होता है कि अहिंसा वृत्तिसे प्रेरित अर्जुन अशस्त्र होकर कौरवोंके हाथो मरनेको तैयार है। हिंसासे होनेवाले पाप और हानि उसकी निगाहमें साफ़ नज़र आते हैं। विषादसे वह काप उठता है और कहता है:

'अहो बत् महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम्।' इसपर श्रीकृष्ण उससे कहते हैं—समझदार होकर भी यह क्या बोलते हो ? कोई किसीको न मारता है, न कोई मरता ही है। आत्मा अमर है और शरीरका नाश तो होगा ही। इसलिए इस धर्म-प्राप्त युद्धको लड़ लो। जय क्या और पराजय क्या ? केवल अपना कर्तव्य पूरा करो।

"११वें अध्यायमें भी उसे विश्वरूप दिखाकर भगवान् श्रीकृष्ण यही कहते हैं :

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः

× × ×

मया हतास्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा।

"ईश्वरकी दृष्टिमें हिंसा और अहिंसा दोनों समान ही हैं; लेकिन मनुष्यके लिए ईश्वरका संदेश क्या हो सकता है ?

'युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ।'

यह क्या ? गीताका संदेश यदि अहिंसा हो तो १ और ११ अध्याय सुसम्बद्ध नहीं मालूम होते । वे उसके पोषक तो हैं ही नहीं । ऐसी शंकाओंका समाधान कौन करे ?

"काम की भीड़ में से कुछ समय निकाल कर आप इसका जवाब दें तो कितना अच्छा हो !"

ऐसे प्रश्न तो हुआ ही करेंगे । जिसने कुछ अध्ययन किया है उसे उनका यथाशक्ति जवाब भी देना होगा; किन्तु इनका समाधान करनेपर भी आखिर मुझे यह तो कहना ही पड़ेगा कि मनुष्य वही करेगा जो उसका हृदय उसे करने को कहेगा । प्रथम हृदय है और फिर बुद्धि । प्रथम सिद्धांत और फिर प्रमाण । प्रथम स्फुरण और फिर उसके अनुकूल तर्क । प्रथम कर्म और फिर बुद्धि । इसीलिए बुद्धि कर्मानुसारिणी कही गई है । मनुष्य जो कुछ भी करता है या करना चाहता है उसका समर्थन करनेके लिए प्रमाण भी ढूढ़ निकालता है ।

इसलिए मैं समझता हू कि मेरा गीताका अर्थ सबके अनुकूल न होगा । ऐसी स्थितिमे यदि मै इतना ही कहूँ कि गीताके मेरे अर्थपर मै किस तरह पहुचा और धर्मशास्त्रियोंके अर्थ निकालनेमें मैंने किन-किन सिद्धान्तोको मान्य रखा है तो यही बस होगा । "परिणाम चाहे कुछ आवे, मुझे तो युद्ध करना चाहिए । जो शत्रु मरने योग्य है, वे तो स्वयं ही मरे हुए हैं । मुझ तो उनको मारनेमें मात्र निमित्त बनना है ।"

१८८९ के सालमें गीताजीसे मेरा प्रथम परिचय हुआ । उस समय मेरी उम्र २० सालकी थी । मैं अहिंसाधर्मको बहुत ही थोड़ा समझता था । शत्रुको भी प्रेमसे जीतना चाहिए, यह मैं गुजराती कवि शामल भट्टके इस छप्पयसे "पाणी आपे ने वाय भलुं भोजन तो दीजे" सीखा था । इसमें जो सत्य है वह मेरे हृदयमें अच्छी तरह बैठ गया था,

किन्तु उस समय मुझे उसमेंसे जीव-दयाकी स्फुरणा नहीं हुई थी। इसके पहले मैं देश ही में मांसाहार कर चुका था। मैं मानता था कि सर्पादिका नाश करना धर्म है। मुझे याद आता है कि मैंने खटमल इत्यादि जीव मारे हैं। मुझे तो यह भी याद आता है कि मैंने एक बिच्छूको भी मारा था। आज यह समझा हूं कि ऐसे जहरीले जीवोंको भी न मारना चाहिए। उस समय मैं यह मानता था कि हमें अंग्रेजोंके साथ लडनेके लिए तैयारी करनी होगी। 'अंग्रेज राज्य करते हैं इसमें आश्चर्य ही क्या है'—इस आशयकी एक कविता गुनगुनाया करता था। मेरा मांसाहार इसी तैयारीका कारण था। विलायत जानेके पहले मेरे ऐसे विचार थे। मैं मांसाहार इत्यादिसे बच गया, इसका कारण माताके दिये हुए वचनोंको मरते दम तक पालन करनेकी मेरी वृत्ति ही थी। सत्यके प्रति मेरे प्रेमने बहुत-सी आपत्तियोंमेंसे मेरी रक्षा की है।

अब दो अंग्रेजोंसे प्रसग पड़नेपर मुझे गीता पढ़नी पड़ी। 'पढ़नी पड़ी' इसलिए कहता हूं, क्योंकि उसे पढनेकी मुझे कोई खास इच्छा न थी, लेकिन जब इन दो भाइयोंने मुझे उनके साथ गीता पढ़नेको कहा तब मैं शर्मिन्दा हुआ। मुझे अपने धर्मशास्त्रोंका कुछ भी ज्ञान नहीं है, इस ख्यालसे मुझे बड़ा दु:ख हुआ। मालूम होता है, इस दु:खका कारण अभिमान था। मेरा सस्कृतका अध्ययन ऐसा तो था ही नहीं कि गीताजीके सब श्लोकोंका अर्थ मैं बिना किसी मददके ठीक-ठीक समझलूं। ये दोनों भाई तो कुछ भी न समझते थे। उन्होंने सर एडविन आरनॉल्डका गीताजीका उत्तमोत्तम काव्यानुवाद मेरे सामने रख दिया। मैंने तो फौरन ही उस पुस्तकको पढ डाला और उसपर मैं मुग्ध हो गया। तबसे लेकर आजतक दूसरे अध्यायके अंतिम १९ श्लोक मेरे हृदयमें अंकित है। मेरे लिए तो सब धर्म उन्हींमें आ जाता है। उसमें संपूर्ण ज्ञान है। उसमें कहे हुए सिद्धांत अचल हैं। उसमें बुद्धिका भी संपूर्ण प्रयोग किया गया है; लेकिन यह

बुद्धि संस्कारी बुद्धि है। उसमें अनुभव ज्ञान है।

इस परिचयके बाद तो मैंने बहुत-से अनुवाद पढ़े, बहुत-सी टीकाएं पढ़ीं, बहुत-से तर्क किये और सुने, लेकिन उसे पढ़नेपर जो छाप मुझपर पड़ी थी वह दूर नहीं हुई। ये श्लोक गीताजीके अर्थको समझनेकी कुंजी हैं। उससे विरोधी अर्थवाले वचन यदि मिलें तो उन्हें त्याग करनेकी भी सलाह मैं दूंगा। नम्र और विनयी मनुष्यको तो त्याग करनेकी भी जरूरत नहीं है। वह तो सिर्फ योंही कह दे कि दूसरे श्लोकोंका आज इसके साथ मेल नहीं मिलता है तो यह मेरी बुद्धिका ही दोष है। समय बीतनेपर इनका और इन उन्नीस श्लोकोंमें कहे गये सिद्धांतोंका भी मेल बैठ जायगा। अपने मनसे और दूसरोंसे यह कहकर वह शांत हो जायगा।

शास्त्रका अर्थ करनेमें संस्कार और अनुभवकी आवश्यकता है। 'शूद्रको वेदका अभ्यास नहीं होता', यह वाक्य सर्वथा गलत नहीं है। शूद्र अर्थात् असंस्कारी, मूर्ख, अज्ञान। वह वेदादिका अभ्यास करके उनका अनर्थ करेगा। बड़ी उम्रके भी सब लोग बीजगणितके कठिन प्रश्न अपने आप समझनेके अधिकारी नहीं हैं। उनको समझनेके पहले उन्हें कुछ प्राथमिक शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। व्यभिचारीके मुखसे 'अहं ब्रह्मास्मि' क्या शोभा देगा? उसका वह क्या अर्थ (या अनर्थ) करेगा?

अर्थात् शास्त्रका अर्थ करनेवाला यमादिका पालन करनेवाला होना चाहिए। यमादिका शुष्क पालन जैसा कठिन है, वैसा ही निरर्थक भी है। शास्त्रोंने गुरुका होना आवश्यक माना है; लेकिन इस जमानेमें गुरुओंका तो करीब-करीब लोप-सा हो गया है। ज्ञानी लोग इसीलिए भक्ति-प्रधान प्राकृत ग्रंथोंका पठन-पाठन करनेकी शिक्षा देते हैं; किन्तु जिनमें भक्ति नहीं, श्रद्धा नहीं, वे शास्त्रका अर्थ करनेके अधिकारी नहीं होते। विद्वान् लोग विद्वत्तापूर्ण अर्थ उसमेंसे भले ही निकालें; लेकिन वह शास्त्रार्थ नहीं। शास्त्रार्थ तो अनुभवी ही कर सकता है।

परंतु प्राकृत मनुष्योंके लिए भी कुछ सिद्धांत तो है ही। शास्त्रोंके वे अर्थ, जो सत्यके विरोधी हैं, सही नही हो सकते। जिसे सत्यके सत्य होनेके बारेमें ही शंका है उसके लिए शास्त्र हैं ही नहीं, अथवा यों कहिए कि उसके लिए सब शास्त्र अशास्त्र हैं। उसको कोई नहीं पहुंच सकता। जिसे शास्त्रमेंसे अहिंसा नहीं प्राप्त हुई है, उसके लिए भय है, लेकिन यह बात नही कि उसका उद्धार न हो। सत्य विध्यात्मक है, अहिंसा निषेधात्मक है। सत्य वस्तुका साक्षी है, अहिंसा वस्तु होनेपर भी उसका निषेध करती है। सत्य है, असत्य नही है। हिंसा है, अहिंसा नहीं है। फिर भी अहिंसा ही होना चाहिए। यही परम धर्म है। सत्य स्वयसिद्ध है। अहिंसा उसका संपूर्ण फल है। सत्यमें वह छिपी हुई ही है; किंतु वह सत्यकी तरह व्यक्त नहीं है। इसलिए उसको मान्य किये बिना मनुष्य भले ही शास्त्रका शोध करे, उसका सत्य आखिर उसे अहिंसा ही सिखावेगा।

सत्यका अर्थ तपश्चर्या तो है ही। सत्यका साक्षात्कार करनेवाले तपस्वीने चारों ओर फैली हुई हिंसामेंसे अहिंसादेवीको ससारके सामने प्रकट करके कहा—हिंसा मिथ्या है, माया है, अहिंसा ही सत्य वस्तु है। अहिंसाके बिना सत्यका साक्षात्कार असभवित है। ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह भी अहिंसाके अर्थमें है। ये अहिंसाको सिद्ध करनेवाले है। अहिंसा सत्यका प्राण है। उसके बिना मनुष्य पशु है। सत्यार्थी अपनी शोधके लिए प्रयत्न करते हुए यह सब बड़ी जल्दी समझ लेगा और फिर उसे शास्त्रका अर्थ करनेमें कोई मुसीबत पेश न आवेगी।

शास्त्रका अर्थ करनेमें दूसरा नियम यह है कि उसके प्रत्येक अक्षरको न पकड़कर उसकी ध्वनि खोजनी चाहिए, उसका रहस्य समझना चाहिए। तुलसीदासजीकी रामायण उत्तम ग्रंथ है; क्योंकि उसकी ध्वनि स्वच्छता है, दया है, भक्ति है। उसने 'शूद्र गंवार ढोल पशु नारी, ये सब ताड़नके

अधिकारी' लिखा, इसलिए यदि कोई पुरुष अपनी स्त्रीको मारे तो उसकी अधोगति होगी। रामचंद्रजीने सीताजीपर कभी प्रहार नहीं किया। इतना ही नहीं, उन्हें कभी दुःख भी नही पहुंचाया। तुलसीदासजीने केवल प्रचलित वाक्यको लिख दिया। उन्हें इस बातका ख्याल कभी न हुआ होगा कि इस वाक्यका आधार लेकर अपनी अर्धांगनाका ताड़न करनेवाले पशु भी कहीं निकल पड़ेंगे। यदि स्वयं तुलसीदासजीने भी रिवाजके वशवर्ती होकर अपनी पत्नीका ताड़न किया हो तो भी क्या? यह ताड़न अवश्य ही दोष है। फिर भी रामायण पत्नीके ताड़नके लिए नही लिखी गई है। रामायण तो पूर्ण पुरुषका दर्शन करानेके लिए, सतीशिरोमणि सीताजीका परिचय करानेके लिए और भरतकी आदर्श भक्तिका चरित्र चित्रित करनेके लिए लिखी गई है। उसमें मिलनेवाला दोषयुक्त रिवाजो-का समर्थन त्याज्य है। तुलसीदासजीने भूगोल सिखानेके लिए अपना अमूल्य ग्रथ नही बनाया है, इसलिए उनके ग्रंथमें यदि गलत भूगोल पाया जाय तो उसका त्याग करना अपना धर्म है।

अब गीताजी देखें। ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति और उसके साधन, यही गीताजीके विषय है। दो सेनाओंके बीच युद्धका होना निमित्त है। भले ही ऐसा कहें कि कवि स्वयं युद्धादिको निषिद्ध नही मानते थे और इसलिए उन्होंने युद्धके प्रसगका इस प्रकार उपयोग किया है। महाभारत पढनेके बाद तो मेरे ऊपर दूसरी ही छाप पडी है। व्यासजीने इतने सुंदर ग्रथ की रचना करके युद्धके मिथ्यात्वका ही वर्णन किया है। कौरव हारे तो उससे क्या हुआ? और पाडव जीते तो भी उससे क्या हुआ? विजयी कितने बचे? उनका क्या हुआ? कुती माताका क्या हाल हुआ? और आज यादव-कुल कहां है?

जहां विषय युद्ध-वर्णन और हिंसाका प्रतिपादन नहीं है, वहां उसपर जोर देना बिलकुल अनुचित ही माना जायगा और यदि कुछ श्लोकोंका

संबंध अहिंसाके साथ बैठाना मुश्किल मालूम होता है तो सारी गीताजीको हिंसाके चौखटेमें मढ़ना तो उससे कहीं ज्यादा मुश्किल है।

कवि जब किसी ग्रंथकी रचना करता है तो वह उसके सब अर्थोंकी कल्पना नहीं कर लेता है। काव्यकी यही खूबी है कि वह कविसे भी बढ़ जाता है। जिस सत्यका वह अपनी तन्मयतामें उच्चारण करता है, वही सत्य उसके जीवनमें अक्सर नहीं पाया जाता। इसलिए बहुतेरे कवियोंका जीवन उनके काव्योंके साथ सुसंगत नहीं मालूम होता। दूसरा अध्याय, जिससे विषयका आरंभ होता है और अठारहवां अध्याय, जिसमें उसकी पूर्णाहुति होती है, देखनेसे यही प्रतीत होगा कि गीताजीका सर्वाश तात्पर्य हिंसा नहीं, वरन् अहिंसा है। मध्यमें देखोगे तो भी यही प्रतीत होगा। बिना क्रोध, राग या द्वेषके हिंसाका होना संभव नहीं और गीता तो क्रोधादिको पार करके गुणातीतकी स्थितिमें पहुचानेका प्रयत्न करती है। गुणातीतमें क्रोधका सर्वथा अभाव होता है। अर्जुननें कान तक खींचकर जब-जब धनुष चढ़ाया, उस समयकी उसकी लाल-लाल आंखें मैं आज भी देख सकता हू।

परंतु अर्जुनने कब अहिंसाके लिए युद्ध छोड़नेकी हठ की थी ? उसने तो बहुतसे युद्ध किये थे। उसे तो एकाएक मोह हो गया था। वह तो अपने सगे-संबंधियोको नहीं मारना चाहता था। अर्जुनने दूसरोंको, जिन्हें वह पापी समझता हो, न मारनेकी बात तो की न थी। श्रीकृष्ण तो अंतर्यामी है। वे अर्जुनका यह क्षणिक मोह समझ लेते हैं और इसलिए उससे कहते है, "तुम हिंसा तो कर चुके हो। अब इस प्रकार एकाएक समझदार बननेका दंभ करके तुम अहिंसा न सीख सकोगे। इसलिए जिस कामका तुमने आरंभ किया है उसे अब तुम्हें पूरा ही करना चाहिए।" घंटेमें चालीस मीलके वेगसे जानेवाली रेलगाडीमें बैठा हुआ व्यक्ति एकाएक प्रवाससे विरक्त होकर यदि चलती हुई गाडीसे ही कूद पड़े तो

यही कहा जायगा कि उसने आत्म-हत्या की है। उससे उसने प्रवास या रेलगाड़ीमें बैठनेके मिथ्यात्वको कुछ नहीं सीखा है। अर्जुनका भी यही हाल था। अहिंसक कृष्ण अर्जुनको दूसरी सलाह दे ही नहीं सकते थे; लेकिन उससे यह अर्थ नहीं निकाल सकते कि गीताजीमें हिंसा हीका प्रतिपादन किया गया है। यह अर्थ निकालना उतना ही अनुचित है जितना कि यह कहना कि शरीर-व्यापारके लिए कुछ हिंसा अनिवार्य है और इसलिए हिंसा ही धर्म है। सूक्ष्मदर्शी इस हिंसामय शरीरसे अशरीरी होनेका अर्थात् मोक्षका ही धर्म सिखाता है।

लेकिन धृतराष्ट्र कौन थे, दुर्योधन युधिष्ठिर और अर्जुन कौन थे ? कृष्ण कौन थे ? क्या ये सब ऐतिहासिक पुरुष थे ? और क्या गीताजीमें उनके स्थूल व्यवहारका ही वर्णन किया गया है ? अकस्मात् अर्जुन सवाल करता है और कृष्ण सारी गीता पढ़ जाते हैं ! और अर्जुन यह कहकर भी कि उसका मोह नष्ट हो गया है यही गीता फिर भूल जाता है और कृष्णसे दुबारा अनुगीता कहलवाता है !

मै तो दुर्योधनादिको आसुरी और अर्जुनादिको दैवी वृत्ति मानता हू। धर्मक्षेत्र यह शरीर ही है। उसमें द्वंद्व चलता ही रहता है और अनुभवी ऋषि कवि उसका तादृश वर्णन करते है। कृष्ण तो अंतर्यामी है और हमेशा शुद्ध चित्तमें घडीकी तरह टिक-टिक करते रहते हैं। यदि चित्तको शुद्धि रूपी चाबी नही दी गई हो तो अतर्यामी यद्यपि वहा रहते तो है, तथापि उनका टिकटिकाना तो अवश्य ही बद हो जाता है।

कहनेका आशय यह नही कि इसमे स्थूल युद्धके लिए अवकाश ही नही है। जिसे अहिंसा सूझी ही नही है उसे यह धर्म नही सिखाया गया है कि कायर बनना चाहिए। जिसे भय लगता है, जो सग्रह करता है, जो विषयमे रत है, वह अवश्य ही हिंसामय युद्ध करेगा ; लेकिन उसका वह धर्म नही है। धर्म तो एक ही है। अहिंसाके मानी है मोक्ष और

मोक्ष है सत्यनारायणका साक्षात्कार। इसमें पीठ दिखानेको तो कहीं अवकाश ही नहीं है। इस विचित्र संसारमें हिंसा तो होती ही रहेगी। उससे बचनेका मार्ग गीता दिखाती है; लेकिन साथ-ही-साथ गीता यह भी कहती है कि कायर होकर भागनेसे हिंसासे न बच सकोगे। जो भागने-का विचार करता है, वह तो मारेगा और मरेगा।

प्रश्नकर्त्ताने जिन श्लोकोंका उल्लेख किया है, उनका अर्थ यदि अब भी उनकी समझमें न आवे तो मैं समझानेमें असमर्थ हूं। सर्वशक्तिमान् ईश्वर कर्त्ता, भर्ता और संहर्त्ता है और वह ऐसा ही होना चाहिए। इस विषयमें कोई शंका तो न होगी न? जो उत्पन्न करता है, वह उसका नाश करनेका अधिकार भी रखता है। फिर भी वह किसीको नहीं मारता; क्योंकि वह उत्पन्न भी नहीं करता। नियम यह है कि जिसने जन्म लिया है, उसने मरने हीके लिए जन्म लिया है। ईश्वर भी इस नियमको नहीं तोड़ सकता। यह उसकी दया है। यदि ईश्वर ही स्वच्छंद और स्वेच्छा-चारी बन जाय तो फिर हम सब कहां जायेंगे?

१५ अक्तूबर १९२५

: ७ :

गीता कंठ करो

गीताको कंठ करनेके विषयमें मैं बहुत बार लिख चुका हूं, कह चुका हूं। मेरे अपने किए यह न हो सका, इसलिए यह कहना मुझे शोभा नहीं देता। फिर भी इस बातको बारंबार कहते मुझे शर्म नहीं मालूम होती, इसलिए कि उसका लाभ मैं समझता हूं। मेरी गाड़ी ज्यों-त्यों चल गई है, क्योंकि एक बार तो मैं तेरहवें अध्याय तक कंठ कर गया था और गीताका

मनन तो बरसोंसे चल रहा है। इसलिए यह मान लिया जा सकता है कि उसकी छायाके नीचे मेरा कुछ निर्वाह हो गया; पर मैं उसे कंठ कर सका होता, अब भी उसमें अधिक गहराईमें पैठ सका होता तो हो सकता है, मैंने बहुत अधिक पाया होता; पर मेरा चाहे जो हुआ हो और हो, मेरा समय बीता हुआ माना जा सकता है या मानना चाहिए। यद्यपि मुझे सहज ही इसका सुयोग मिल जाय तो गीता कंठ करनेका प्रयत्न आरंभ कर दूं।

यहा गीताका अर्थ थोडा विस्तृत करना चाहिए । गीता, अर्थात् हमारा आधाररूप ग्रंथ। हममेंसे बहुतोंका आधार गीता है, इसलिए मैंने गीताका नाम लिया है। पर अमतुल (अमतुस्सलाम) प्रार्थना या कुरेशी गीता के बदले कुरान शरीफ़—पूरा या उसका कोई भाग कंठ कर सकते है। जिन्हे सस्कृत न आती हो, जो अब उसे सीख न सकते हो, वे गुजराती या हिन्दीमें कंठ करे। जिन्हें गीतापर आस्था न हो और दूसरे किसी धर्म-ग्रथपर हो, वे उसे कंठ करें।

और कठ करनेका अर्थ भी समझ लीजिए। जिस चीजको हम कंठ करें, उसके आदेशानुसार आचरण करनेका हमारा आग्रह होना चाहिए। वह मूल सिद्धान्तोका घातक न होना चाहिए। उसका अर्थ हम समझ चुके हो।

इसका फल है। हमारे पास ग्रंथ न हो, चोरी हो जाय, जल जाय, हमे भूल जाय, हमारी आख चली जाय, हम वाक्‌शक्तिसे रहित हो जाय, पर समझ बनी हो—ऐसे और भी दैवयोग सोचे जा सकते है—उस समय अगर अपना प्रिय आधाररूप ग्रथ कठ हो तो वह हमारे लिए भारी शांति देनेवाला हो जायगा और मार्गदर्शक होगा, सकटका साथी होगा।

दुनियाका अनुभव भी यही है। हमारे पुरखा—हिन्दु-मुसलमान, ईसाई, पारसी—कुछ विशेष पाठ कंठ किया करते थे। आज भी बहुतेरे

करते है। इन सबके अमूल्य अनुभवको हम फेंक न दें। इसमें कुछ अंशोंमें हमारी श्रद्धाकी परीक्षा है।

आश्रम वासियोंसे,
३१. जुलाई ३२

: ८ :

नित्य व्यवहारमें गीता[1]

कुछ युवकोंने यहां आते ही मुझे अनेक प्रश्न दिये। उनका जवाब ही मेरा आजका भाषण होगा।

प्रश्न—हिंदुस्तानकी वर्त्तमान परिस्थितिमें क्या आपको ऐसा नही लगता कि बतौर हिंदूके आपको श्रद्धानंद स्मारक कोषपर और अधिक जोर देना चाहिए? अगर आपको ऐसा मालूम होता हो तो फिर यह कोष इकट्ठा करनेमें आप क्यो हाथ नही बंटाते?

उत्तर—मै तो एक अपूर्ण मनुष्य हू। सपूर्ण सर्वशक्तिमान् तो एक ईश्वर है। मै अर्थशास्त्र जानता हूं। मेरे पास जो समय और शक्ति है, वह सब मैने देशको अर्पण कर दी है। मुझे यह अभिमान नही कि सारा काम मै ही करूं। जिस काममें पडित मालवीयजी और लालाजीके समान अनुभवी नेता पड़े हुए हों, उसमें मुझे और अधिक क्या करना था? जब कलकत्तेमें श्रद्धानद स्मारकके लिए ५० हजार रुपया इकट्ठा किया गया, उस समय मालवीयजीकी आज्ञासे मै वहां उपस्थित था। इसके बाद और कुछ अधिककी आशा मालवीयजीने मुझसे रक्खी नही।

---

[1] नासिकमें गांधीजीका भाषण।

मेरे कार्यक्षेत्रकी मर्यादा बंधी हुई है। भगवान् श्रीकृष्णके, गीताके उपदेशानुसार चलनेका प्रयत्न करनेवाला मैं एक अल्प मनुष्य हू और मैं यह समझता हूं कि मेरा अपना धर्म थोड़े-से-थोड़ेमें भी क्या है :

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

दूसरा धर्म चाहे जितना अच्छा लगता हो, पर मेरे लिए मेरा मर्यादित धर्म ही भला है, दूसरा भयावह है।

प्रश्न—आज आप जो चंदा इकट्ठा कर रहे है, क्या वह केवल खादीके लिए ही है ? अगर यह ठीक हो तो आप उसका किस प्रकार उपयोग करेंगे?

उत्तर—हा, यह धन केवल खादीके लिए ही है; क्योंकि यह अखिल भारत देशबधु स्मारक कोषके लिए इकट्ठा किया जा रहा है। इस कोषके साथ देशबधुका नाम केवल इसीलिए लगाया गया है कि देहांतके थोड़े ही दिनो पहले उन्होने खादीकी योजना तैयार की थी और खादी-कार्य उनको प्रिय था। खादीके लिए चंदा उगाहकर उसकी व्यवस्था करनेके लिए ही अखिल भारत चर्खा संघकी योजना की गई है। इस कोषकी पाई-पाईका हिसाब रक्खा जाता है और उसे देखनेका किसी भी मनुष्यको अधिकार है। इस संघका एक कार्यवाहक मंडल है, हिसाब जाचनेवाले है, निरीक्षक हे। इस संघने अभी देशके सामने खादी-सेवक-संघकी योजना पेश की है। आप कहेंगे कि जान लिया आपका मंडल। दीजिएगा तीस रुपल्ली। उससे भला होगा क्या ? हाँ, हमारा मडल तो भिखारी-मडल है, क्योंकि बहुतसे गरीब भिखारियोसे पैसा लेकर यह स्थापित हुआ है। यह कुछ इडियन सिविल सर्विस नहीं है कि हमें हजारों रुपया वेतनोमें देने पड़ें। इडियन सिविल सर्विस तो लोगोंके करोपर अवलंबित है। वह तो लोगोंपर राज्य करनेके लिए है और हमारा मंडल तो लोगोंकी सेवाके लिए है।

प्रश्न—आप मुसलमानोंके लिए पक्षपात क्यों करते हैं? कितने मुसलमान नेता आपपर व्यक्तिगत आक्षेप करते है। उनका आप जवाब भी नहीं देते। ऐसा क्यों?

उत्तर—परम धर्मका शुद्ध पक्ष लेनेमें मै अपने धर्मकी रक्षा ही करता हूं। मैं हिंदू धर्मका नाश नही चाहता, मैं नाश कर नही सकता; क्योंकि मैं हिंदू महासागरकी एक बूंदभर हूं। मुसलमान मुझे काफिर कहें तो उससे क्या हुआ? उसका जवाब क्या देना है! मेरा भानजा मेरे साथ ही रहता था। जब दूसरोंको लगा कि मैं उसका पक्षपात करता हू, उस समय मैंने और उसने भी समझा कि मै उसके साथ न्याय ही करता था। मुसलमान जब मुझपर आक्षेप करते है तो इससे शायद यह मालूम होता है कि मै उन्हें अभी पूरा न्याय न देता होऊंगा। मुझे जवाब देनेकी आवश्यकता किस लिए हो? मेरे तो चौबीसो घंटे श्रीकृष्ण भगवान्‌को समर्पित है। वही मेरी रक्षा करते है और दासानुदास श्रीकृष्ण भगवान्‌से मै सदा प्रार्थना करता हू कि 'हे कृष्ण, मेरी ओरसे जो जवाब देना हो, वह तू ही जाकर दे आ।'

प्रश्न—आपने खिलाफतकी लडाई जी-जानसे लड़ी। उसी प्रकार आज हिंदू-सगठनके लिए क्यों नही जुट जाते?

उत्तर—खिलाफतके लिए प्राण अर्पण करनेकी मेरी प्रतिज्ञा थी। परधर्मीके लिए जो कुछ भी हो सका, मैंने किया। मै मानता था और अब भी मानता हू कि मेरी इस सेवासे गोरक्षा होगी। आप पूछेंगे कि गोरक्षा हुई? गोरक्षण नही हुआ; पर इससे मुझे क्या! मै तो प्रयत्नका अधिकारी था। फलके अधिकारी तो श्रीकृष्ण भगवान् हैं। भगवान्‌ने कहा कि मुहम्मद अलीसे मिल, शौकत अलीसे मिल, उनके साथ काम कर। मैने वही किया। उन्हें जितनी मदद दी जा सकी, दी। इस कामके लिए मुझे जरा भी पछतावा नही है। फिर ऐसा प्रसग

आवे तो मैं यही करूंगा। गीता-भागवत आदि धर्म-ग्रंथ मुझे यही सिखलाते हैं। लोग मेरी निन्दा करें, मेरा अपमान करें, इसके उत्तरमें मैं भी उनकी निंदा और अपमान करनेवाला नहीं। मैं तो वही करूंगा जो करनेका तुलसीदासजीने उपदेश दिया है, यानी तपश्चर्या। मेरी प्रकृति ही ऐसी बनी है। मुझसे दूसरा क्या होगा? गीताजीने कहा है न कि सब जीव अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चलते है, निग्रह क्या करेगा? इसलिए मुझे तो तपश्चर्या करनी रही। जब मुसलमानोंके दिलमें खुदा बसेंगे और जब एक दिन ऐसा आवेगा कि हिंदुओंके समान वे भी गोरक्षा करेंगे, मै भविष्यवाणी करता हूं कि तब आप कहेंगे कि यह गोरक्षा पुराने जमानेके किसी गाधी नामके पागलकी आभारी है।

मै नही मानता कि आजके जैसी तबलीग या शुद्धि या धर्म-परिवर्तन करनेकी आज्ञा इस्लाम या हिंदूधर्म या ईसाईधर्ममें है। तब मैं शुद्धिमें किस प्रकार हाथ बटा सकता हू? तुलसीदास और गीता तो मुझे सिखलाते हैं कि जब तुम्हारे ऊपर या तुम्हारे धर्मपर हमला हो तो तुम आत्म-शुद्धि कर लेना। और जो पिंडमे है वह ब्रह्याडमे। आत्मशुद्धि—तपश्चर्या करनेका मेरा प्रयत्न चौबीसो घटे चल रहा है। पार्वतीके नसीबमें अशुभ लक्षणोवाला पति था। ऐसे लक्षण होनेपर भी शुभकर तो शिवजी ही थे। पार्वतीने उन्हे तपोबलसे पाया। सकटके समयमें ऐसा ही तप हिंदू-धर्म सिखलाता है। इसी धर्मज्ञानका साक्षी हिमालय है, वही हिमालय, जिसके ऊपर हिंदूधर्मकी रक्षाके लिए लाखो ऋषि-मुनियोंने अपने शरीर गला डाले है। वेद कुछ कागजपर लिखे अक्षर नही है। वेद तो अतर्यामी है और अतर्यामीने मुझे बतलाया है कि यम-नियमादिका पालन कर और कृष्णका नाम ले। मै विनयके साथ परतु सत्यतासे कहता हूं कि हिंदूधर्मकी सेवा, हिंदूधर्मकी रक्षाके सिवा मेरी दूसरी प्रवृत्ति नही। हा, उसे करनेकी मेरी रीति भले ही निराली हो।

प्रश्न—आज जो पैसा आपको मिलता है, उसे देनेवाले अधिकांशमें विलायती कपड़ोंके ही व्यापारी हैं और आपको वे जो पैसा देते हैं, वह आपके प्रेमके कारण देते हैं, खादीके प्रेमके कारण नहीं। क्या आप यह जानते हैं ?

उत्तर—प्रेमसे मुझे एक पैसा भी नही चाहिए। मैं चाहता हूं कि मेरे कामको समझकर लोग मुझे पैसा दे। प्रेमसे आप मुझे दूसरी वस्तु दे सकते है, प्रेमसे आप मुझे अपने विलायती कपड़े दे सकते हैं, पर पैसा नही चाहिए। सच्ची बात तो यह है कि व्यापारी लोग मुझे पैसा देते हैं तो यह समझकर कि मेरा व्यापार जमे तो उससे उनकी या देशकी हानि नही है। वे जानते हैं कि अंतमें उन्हें खादीका ही व्यापार करना पड़ेगा। वे इसे खूब समझते है; परंतु उनमें आज निश्चय-बल नही है। यह बल उन्हे मिले, इसके लिए वे मुझे ईश्वरसे प्रार्थना करनेको कहते हैं। इस बीचमें वे धन देकर इस प्रवृतिका पोषण करते है। वे मुझे फुसलानेको धन नहीं देते।

प्रश्न—केवल खादीका ही काम करके आप दूसरे ऐसे ही महत्त्वपूर्ण या इससे भी अधिक महत्त्वके राजनैतिक कामोंकी ओरसे लापरवाह क्यों है ?

उत्तर—मैं कह चुका हूं कि मेरा कार्यक्षेत्र मर्यादित है। दुर्योधनने भी अपने योद्धाओंकी मर्यादाका वर्णन किया था। 'यथाभागमवस्थिता', सभीको अपने-अपने स्थानपर रहनेको और अपने स्थानपर रहकर भीष्मकी रक्षा करनेको कहा था। गीताका वर्णाश्रमधर्म यही कहता है। वह सबको अपनी-अपनी मर्यादा समझनेको कहता है। हिंदुस्तानको अगर मुझसे काम लेना हो तो उसे मेरी मर्यादा समझनी होगी। यह भले ही संभव हो कि मैं दूसरे काम भले प्रकार कर सकूं, पर उन्हें दूसरे लोग करते है। खादीका काम, जिसे मैं परम कर्त्तव्य मानता हूं, यहीं विश्वास

होनेके कारण कर रहा हूं कि उसे मेरे जैसा कोई न करेगा। मुझे सत्याग्रह पसंद है, मुझे वह करना है, परंतु उसके लिए अनुकूल वातावरण कहा है? खादीसे वह मुझे पैदा करना है। सत्याग्रह तो मेरी प्राणवायुके समान है, परंतु उसे खादीके बिना अशक्य मानता हूं।

प्रश्न—जरा यह तो बतलाइयेगा कि इस दौरेमें आपको मुसलमानोसे कितनी प्रत्यक्ष सहायता मिली है?

उत्तर—यह बात सच्ची है कि आज मुसलमान खादीके काममें मेरी नहींके बराबर ही मदद कर रहे हैं; पर इससे क्या हुआ? मैं अपनी स्त्री या भाई के साथ कुछ व्यापार नही करता। घरमें उनके साथ मैं यह सौदा करता ही नही कि तुम यह करो तो मै वह करू। उसी प्रकार मुसलमान भाइयोंके साथ या पडितजी या केलकरके साथ अदला-बदलीका सौदा करना नही चाहता। मुसलमानसे हम किसलिए डरें? परमेश्वरसे क्यों न डरें? मनुष्यसे डरना न चाहिए, मनुष्यसे धोखा खानेका भय ही नही रखना चाहिए। ईश्वरके ऊपर विश्वास रखकर कि लोग धोखा देंगे तो भी ईश्वर देख लेगा, स्वधर्म करना चाहिए।

३ मार्च १९२१

: ६ :

भगवद्गीता अथवा अनासक्तियोग

गीता पढते, विचारते और उसका अनुसरण करते हुए अब मुझे चालीस सालसे ज्यादा हो चुके है। मित्रोने यह इच्छा प्रकट की थी कि मै जनताको बताऊँ कि मैंने गीताको किस रूपमें समझा है, फलतः मैंने अनुवाद शुरू

किया ।[1] विद्वानकी दृष्टिसे देखने बैठूं तो अनुवाद करनेकी मेरी अपनी योग्यता कुछ भी नहीं ठहरती। हां, आचरण करनेवालेकी दृष्टिसे ठीक-ठीक मानी जा सकती है। यह अनुवाद अब छपा है। बहुतेरी गीताओंके साथ संस्कृत भी होती है। इसमें जान-बूझ कर संस्कृत नहीं रखी। संस्कृत सब जानें, समझें तो मुझे अच्छा लगे; लेकिन सब संस्कृत कभी जानेंगे नहीं और संस्कृतके तो अनेक सस्ते संस्करण मिल सकते हैं। इसलिए संस्कृत छोड़ कर आकार और कीमत बचानेका निश्चय किया। अतएव १८ सफोंकी प्रस्तावना और १६१ सफोंके अनुवाद वाला जेबी संस्करण छपवाया है। इसकी क़ीमत दो आना रखी है। मेरा लोभ तो यह है कि हरएक हिन्दी भाषा-भाषी इस गीताको पढ़े, विचारे और वैसा आचरण करे। इसके विचारका सरल उपाय यह है कि संस्कृतका ख्याल किए बिना ही इसके अर्थको समझनेका प्रयत्न किया जाय और फिर तदनुसार आचरण किया जाय। मसलन् जो यह कहते हैं कि गीता तो अपने-पराएका भेद रखे बिना दुष्टोंका संहार करनेकी शिक्षा देती है, उन्हें अपने-दुष्ट माता-पिता या अन्य प्रियजनोंका संहार शुरू कर देना चाहिए। पर वे वैसा तो कर नहीं सकते। तो फिर जहां संहारका जिक्र आता है, वहां उसका कोई दूसरा अर्थ होना संभव है, यह बात पाठकोंको सहज ही सूझेगी। अपने-पराएके बीच भेद न रखनेकी बात तो गीताके पन्ने-पन्नेमें आती है। पर यह कैसे हो सकता है ? यों सोचते-सोचते हम इस निश्चय-पर पहुंचेंगे कि अनासक्तिपूर्वक सब काम करना ही गीताकी प्रधान ध्वनि है; क्योंकि पहले ही अध्यायमें अर्जुनके सामने अपने-पराएका झगड़ा खड़ा होता है। गीताके प्रत्येक अध्यायमें यह बताया गया है कि ऐसा भेद मिथ्या और हानिकारक है। गीताको मैंने अनासक्तियोगका नाम दिया

[1] जो 'अनासक्तियोग' नाम से इस पुस्तक में अन्यत्र छपा है।

है। यह क्या है, कैसे सिद्ध हो सकता है, अनासक्तिके लक्षण क्या हैं, आदि तमाम बातोंका जवाब इस पुस्तकमें है। गीताका अनुसरण करते हुए मैं इस युद्धको प्रारंभ किए बिना न रह सका। एक मित्रके शब्दोंमें, मेरे मन यह युद्ध धर्मयुद्ध है। और ठीक इस आखिरी फैसलेके मौक़ेपर इस पुस्तक का प्रकाशित होना मेरे लिए शुभ शकुन है।

२२ मई १९३०

: १० :

गीता-जयंती

पूना से 'केसरी' वाले श्री जी वी. केतकर लिखते हैं :

"इस वर्ष गीता-जयंती शुक्रवार २२ दिसबरको पडती है। जो प्रार्थना मै कई सालसे आपसे करता आया हू वही इस बार भी दुहराता हूं कि आप 'हरिजन'मे गीता और गीता-जयतीपर लिखे। एक बात और भी पिछले वर्ष कही थी, वह फिरसे कहता हू। गीतापर आपके अपने व्याख्यानोमें एक जगह कहा है कि जिन्हे ७०० श्लोकोकी पूरी गीताका पारायण करनेका अवकाश नही उनके लिए दूसरा और तीसरा अध्याय पढ़ लेना काफी है। आपने यह भी कहा है कि इन दो अध्यायोंका भी सार किया जा सकता है। सभव हो तो आप समझाइए कि आप दूसरे और तीसरे अध्यायको क्यों आधारभूत मानते हे ? मैंने भी दूसरे और तीसरे अध्यायके श्लोक गीता-बीजके रूपमें प्रकाशित करके यही विचार जनताके सामने रखनेका प्रयत्न किया है। अवश्य ही आपके इस विषयपर लिखनेका प्रभाव अधिक पड़ेगा।"

अबतक मैंने श्री केतकरकी बात नही मानी थी। मैं नहीं जानता कि

जिस उद्देश्यसे ये जयंतियां मनाई जाती है वह इस तरह पूरा होता है। आध्यात्मिक विषयोंमें विज्ञापनके साधारण साधनोंका स्थान नहीं होता। आध्यात्मिक वस्तुओंका उत्तम विज्ञापन तो उनके अनुरूप कर्म ही होता है। मेरा विश्वास है कि सभी आध्यात्मिक ग्रंथोंका प्रभाव दो बातें होनेसे पड़ता है। एक तो यह कि उनमें लेखकोंके अनुभवोंका सच्चा इतिहास हो और दूसरे उनके भक्तोंका जीवन यथासंभव उनके उपदेशकोंके अनुसार रहा हो। इस प्रकार ग्रंथकार अपने ग्रंथोमें प्राण-सचार करते हैं और अनुयायी उनके अनुसार आचरण करके उनका पोषण करते है। मेरी सम्मतिमें करोड़ोंपर गीता, तुलसीकृत रामायण आदि पुस्तकोंके प्रभावका यही रहस्य है। श्री केतकरके आग्रहको माननेमें मै यह आशा रखता हूं कि आगामी जयंती-उत्सवमें भाग लेनेवाले उचित भावनासे प्रेरित होंगे और गीताके पवित्र संदेशके अनुसार अपना जीवन बनानेका दृढ निश्चय करेंगे। मैंने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि यह संदेश आसक्ति छोड़कर स्वधर्म पालन करना ही है। मेरा यह मत रहा है कि गीताका मुख्य विषय दूसरे अध्यायमें है और उसके अनुसार आचरण करनेकी विधि तीसरे अध्यायमें बताई गई है। ऐसा कहनेका यह अर्थ नही है कि दूसरे अध्यायोंकी महिमा कम है। वास्तवमें एक अध्यायका अपना महत्त्व अलग ही है। विनोबाने गीताको 'गीताई' अर्थात् 'गीता माता' कहकर पुकारा है। उन्होने उसका बहुत ही सरल और ओजस्वी मराठीमें पद्यानुवाद किया है। उसका छद भी वही रखा है जो मूल सस्कृतमें है। हजारोके लिए गीता ही सच्ची माता है; क्योंकि वह कठिनाइयोंमें सान्त्वना-रूपी पौष्टिक दूध देती है। मैंने उसे अपना आध्यात्मिक कोष कहा है; क्योंकि दुःख में मैं उससे कभी निराश नही हुआ हूं। इसके अतिरिक्त, यह ऐसी पुस्तक है जिसमें साम्प्रदायिकता और धार्मिक अधिकारवादका नाम भी नहीं है। यह मनुष्य-मात्रको प्रेरणा देती है। मैं गीताको क्लिष्ट पुस्तक नही मानता।

निःसंदेह पंडितोंके तो जो चीज भी हाथ पड़ जाय उसीमें वे गहनता देख लेते है; परन्तु मेरी सम्मतिमें साधारण बुद्धिके मनुष्यको भी गीताके सरल संदेशको समझ लेनेमें कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इसकी संस्कृत तो अत्यन्त सरल है। मैने गीताके कई अंग्रेजी अनुवाद पढ़े हैं, परन्तु एडविन आरनॉल्डके छंदानुवादकी तुलनाका एक भी नही है। इसका नाम भी उन्होंने 'स्वर्गीय गीत' बहुत सुदर और उपयुक्त रखा है।

११ दिसंबर ३६

: ११ :

गीता और रामायण

बहुतेरे नौजवान कोशिश करते हुए भी पापसे बच नही पाते जिससे वे हिम्मत खो बैठते है और फिर दिन-दिन पापकी गहराईमें उतरते जाते है। बहुतेरे तो बादमें पाप हीको पुण्य भी मानने लगते है। ऐसोंको मैं बहुत बार सलाह देता हूं कि वे गीताजी और रामायणका बार-बार अध्ययन और मनन करें; लेकिन वे इस बातमें दिलचस्पी नही लेते। इसी तरहके नौजवानोंकी दिलजमईके लिए, उन्हें धीरज बधानेकी गरजसे, एक नौजवानके पत्रका कुछ हिस्सा, जो इस विषयसे संबध रखता है, नीचे देता हू :

"मन साधारणतः स्वस्थ है; किंतु जब कुछ दिनों तक मन बिलकुल स्वस्थ रह चुकता है और खुद इस बातका खयाल हो आता है तो फिरसे पछाड़ खानी ही पड़ती है। विकार इतने जबर्दस्त बन जाते है कि उनका विरोध करनेमें बुद्धिमानी नही मालूम पड़ती; लेकिन ऐसे समय प्रार्थना,

गीता-पाठ और तुलसी-रामायणसे बड़ी मदद मिलती है। रामायणको एक बार पढ़ चुका हूं, दुबारा सतीकी कथा तक आ पहुंचा हूं। एक समय था, जब रामायणका नाम सुनते ही जी घबराता था, लेकिन आज तो उसके पन्ने-पन्नेमें रस पा रहा हूं। एक ही पृष्ठको पांच-पांच बार पढ़ता हूं, फिर भी दिल ऊबता नहीं। कागभुशुण्डजीकी जिस कथाके कारण मेरे दिलमें तुलसी-रामायणके प्रति घृणा पैदा हो गई थी और वह बुरी लगती थी, वही आज सबसे अच्छी मालूम होती है। उसमें मैं गीताके ११वें अध्यायसे भी ज्यादा काव्य देख रहा हूं। दो-चार साल पहले आधे दिलसे स्वच्छता पानेकी कोशिश करनेपर भी उसे न पाकर जो निराशा पैदा होती थी, आज उस निराशाका पता भी नहीं है, उलटे मनमें विचार आता है कि जो विकास अनंत काल बाद होनेवाला है, उसे आज ही पा लेनेका हठ करना कितनी मूर्खता है! सारे दिनमें कातते समय और रामायणका अभ्यास करते समय आराम मिलता है।"

इस पत्रके लेखकमें जितनी निराशा और जितना अविश्वास था, शायद ही किसी दूसरे नौजवानमें उतनी निराशा और उतना अविश्वास हो। दोनोंने उसके शरीरमें घर कर लिया था; लेकिन आज उसमें जिस श्रद्धाका उदय हुआ है, उससे सब नवयुवकोंमें आशाका संचार होना चाहिए। जो लोग अपनी इंद्रियोंको जीत सके हैं उनके अनुभवपर भरोसा करके लगनके साथ रामायण आदिका अभ्यास करनेवालेका दिल पिघले बिना रह ही नहीं सकता। मामूली विषयोंके अभ्यासके लिए भी जब हमें अक्सर बरसों तक मेहनत करनी पड़ती है, कई तरकीबोंसे काम लेना पड़ता है तो फिर जिस विषयमें सारी जिंदगीकी और उसके बादकी शान्तिका भी प्रश्न छिपा हुआ है, उस विषयके अभ्यासके लिए हममें कितनी लगन होनी चाहिए? तिसपर भी जो लोग थोड़ेमें थोड़ा समय और ध्यान देकर रामायण तथा गीतामेंसे रसपान करनेकी आशा रखते

है, उनके लिए क्या कहा जाय ?

ऊपरके पत्रमें लिखा है कि पत्र-लेखकको जैसे ही अपने तन्दुरुस्त होनेका खयाल आता है, विकार फिरसे चढ़ दौड़ते है। जो बात शरीरके लिए है, वही मनके लिए भी है। जिसका शरीर बिलकुल चगा है, उसे अपने अच्छेपनका खयाल कभी आता ही नही, न उसकी कोई जरूरत ही है, क्योंकि तदुरुस्ती तो शरीरका स्वभाव है। यही बात मनको भी लागू होती है। जिस दिन मनकी तदुरुस्तीका खयाल आवे, समझलें कि विकार पास आकर झाक रहे है। अत मनको हमेशा स्वस्थ बनाए रखनेका एकमात्र उपाय उसे हमेशा अच्छे विचारोमें लगाए रखना ही है। इसी कारण रामनाम आदि के जपकी बातकी शोध हुई और वे गाए गए। जिसके हृदयमे हर घडी रामका निवास हो, उसपर विकारोंका हमला होही नही सकता। सच तो यह है कि जो शुद्ध बुद्धिसे रामनामका जप करता है, समय पाकर रामनाम उसके हृदयमे घर कर लेता है। इस तरह हृदय प्रवेश होनेके बाद रामनाम उस मनुष्यके लिए एक अभेद्य किला बन जाता है। बुराई बुराईका खयाल करते रहनेसे नही मिटती। हा, अच्छाईका विचार करनेसे बुराई जरूर मिट जाती है; लेकिन बहुत बार देखा गया है कि लोग सच्ची नीयतसे उलटी तरकीबें काममे लाते है। 'यह कैसे आई, कहासे आई ?'—वगैरह विचार करनेसे बुराईका ध्यान बढता जाता है। बुराईको मेटनेका यह उपाय हिंसक कहा जा सकता है। इसका सच्चा उपाय तो बुराईसे असहयोग करना है। जब बुराई हमपर आक्रमण करे तो उससे 'भाग जाना' कहनेकी कोई जरूरत नही। हमे तो यह समझ लेना चाहिए कि बुराई नामकी कोई चीज है ही नही और हमेशा स्वच्छताका, अच्छाईका विचार करते रहना चाहिए। 'भाग जा' कहनेमें डरका भाव है। उसका विचार तक न करनेमें निडरता है। हमें सदा यह विश्वास बढ़ाते रहना चाहिए कि बुराई मुझे छू तक नही सकती।

अनुभव द्वारा यह सब सिद्ध किया जा सकता है।

१८ अप्रैल १९२६

: १२ :

राष्ट्रीय शालाओंमें गीता

एक संवाददाता पूछते है कि क्या राष्ट्रीय शालाओंमें हिन्दू और अहिन्दू सब बालकोंको गीता अनिवार्य रूपमें सिखाई जा सकती है ? दो साल पहले जब मैं मैसूरमें सफर कर रहा था, मुझे यह दु:खके साथ कहना पड़ा था कि एक हाईस्कूलके हिन्दू बालक गीतासे परिचित न थे। इस तरह गीताके प्रति मेरा पक्षपात स्पष्ट है। मै तो चाहता हूं कि गीता न केवल राष्ट्रीय शालाओंमें ही, बल्कि प्रत्येक शिक्षा-संस्थामे पढ़ाई जाय। एक हिन्दू बालक या बालिका के लिए गीताका न जानना शर्मकी बात होनी चाहिए। मगर अनिवार्यताके बारेमें मेरा आग्रह कम हो जाता है, खासकर राष्ट्रीय शालाओके संबधमें। यह सच है कि गीता विश्व-धर्मकी एक पुस्तक है, फिर भी यह एक दावा है, जो किसी पर लादा नही जा सकता। संभव है, कोई ईसाई, मुसलमान या पारसी इस दावेका विरोध करे और बाइबिल, कुरान या अवेस्ताके बारेमें ऐसाही दावा पेश करे। मुझे भय है कि हिन्दू कहे जाने वालोके लिए भी गीताकी शिक्षा अनिवार्य नही बनाई जा सकती है। कई सिख और जैन अपने आपको हिन्दू मानते हैं, मगर संभव है, वे अपने बालक-बालिकाओंको अनिवार्य रूपसे गीताके पढ़ाए जानेका विरोध करें। साम्प्रदायिक या जातीय शालाओंकी बात ही दूसरी होगी। मसलन्, एक वैष्णवशालाके लिए गीताको धार्मिक शिक्षाका अंग बनाना मेरी रायमें बिलकुल उचित होगा। प्रत्येक स्वतंत्र

शालाको हक़ है कि वह अपनी पढ़ाईका क्रम स्वयं निश्चित करे। मगर एक राष्ट्रीय शालाको तो स्पष्ट मर्यादाओंमें रहकर काम करना पड़ता है। जहां अधिकार या हक़में दस्तंदाजी नही होती वहां अनिवार्यताका भी प्रश्न नही उठता। एक खानगी पाठशालामें प्रवेश करनेका कोई दावा नहीं कर सकता, मगर यह मानी हुई बात है कि राष्ट्रके प्रत्येक सदस्यको राष्ट्रीय शालामें जानेका अधिकार है। अतएव एक जगह जो बात प्रवेशकी शर्त मानी जायगी, वही दूसरी जगह अनिवार्य न होगी। बाहरी दबावसे गीता कभी विश्व-व्यापिनी नहीं होगी। वह विश्व-व्यापिनी तो तभी होगी, जब उसके प्रशसक उसे जबर्दस्ती दूसरोंके गले न उतारकर स्वय अपने जीवनद्वारा उसकी शिक्षाओंको मूर्तरूप देंगे।

१८ मार्च १९२९

: १३ :

अहिंसा परमोधर्मः

कैनन शेप्पर्ड और दूसरे सच्चे और उत्साही ईसाई इग्लैंडमें युद्धोंके खिलाफ आदोलन कर रहे है। दिल्लीके 'स्टेट्समैन' ने चार लेख लिखकर इस आंदोलनकी बेहद निंदा की है। इस पत्रने अपने पक्ष-समर्थनमें भगवद्गीताको भी घसीटा है :

"असलमें, क्रिश्चियानिटीकी वास्तविक किन्तु कठिन शिक्षा यही मालूम पडती है कि समाजको अपने शत्रुओसे लडना चाहिए, पर साथ ही, उनसे प्रेम भी करना चाहिए।

"मिस्टर गाधी भी इस बातपर खास तौरसे ध्यान दें कि गीताकी भी साफ-साफ यही शिक्षा है। कृष्णने अर्जुनसे कहा है कि विजय उसे ही

मिलती है, जो पूर्णतया निर्भय और निर्वैर होकर लड़ता है। सचमुच, इस महाकाव्यके द्वितीय अध्यायने एक विवेकशील युद्धविरोधी तथा एक सच्चे योद्धाके बीच, सर्वोच्च भूमिकापर सोचनेपर भी, सारा विवाद खत्म कर दिया है। स्थानाभावके कारण, हम उसमेंसे अधिक उद्धरण तो नहीं दे सकते; पर वह सारा काव्य (गीता) एक बार नही, बारबार पढ़नेकी चीज है।" . . . .

इन लेखोंका लेखक शायद यह नही जानता कि आतंकवादियोंने भी इन्ही श्लोकोंका हवाला दिया है। सच्ची बात तो यह है कि निर्विकार चित्तसे पढ़नेपर मुझे तो भगवद्गीतामें इस लेखकने जो अर्थ लगाया है उससे ठीक विपरीत अर्थ मिला है। वह भूल जाता है कि पश्चिमके युद्ध-विरोधी जिस अर्थमें विवेकशील कहे जाते है, वैसा अर्जुन नही था। अर्जुन तो युद्धका हिमायती था। कौरवोकी सेनासे पहले वह कई बार लोहा ले चुका था। उसके हाथ-पैर तो तब ढीले पड़ गए, जब उसने दोनो सेनाओंको युद्धके लिए तैयार देखा और उनमें अपने प्यारे-से-प्यारे स्वजनो तथा पूज्य गुरुजनोको पाया। न तो वहा मानवताके प्रति प्रेम था और न युद्धके प्रति घृणा ही थी, जिससे प्रेरित होकर अर्जुनने कृष्णसे वे प्रश्न पूछे थे और कृष्ण भी ऐसी परिस्थितिमें दूसरा कोई उत्तर दे ही नही सकते थे। महाभारत तो रत्नोकी एक खान है, जिनमेसे गीता केवल एक किन्तु सबसे अधिक देदीप्यमान रत्न है। लिखा है कि उस युद्धमे लाखो योद्धा एकत्र हुए थे और दोनो तरफसे अवर्णनीय अमानुषिकताए बरती गई थी। इन लाखोंकी सेनामें से केवल सातको जीवित रखकर तथा उन्हें वह निःसार विजय प्रदान करके इस महाकाव्यके अमर कविने तो युद्धकी निरर्थकता ही सिद्ध की है; किंतु युद्धको केवल एक मूर्खतापूर्ण और धोखेकी चीज सिद्ध करनेके अलावा भी, महाभारत एक उससे भी ऊचा संदेश हमें देता है। मनुष्यको अगर एक अमर प्राणी समझा जाय तो महाभारत उसका

एक आध्यात्मिक इतिहास है और इसके वर्णनमें एक ऐतिहासिक घटना-का उसने उपयोगमात्र किया है, जो तत्कालीन छोटे-से जगत्के लिए तो बडी महत्त्वपूर्ण थी, पर आजकलकी दुनियाके लिए कोई भी महत्त्व नही रखती। अनेक आधुनिक आविष्कारोंके कारण आज तो यह सारा ससार हथेलीपर रखे हुए आवलेके समान मालूम होने लगा है। उसके किसी एक कोनेमें घटी हुई घटनाका असर दूर-दूर तक सारे संसारमें फैल जाता है। यह बात उस समय नहीं थी। हमारे हृदयोमें जो दिन-रात सत् और असत्के बीच सनातन संघर्ष चल रहा है, महाभारतकार उसे इस कथानक द्वारा एक अमर काव्यके रूपमें हमारे सामने प्रस्तुत करता है। वह बताता है कि यद्यपि अंतमें तो सत्य हीकी विजय होती है, तो भी असत् किस तरह सशक्त होकर अत्यन्त विवेकशील पुरुषको भी 'किंकर्तव्य-विमूढ' बना देता है। महाभारत सदाचारका एकमात्र मार्ग भी हमें बताता है।

लेकिन भगवद्गीताका वास्तविक सदेश जो कुछ भी हो, शांतिस्थापन आंदोलनके नेताओंके लिए तो गीताकी शिक्षा नही, बाइबिलकी शिक्षा महत्त्व रखती है, क्योंकि उसीको उन्होने अपना आध्यात्मिक मार्ग-दर्शक बना रखा है। फिर बाइबिलका भी तो कई तरहसे अर्थ लगाया जाता है। उन्हें बाइबिलका वह अर्थ स्वीकार नहीं है, जो साधारणतया ईसाई धर्माधिकारी लगाते है। उन्हे तो वह अर्थ मजूर है, जो इसके श्रद्धायुक्त अन्तःकरणसे पढनेपर मालूम होता है। असलमें, सबसे महत्त्वपूर्ण चीज तो है युद्धविरोधियोका अहिंसा अर्थात् प्रेम-धर्मविषयक ज्ञान। अहिंसाका अर्थ बहुत व्यापक है। अंग्रेजीका 'नान-वायलेन्स' शब्द उसके लिए बिलकुल अपर्याप्त है। 'स्टेट्समैन' के ये लेख युद्ध-विरोधियोंके लिए एक खासी चुनौती ही है। मुझे दुःख है, इस आंदोलनके विषयमें मुझे पूरी जानकारी नहीं है। युद्ध-विरोधियोंके नजदीक भले ही मेरे विचारोंका विशेष महत्त्व

न हो, पर जहांतक मुझे भीतरी बातोंका पता है, कुछ लोग तो जरूर उसका खयाल करेंगे, क्योंकि वे भी अक्सर मुझसे पत्र-व्यवहार करते हैं और अब तो वे एक क़दम और आगे बढ़ गए हे; क्योंकि उन्होंने रिचर्ड ग्रेगकी "अहिंसा-महिमा" नामक पुस्तक को लगभग अपनी पाठ्य-पुस्तक बना लिया है। लेखक (श्री ग्रेग) के शब्दोंमें वह पुस्तक अहिंसाके दावेका, जैसा कि मैं उसे समझा हूं, पाश्चात्य संसारकी भाषामें प्रतिपादन है। इसलिए बग़ैर किसी प्रकारकी दलील वग़ैरा दिए, अगर मैं यहां अहिंसाकी सफलताकी कुछ शर्तें तथा अप्रकट अर्थ लिख दू तो शायद धृष्टता न होगी।

१—अहिंसा परमश्रेष्ठ मानव-धर्म है, पशुबलसे वह अनंत गुना महान् और उच्च है।

२—अततोगत्वा वह उन लोगोंको कोई लाभ नहीं पहुंचा सकती, जिनकी उस प्रेमरूपी परमेश्वरमें सजीव श्रद्धा नही है।

३—मनुष्यके स्वाभिमान और सम्मान-भावनाकी वह सबसे बड़ी रक्षक है। हां, वह मनुष्यकी चल-अचल सम्पत्तिकी हमेशा रक्षा करनेका आश्वासन नही देती, हालाकि अगर मनुष्य उसका अभ्यास कर ले तो शस्त्रधारियोंकी सेनाओंकी अपेक्षा वह इसकी अधिक अच्छी तरह रक्षा कर सकती है। यह तो स्पष्ट है कि अन्यायसे अर्जित सम्पत्ति तथा दुराचारकी रक्षामें वह जरा भी सहायक नही हो सकती।

४—जो व्यक्ति और राष्ट्र अहिंसाका अवलबन करना चाहें, उन्हें आत्म-सम्मानको छोड़कर, अपना सर्वस्व (राष्ट्रोंको तो एक-एक आदमी) गवानेके लिए तैयार रहना चाहिए। इसलिए वह दूसरेके मुल्कोंको हड़पने अर्थात्, आधुनिक साम्राज्यवादसे, जो कि अपनी रक्षाके लिए पशुबलपर निर्भर रहता है, बिलकुल मेल नही खा सकता।

५—अहिंसा एक ऐसी शक्ति है, जिसका सहारा बालक, युवा, वृद्धा, स्त्री-पुरुष सब ले सकते हैं, बशर्तेकि उनकी उस करुणामयमें तथा मनुष्य-

मात्रमें सजीव श्रद्धा हो। जब हम अहिंसाको अपना जीवन-सिद्धान्त बना लें तो वह हमारे संपूर्ण जीवनमें व्याप्त होना चाहिए। यों कभी-कभी उसे पकड़ने और छोड़नेसे लाभ नहीं हो सकता।

६—यह समझना एक जबर्दस्त भूल है कि अहिंसा केवल व्यक्तियों के लिए ही लाभदायक है, जन-समूहके लिए नहीं। जितना वह व्यक्ति के लिए धर्म है उतना ही वह राष्ट्रोंके लिए भी धर्म है।

५ सितंबर १९३६

: १४ :

गीताजी

मेरे लिए तो गीता जीवित मां है, कामधेनु है। गीताका नित्य वाचन नीरस लगता है; क्योंकि उसका मनन नहीं होता। हमें रोज रास्ता दिखाने वाली माता है, ऐसा समझकर पढ़ें तो नीरस नहीं लगेगी। हर रोजके पाठके बाद एक मिनटके लिए उसपर विचार कर लें। रोज ही कुछ-न-कुछ नया मिलेगा। हां, संपूर्ण मनुष्यको उसमें से कुछ नहीं मिलेगा। पर जिससे नित्य कोई दोष हो जाते हों उसे उबारनेवाली यह गीतामाता है, यह समझ कर नित्य-पाठसे थके नहीं।

तुम्हें गीताके सतत अभ्याससे सब चिंताओंसे मुक्त रहना सीखना है। हम सबकी फिक्र रखनेवाला ईश्वर बैठा है। तब यह बोझा व्यर्थ ही हम क्यों ढोते फिरें? हमें तो अपने हिस्से आया हुआ काम करते रहना है।

ज्यों-ज्यों श्रद्धा बढ़ेगी त्यों-त्यों बुद्धि बढ़ेगी। गीता तो यह सिखाती मालूम देती है कि बुद्धियोग ईश्वर कराता है। श्रद्धा बढ़ाना हमारा कर्त्तव्य है। यहां श्रद्धा और बुद्धिका अर्थ समझना रहता है। यह

समझ भी व्याख्या करनेसे नहीं आती; बल्कि सच्ची नम्रताका विकास करनेसे आती है। जो यह मानता है कि वह सब कुछ जानता है वह कुछ नही जानता। जो मानता है कि वह कुछ नहीं जानता उसे यथासमय ज्ञान प्राप्त हो जाता है। भरे हुए घड़ेमें गंगाजल ईश्वर भी नहीं भर सकता। इसलिए हमें तो ईश्वरके सामने रोज़ खाली हाथ ही खड़े होना है। हमारा अपरिग्रहव्रत भी यही बताता है।

गीताजी जो धर्म सिखाती है उसे समझो और उसके अनुसार अपना आचरण रखो।



गीता का मध्यबिन्दु क्या है, उसका निश्चय कर लेना। फिर प्रत्येक श्लोक का अर्थ, जो अपने जीवन में उपयोगी है, उसको आचार में रखना। यह सबसे बड़ी टीका है और यही गीताका सच्चा अभ्यास है। गीता-का मध्यबिन्दु अनासक्ति ही है, इसमें थोड़ा भी शक नहीं होना चाहिए। दूसरे किसी कारणसे गीता नही लिखी गई, उसमें कुछ मुझे भी शंका नही है। और मैं तो यह अनुभवसे जानता हूं कि बगैर अनासक्तिके न मनुष्य सत्य का पालन कर सकता है, न अहिंसाका। अनासक्त होना कठिन है, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन उसमें आश्चर्य क्या है? सत्य-नारायणका दर्शन करनेमें परिश्रम तो होना ही चाहिए और बगैर अना-सक्तिके यह दर्शन अशक्य है।

'महादेवभाईनी डायरी',
भाग २, पृष्ठ १६१
३१ अक्तूबर १९३२



गीताके मुख्य सिद्धान्तसे असंगत कोई बात चाहे जहां भी लिखी

हुई हो, मेरा मन उसे शास्त्र नहीं मानता। मेरे रूढ़िग्रस्त मित्रोंको आघात न लगे तो मैं अपना अर्थ और अधिक स्पष्ट करना चाहता हूं। सदाचारके विश्वमान्य मूलतत्त्वोंसे असंगत किसी भी चीजको मैं शास्त्रप्रामाण्यमें नहीं मानता। शास्त्रोंका उद्देश्य इन मूलतत्त्वोंको उखाड़ फेंकना नहीं, वरन् इन्हें टिकाए रखना है। और गीता मेरे लिए सम्पूर्ण है, इसका कारण यह है कि वह इन मूलतत्त्वोंका समर्थन करती है। इतना ही नहीं, बल्कि वह किसी भी मूल्यपर इनसे चिपके रहनेके लिए अचूक कारण बताती है।

महादेवभाईनी डायरी,
भाग २, पृष्ठ ४६०
१७ नवंबर १६३२



इसलिए भगवद्गीतामें एक ही जगह, जहां 'शास्त्र' शब्द आता है, वहां मैंने उसका अर्थ यह नहीं किया कि गीताके सिवा कोई अन्य ग्रंथ या विधिवाक्य, बल्कि इसका अर्थ किसी जीवित प्रमाणभूत व्यक्तिमें मूर्तिमान होनेवाला सदाचार है।

महादेवभाईनी डायरी,
भाग २, पृष्ठ ४६१
१७ नवम्बर १६३२



गीताजीके तीसरे अध्यायका पांचवां श्लोक बहुत ही चमत्कारिक है। भौतिकशास्त्री बता चुके हैं कि इसमें बताया हुआ सिद्धान्त सर्वव्यापक है। इसका अर्थ यह है कि कोई भी आदमी एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कर्मका अर्थ है गति और यह नियम जड़-चेतन सबके लिए लागू है। मनुष्य इस नियमपर निष्काम भावसे चलता है तो यही

उसका ज्ञान और यही उसकी विशेषता है। इसीकी पूर्तिमें ईशोपनिषद्के दो मंत्र हैं। वे भी इतने ही चमत्कारी हैं।

महादेवभाईनी डायरी
पहला भाग, पृष्ठ ३७४
२३ अगस्त १९३२

आश्रमकी एक बहनने लिखा है—"गीताकी बजाय अन्य पुस्तकें पढ़ना मुझे ज्यादा अच्छा लगता है।"

तूने तो ऐसी बात लिखी कि मुझे पकौड़ियां खाना अच्छा लगता है और रोटी अच्छी नही लगती। किन्तु जिसका शरीर ऐसा हो जाय, वह रोगी माना जायगा। निरोगीका पेट पकौड़ियोंसे कभी भर नही सकता। वह तो रोटी ही मांगेगा। इसी तरह गीताको समझ। अन्तर्पट खुलनेपर तो गीता अच्छी लगेगी ही। जबतक गीता अच्छी नही लगती तबतक यह समझना चाहिए कि कुछ कच्चापन है; लेकिन इसमें मुझ रसोइयेका भी दोष तो है ही। मैंने जो गीता भेजी वह कच्ची थी, इसलिए तुझे पची नही। अब क्या हो?

गीता कंठ करनेमें स्मरणशक्तिका काम है जो सरल है। गीताका अर्थ समझनेमें बुद्धिका काम है। यह कठिन है। इससे तुम्हें रस नही मिलता, किन्तु जब बुद्धिके काममें रस मिलने लगेगा तब अर्थ समझनेकी इच्छा जागेगी। इसलिए बुद्धिके विषयोंमें रस लेने लगो।

मुझे तो ऐसा ही लगता है कि मनुष्य कर्म करता हुआ ही सच्ची और शाश्वत चित्तशुद्धिको साध सकेगा।

कर्म किये बिना किसीको सिद्धि नहीं मिली।
जो कर्म आसक्ति बिना नहीं ही हो सकते हों, वे सब त्याज्य हैं

जिस प्रकार आलस्य त्याज्य है, उसी प्रकार अति परिश्रम त्याज्य है। 'समत्वं योग उच्यते' मनमें रमता ही रहता है।

"तू जो कुछ भी करे, वह मुझे अर्पित करके मेरे निमित्त करना।"
"भक्ति करोगे तो ज्ञान तो प्राप्त होकर ही रहेगा।"
"निष्काम होकर कर्म करो।"

गीतामाताने इसका उत्तर तो दिया ही है कि हमें पाप करनेके लिए कौन प्रेरित करता है। काम और क्रोध हमसे पाप करवाते है। अपने पिछले स्मरणोंसे तुम सब इस बातको अनुभव कर सकोगे।

चि० धीरू,[1]

तेरा पत्र मिला। नया वर्ष तुझे फले और तू और अच्छा सेवक बने। गीता तूने कठ कर ली, अब उसे हृदयमें उतार। ऐसा करनेके लिए तुझे उसके अर्थ समझने चाहिए। 'अनासक्तियोग'की प्रस्तावना दस-बीस बार पढ जा और फिर अर्थ समझनेकी कोशिश कर। उसे समझनेके लिए सस्कृतका अभ्यास बढ़ा। जैसे भी बने वैसे इसे पूरा कर। नये वर्षका यही तेरा व्रत हो !

२३ अप्रेल १९३१ बापूके आशीर्वाद

---

[1] श्री धीरेन गांधीके नाम पत्र

हम लोग जब कभी बीमार पड़ते हैं, साधारणतया उसके पीछे न केवल आहार-संबंधी त्रुटि ही होती है, अपितु हमारे मस्तिष्कका ठीक-ठीक काम न करना भी होता है। गीताकारने स्पष्टतः इस चीजको देखा और साफ़-साफ़ भाषामें संस्कारको इसकी रामबाण औषधि बताया। इसलिए जब कभी कोई चीज तुम्हारे मस्तिष्कको हैरान करती हो तो तुम्हें गीताकी मुख्य शिक्षापर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और अपने बोझको उतार फेंकना चाहिए।

'बापूज लैटर्स टू मीरा'
४ दिसम्बर १९३०



"बिना उपवासके प्रार्थना संभव नहीं"—यह कथन पूर्णतया सत्य है। यहां उपवासको व्यापक अर्थमें लेना चाहिए। शरीरके उपवासके साथ-साथ सभी इंद्रियोका उपवास होना आवश्यक है। और गीतामें वर्णित 'अल्पाहार' भी शरीरका उपवास है। गीता भोजन-निग्रहका आदेश नही देती, बल्कि अल्पाहारके लिए कहती है। अल्पाहार सदा चलनेवाला उपवास है। अल्पताका अर्थ है कि केवल उतना ही भोजन किया जाय, जितना शरीरको उस सेवाके लिए कायम रखनेको पर्याप्त हो, जिसके करनेके लिए उसका निर्माण हुआ है। इसकी कसौटी पुनः इस कथनमें मिलती है कि जिस प्रकार स्वादके लिए नही, बल्कि शरीरकी नीरोगताके लिए नपीतुली मात्रामें और निश्चित समयपर औषधिका सेवन किया जाता है, उसी प्रकार आहार भी किया जाय। 'नपी-तुली मात्रा'में 'अल्पता'का भाव शायद अधिक अच्छी तरहसे आ जाता है आरनॉल्डका रूपान्तर मुझे स्मरण नही है। पूरा भोजन लेना ईश्वर और मानवके प्रति पाप है। मानवके प्रति इसलिए कि पूरा भोजन करके हम अपने पड़ौसियोंको उनके भागसे वंचित करते हैं। भगवानकी

अर्थ-व्यवस्थामें केवल औषधिक मात्रामें प्रतिदिन सबको भोजन लेनेकी गुंजाइश है। हम सब-के-सब पूरा भोजन लेनेवाली जातिके लोग हैं। अन्तःप्रवृत्तिसे यह जान लेना कि औषधिक मात्रा क्या है, भगीरथ काम है; क्योंकि मां-बापका शिक्षण हमें ऐसा मिलता है कि हम पेटू बन जाते हैं। तब जब हम अभ्यस्त हो जाते हैं, हमें पता चलता है कि भोजनका उपयोग स्वादके लिए नहीं, बल्कि अपने दासके रूपमें अपने शरीरको कायम रखनेके लिए होना चाहिए। उस घड़ीसे आनंद-के लिए भोजन करनेके पैतृक और स्व-अर्जित स्वभावके विरुद्ध घम-सान शुरू हो जाता है। इसलिए कभी-कभी पूर्ण उपवास और सदैव आंशिक उपवास करनेकी आवश्यकता होती है। आंशिक उपवासका अर्थ अल्पाहार अथवा गीताके अनुसार नपा-तुला भोजन लेना है। इस प्रकार 'उपवासके बिना प्रार्थना संभव नहीं' यह कथन वैज्ञानिक है और इसकी सचाईकी परीक्षा प्रयोग और अनुभवके द्वारा की जा सकती है।

'बापूज लैटर्स-टू मीरा'
२६ जनवरी १९३३



मैं गीता-माताके संदेशको हृदयमें धारण करूंगा। वह विलक्षण माता है। मेरा खयाल है, तुम जानती हो कि वह माता कहलाती है। गीताका अर्थ है गेय। वह शब्द विशेषणके रूपमें 'उपनिषद्'के साथ प्रयुक्त होता है, जो स्त्रीलिंग है। गीता कामधेनुकी भांति है, जो सम्पूर्ण इच्छाओंकी पूर्त्ति करती है। इसीलिए वह माता कहलाती है। अपने आध्यात्मिक जीवनको कायम रखनेके लिए हमें जितने दूधकी आवश्यकता है उसके लिए अगर हम याचक दुधमुहे बच्चेकी तरह मांग करें तो वह अमर माता हमें सम्पूर्ण दूध दे देती है। उसमें अपने

लाखों बच्चोंको अपने अजस्र थनोंसे दूध देनेकी क्षमता है।
'बापूज लैटर्स टू मीरा'
२४ फरवरी १९३३



गीताधर्मका अनुयायी प्रसन्नतापूर्वक बिना चीजोंके काम चलाना सीखता है। गीताकी भाषामें इसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं, कारण कि गीतामें वर्णित सुख और दुःख समान हैं। स्थितप्रज्ञकी अवस्था सुखदुःखसे ऊंची है। गीताका भक्त न सुखी होता है, न दुखी। और जब ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है तब पीड़ा, आनंद, विजय, पराजय, च्युति, प्राप्ति किसीकी भी अनुभूति नहीं होती।
'बापूज लेटर्स टू मीरा'
४ मार्च १९३३

दिनांक	लेने वाले के हस्ताक्षर	वापसी का दिनांक